

साहित्यक निबन्ध



डॉ. कृष्णलाल हंस

साहित्यिक निबन्ध

२६०६

डॉ. कृष्णशास्त्र 'हंस'



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

माराणगी-१

SANTYIK MIRARDI : Dr. Kishorlal Home
LITERARY ESSAYS

१३२३

	प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पी भाग नं ७ गिाचमोहन बाघमनी-१ ● मुद्रक जगता प्रेस कालिफ्टर बाघमनी-१
साक्षरता प्रथम २१ मूल्य	बाघरत मनोरजन वाजिमाल ५ ४ ७५ म प

साहित्यिक निबन्ध

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रंथ में लखनऊ के साहित्यिक निबन्ध संग्रहीत हैं। इन निबन्धों के निर्वाचन में हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास एवं समय-समय पर प्रस्तुति होनावासी इसकी शान्तापी का ध्यान रखा गया है। पत्रिकात्मक स्वरूप साहित्य की सभी विधाएँ और उनके अंतर्गत सभी प्रमुख प्रवृत्तियों को इन निबन्धों में स्थान मिला गया है। ग्रंथ में सङ्कलित निबन्धों को हम सैद्धांतिक ऐतिहासिक प्रतिक्रमिक भ्रामिष्वजक एवं विरमेषकारक निबन्धों में विभाजित कर सकते हैं। इस विभाजन के अनुसार साहित्य का स्वरूप और महत्व वाक्य आदि निबन्धों को सैद्धांतिक दिग्दर्शक का उद्गम और विकास हिन्दी एकांकी स्वरूप और विकास आदि निबन्धों को ऐतिहासिक व्यापारिक वाक्य-साहित्य दिग्दर्शक वाक्य में रहस्यवाह आदि निबन्धों को प्रवृत्तिगत निगुण उपासना का उद्गम और विकास मूष्योमत्र का प्राकृतिक आदि निबन्धों को भ्रामिष्वजक तथा कबोर का सामना पद्य हिन्दी का मूली वाक्य-साहित्य, विद्यापति का वाक्य-नैसर्ग आदि निबन्धों को विरमेषकारक कह सकते हैं। संकलन के प्रायः सभी निबन्ध समोच्चारक हैं। इस प्रकार इस संकलन में उन सभी विषयों को स्थान देना का प्रयत्न किया गया है जिसमें परिचित होना एक उच्च जाति के साहित्यानुष्ठा के लिए आवश्यक है। मरा विरहास है पर पद्य विभिन्न भारतीय विरवविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए जो उन योग्य मिला होगी।

संकलन के समस्त निबन्ध, मेरा उन विषयों में संबंधित अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इनके सतत में मेरा 'धनना' जितना है इसका निदान मैं विद्वान् पाठकों पर छोड़ता हूँ। यदि वेदा यह निबन्ध-अपरा साहित्य विज्ञानियों को 'बुद्ध' है मरा जो मैं धनना प्रयत्न करने समर्थता। मैं इस समस्त विद्वान् मेगलों का अनुगृहीत हूँ जिसकी कृतियों में मुझे इस संकलन के निबन्धों के लिखने में सहायता मिली है।

शासकाय महाविद्यालय

देरास (म० प०)

कारिक पूर्णिमा (मं २०१० दि)

विशेष

वन्दनाल हृद



विषयानुक्रमिका

	विषय	पृ. सं.
✓	हिन्दो का उद्भव और विकास	१
→	सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ६३	१३०
✓	साहित्य का उद्भव और महत्व	२३५
✓	काव्य एक विश्लेषण ६५	३४
✓	निम्न उपासना का उद्भव और विकास ७१	४५
✓	बबोर का सामना-पद्य ६२	११
✓	सूफीमत का प्रादुर्भाव	६७
✓	हिन्दी का सूफी काव्य-साहित्य	७४
✓	बायसो का पद्यावत	८५
✓	उच्च उपासना का उद्भव और विकास ६२	६२
✓	विद्यापति का काव्य-बिम्ब	१०५
✓	गूर का भक्ति मार्ग ६५, ६६	११५
✓	गूर-साहित्य में शैक्षिक-भावना	१२६
✓	गूर-काव्य-श्लेष	१३६
✓	गुप्त-काव्य-बिम्ब ६२	१४४
✓	रीतिबानीय हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि	१६३
✓	बिहारी की काव्य-साधना	१७३
✓	बीर काव्य की परम्परा	१८३
✓	हिन्दी-साहित्य में मधुसूदनम्	१६१
✓	हिन्दी-मठ का उद्भव और विकास	२२
✓	हिन्दी भाष्य-साहित्य का उद्भव और विकास	२२२
✓	महादेव के माटवा का बलिष्ठम्	२३६
✓	हिन्दी एकांकी स्वरूप और विकास	२४६
✓	अल्पज्ञ स्वरूप और विकास	२५४
✓	मानव पर एक दृष्टि	२६४
✓	समुद्र का स्वरूप और विकास	२७३
✓	समाज का स्वरूप और विकास	२८१
✓	विद्यया स्वरूप और विकास	२८३

	विषय	पृष्ठ
२६	सायानाथी काव्य-साहित्य	१२
२७	हिन्दी काव्य में रहस्यवाद	१११
२८	हिन्दी का प्रमथिष दो काव्य-साहित्य	१२४
२९	हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रयोगवाद	११७
३०	हिन्दी काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय मापनाका विकास	१३२
३१	नवयुग-काव्य-साहित्य की तीन विभूतियाँ ७२	१११
३२	हिन्दी-साहित्य में यथावकाश	१७६
३३	समाजवादी यथावकाश	१८६
३४	नई कविता ८५ ✓	१६६

हिन्दी का उद्गम और विकास

भारतीय आर्य भाषाएँ

काल-क्रम के अनुसार भारतीय आर्य भाषाएँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं —

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल — अधिकतर भाषाशास्त्रियों ने यह काल सन् ईस्वी के १५०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पूर्व तक माना है। प्रत्यक्ष काल में इन भाषाओं के बोझ रहे हैं। इनमें से एक रूप को सोमनाथों की धीरे धीरे रूप को साहित्यभाषी कहा जा सकता है। उस समय की जगता बोलचाल में किन्हीं प्रकार की भाषा का प्रयोग करती थी यह कहना प्रमाणाओं के अभाव में सम्भव नहीं है। पर उत्पत्ती की साहित्य भाषी का रूप हम आज भी साग्रह में देख सकते हैं। साग्रह भाषी का प्राचीनतम रूप है जिसकी रचना सन् ईस्वी के एक सत्रहवें वर्ष से भी अधिक पहिले की गई थी। जिस भाषा में इस रूप की रचना की गई है, वह 'संस्कृत' भाषा कही गई है जिसे हम वैदिक संस्कृत भी कह सकते हैं। साग्रह की भाषा से यह स्पष्ट है कि पूरा संस्कृत की रचना किसी एक ही काल में नहीं हुई है। पूरा संस्कृत में भाषा की एकता नहीं है। उदाहरणार्थ हम संस्कृत के इन्द्र मंडल को भाषा संस्कृत की भाषा से विभक्त है। हम मंडल में हमें 'रु' के स्थान में 'सु' का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार पूरा मंडलों में जहाँ 'ह' का प्रयोग है वहाँ हम मंडल में 'हु' का प्रयोग मिलता है।

आर्य भाषा मध्यम वर्ग में आकर बने धीरे धीरे उग्रोने ली। साग्रह का रचना साग्रह की पर इनके परवान् उनके धारो बाने का कर बनता रहा धीरे इनके भाषा ही हम संस्कृत के दोर भाग को रचना भी होगे रही। इन प्रकार काल में वे धनी भाषा को गुणवत्ता में एक गये। धनी के मंडल में उनके मूल रूप में परिवर्तन हुआ रहा। हमें 'संस्कृत मंडल' में 'सु' के स्थानों का प्रयोग पुरीरिध अधिक मिलता है जिसका कारण भाषा परिवर्तन ही कहा जा सकता है। 'सु' के स्थानों की रचना के परवान् भी यह परिवर्तन का एक कारण ही रहा। धनी की मूल भाषा के धीरे धीरे मूल होने पर धीरे उनका स्थान बनेम धीरे धीरे बनने लगे। साग्रह धनी धीरे मूल रूपों की रचना 'संस्कृत मंडल' के परवान् ही धीरे इनके परवान् धनीरिधों की रचना हुई। धीरे हम साग्रह के उद्गम का एक ही भाषा का साग्रह मूलकालक इति से करें तो रचना धीरे काल परिवर्तन के साथ वैदिक भाषा में होनेवाला

इसके परिवर्तन स्पष्ट रूप से हमारे सामने प्रा सकता है। इसी परिवर्तन न माने बनकर संस्कृत भाषा को जन्म दिया।

संस्कृत शब्द से ही जान पड़ता है कि इस भाषा के अस्तित्व में आने के पूर्व कोई ऐसी भाषा या भाषाएँ प्रचलन में जिनका संस्कार कर संस्कृत का रूप सेवारा गया था। हमें 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग सबसे प्रथम 'पाणिनीय शिखा' में मिलता है। यह नामकरण पाणिनि ने सन् ईस्वी के सत्रसप्तम पाँच सौ बर पूर्व किया था। ऋग्वेद काल से मूल काल तक प्राचीन लोकाभाषा में ही नहीं पर साहित्यिक भाषा में भी बहुत परिवर्तन ही गया था। यद्यपि पाणिनि ने 'संस्कृत' शब्द की रचना कर इसका रूप स्थिर कर दिया। यही रूप 'संस्कृत' के नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि ने 'संस्कृत' शब्द की रचना कर जिन भाषा के रूप को व्यवस्था और सुविकरता प्रदान की उसे 'संस्कृत' शब्द-प्रधान भाषा' कहा है। इनके ऐसा जान पड़ता है कि पाणिनि ने लोक-प्रधान विभिन्न भाषाओं में सामंजस्य स्थापित कर संस्कृत भाषा का निर्माण किया था। इन लोकाभाषा में शब्द-रचना तो होने लगी पर इनके व्याकरण के नियमों से धाराबद्ध होने से इनके विकास का माग प्रकट हो गया जब कि प्रायः लोकभाषाएँ स्वच्छन्द पथ से विकास करती रही थीं।

२. मध्यभारतीय भाषा काळ—यह काल सन् ईस्वी के पाँच सौ बर पूर्व से १००० ई० तक माना जाता है। पाली प्राकृत और अपभ्रंश इस काल की प्रायः भाषाएँ हैं।

पाली

पाणिनि-प्रणीत संस्कृत का प्रयोग शब्द-रचना और विद्वज्जनों तक ही माना जाता था। जनता की भाषा इनके अलग थी। इसी समय भारत में बौद्ध धर्म का प्रायः प्रथम प्रसार हुआ। अशोक के पुत्र अशोक ने अपने नाम प्रचार के लिए जनता की भाषा को मान्य बनाया। उनके अनुयायियों ने भी बुद्ध-शैली में जनभाषा में ही धर्म प्रचार आरम्भ किया। बरिलाम-संस्कृत जब भाषा परिष्कार और परिष्करण होने लगी और एक दिन साहित्यिक भाषा बन गई। यही भाषा 'पाली' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के प्रचार (प्रचार) और 'हीनयान' शाखा के प्रचारण प्रयोगों की रचना इस भाषा में हुई है। इसी भाषा में मूल विदितिक वर 'संस्कृत' 'विदितिक मन्त्र' 'दीर्घमन्त्र' आदि की रचना भी हुई। पीरे-पीरे बौद्ध धर्म के मातृ भाषा का प्रचार लंबा समय बना भीत आदि देसों में भी हो गया और बनी भी इस भाषा में व्यवस्था होने लगी।

इस विषय में जानने के माध्यमों तथा ईशावी के कुछ लक्षण देकर इन लक्षणों की भाषा बता है और इनकी यही के लक्षणों में वर्णना तथा धर्म पर ईशावी का

प्रभाव बढ़ता रहता था । किन्तु ठाकुरिया 'महामान' शाखा का केन्द्र या जिसका त्रिपिटक संस्कृत में लिखित था 'पाणी में हीनयान' का त्रिपिटक था ।

प्राकृत भाषाएँ

पासी शोध काम का आरम्भ पाकर साहित्यिक भाषा बन गई थी पर इस समय भी भारत के विभिन्न भागों में कुछ जन-भाषाएँ प्रचलित थीं । उत्तरी भारत में जो माकभाषा प्रचलित थी वह 'उरोष्य मध्यदेश की भाषा 'मध्यदेशीय' और पूर्वी भारत की लोकभाषा प्राच्य कहलाती थी । ये ही लोक भाषाएँ आगे चलकर 'प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुए । इनमें से प्राच्य प्राकृत को अशोक के समयकाल में 'उद्यम भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ । अशोक की अनेक स्थातों में खूबवाई गई उम्पाभाएँ इसी भाषा में हैं पर कुछ धर्मशास्त्रों वहाँ की स्थानीय भाषाओं में भी मिलती हैं । तथा अथुर बँटव की धर्मशास्त्र प्राच्य में गिरनार की धर्मशास्त्रा शीतपत्री में और शाहबाजपट्टी की धर्मशास्त्रा उरोष्य में हैं ।

प्राकृतों का जन्म और विकास

ऊपर जिन तीन प्रकार की भाषाओं का उल्लेख किया गया है वे विभिन्न भाषों में बोली जानेवाली लोक-प्रचलित भाषाएँ थीं । ये जनता-द्वारा स्वाभाविक (प्राकृतिक) रूप में बोली जाने के कारण प्राकृत कहलाई और अपने क्रमिक विकास के साथ साहित्यिक प्राकृत बन गई । साहित्यिक रूप प्राप्त होने पर इनका विकास पाँच रूपों में हुआ— शौरसेनी प्राकृत, मानवी प्राकृत, अम्बलापयी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत और पँराची प्राकृत । प्राकृत के ये रूप स्थान विशेष के लक्षण हैं । इनमें महाराष्ट्री प्राकृत सबसे अधिक समृद्ध भाषा थी । प्राकृत साहित्य का एक बड़ा भाग इसी प्राकृत में उपलब्ध है । इस प्राकृत का राष्ट्र के अधिवासी नाम पर प्रभाव था 'सम्भवतः' इनीतिष्ठ इमे महाराष्ट्री प्राकृत की संज्ञा की गई थी । आचार्य बँटी ने 'महाराष्ट्राध्याय भाषा प्रकृत प्राच्य किनु बहुर इमे सर्वोत्कृष्ट प्राकृत बहू है । भाषाशास्त्रियों ने सन् १५०० व २००६० तक साहित्यिक प्राकृतों का समय माना है ।

शौरसेनी प्राकृत

जैसा कि नाम में ही स्पष्ट है यह मुरमन प्रदेश अथवा मध्यदेश की भाषा थी । यह भारत के उन भू-खंड को भाषा थी जहाँ बँटिक भाषा संस्कृत और पाणी के समा । साहित्य-किनुमा भाषाओं का विकास हुआ था । साहित्यिक प्राकृतों में यह प्राचीनतम है । मुरवा के अन्तर्गत में इनका रूप मात्र कुछ प्राचीन भाषाओं में ही देगा या लक्ष्य है । अथवायोर भाग वाणिज्य धारि भाषाकारों के मध्यमदेशीय भाषा की यह भाषा है । इनके अतिरिक्त कुछ जन-द्वारा में भी इनका विभिन्न साहित्य मुरमन है । यह मुरमन भाषा के अतिरिक्त है ।

२. मागधी प्राकृत—यह मगध और उसके निकटवर्ती पूर्वी भाग की भाषा थी। इसी का प्राचीन रूप पाप्ती के नाम से प्रचलित था। प्रतोकलासीन पूर्वी और उत्तरी भारत के स्थानों पर इसी भाषा में धीकृत है। संस्कृत के 'मुञ्चकटिक' नाटक में इसका रूप देखा जा सकता है। संस्कृत के नाटककार ने निम्न श्रेणी के पात्रों में इसी भाषा का प्रयोग किया है।

३. अर्धमागधी प्राकृत—यह शूरसेन और मगध प्रदेश के मध्य भाग की भाषा थी। इसमें शौरसेनी और मागधी दोनों के अण्ड छापसम्बन्ध हैं पर इसकी प्रकृति की शौरसेनी की धीर ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। कुछ विद्वानों ने इस ही भाषा को 'मगधी' कहा है। मगधान बुद्ध ने मागधी में धीर प्रवचन महावीर ने अर्धमागधी में ही अपना उपदेश किया था।

४. महाराष्ट्री प्राकृत—जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है साहित्यिक प्राकृतों में महा-राष्ट्री प्राकृत ही सर्वाधिक विकसित भाषा थी। भाषा सप्तगुणी वज्रासम्बन्ध राखकरही महकबहो कुमारपाल अरिष्ट धारि धर्मों की रचना इसी भाषा में हुई है। यह धारम्भ से ही पद्य की भाषा रही है, जिससे इसमें काव्य-धर्मों का ही निर्माण हुआ है। डा. मनमोहन पोष महाराष्ट्री को शौरसेनी की उत्तरकासीन शाखा मानते हैं। चाहे जो भी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि पाँचवीं और छठवीं शती में महाराष्ट्री साहित्य से यह महान् राष्ट्र प्रभावित था।

इस भाषा की प्रमुख विशेषता—इसमें स्वर मध्यम व्यंजनों क् ख घ ङ के स्थान पर केवल प्राञ्जल ध्वनि हं का रूप रह जाता है। इसका यही क्पांतर इसे शौरसेनी से पृथक् करता है। इन प्राकृत के दक्षिण में पहुँचने पर यह वहाँ की लोक-भाषाओं से प्रभावित हुई और परिणाम स्वरूप इनमें एक नया रूप बरक कर लिया जो मराठी के नाम से प्रसिद्ध है। इसे इन शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की भाषा भी कह सकते हैं।

५. वैशाची—बाणभट्ट ने इनै विद्याओं अथवा भूतों की भाषा कहा है इसीलिए यह भूतभाषा अथवा भूत-भाषित भी नहीं मर्दा है। बरबधि शौरसेनी को वैशाची का भूत कहते हैं। इनके मठानुसार यह एक इविड भाषा थी। इन प्राकृत का प्रमुख अर्थ अरिष्टनात्तर सीमाप्रदेश जिसमें वैशाची है, समझा जाता है। गुणार्थ की मृग्य नया (दृष्ट कहा) इसी भाषा में लिगी मर्दा थी आ अथ अण्ड है। इसके मण्डन क्पांतर भाष नया अरिष्टापर (सोमदेव) अर्थात् मंत्ररी (सेमैन्ड) धारि के रूप में देने जा सकते हैं। गुणार्थ प्रतिष्ठान के राजा शानिचार्थ के धारिध बालाके बाते हैं। इनका समय सन् ७० ई के लगभग है। हमीर वर मगध और 'माह्ययज कान्य' धारि भाषों के कुछ पाठ वैशाची बोलते दिनाए पर है।

अपभ्रंश भाषाएँ (सन् ६०० ई० से १२०० ई० तक)

जिस प्रकार पाण्डित ने संस्कृत की व्याकरण के कठोर नियमों में बाध कर उसका स्वाभाविक विकास अवश्य कर दिया था उसी प्रकार प्राकृतों के व्याकरण बनाने पर इनका विकास भी रुक गया, पर लोकाभाषाओं पर इनका कोई प्रभाव न पड़ा। पार्श्व के समय संस्कृत का व्याकरण बनाने वाले ही शुद्ध संस्कृत बोल सकत थे और सम्पूर्ण-शास्त्र बोलती जानेवाली संस्कृत 'पर्युद्ध संस्कृत' समझी जाती थी। इसी प्रकार समझी जाने वाली संस्कृत ने धीरे धीरे प्राकृत का रूप ग्रहण किया था। यही स्थिति प्राकृत के व्याकरण बनाने पर भी उत्पन्न हो गई। प्राकृत के व्याकरण उत्पत्ती की लोक-भाषाओं के प्रभाव को ध्यान में रखकर ही संस्कृत में विकसित होती गई। प्राकृत के व्याकरणों की दृष्टि में वे सामान्य वर्ण-शास्त्र बोलती जानेवाली बोमियाँ पर्युद्ध समझी जाती थीं अतः वे इन्हें 'अपभ्रंश' कहने लगे।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग संभवतः प्राकृत व्याकरण खंड में सबसे पहले पाठकों शब्दों में अपने अर्थ प्राकृत 'सकलम्' में किया है। पाषाण भाषा में भी अपने 'बाष्पा संसार' अर्थ में इत संस्कृत और प्राकृत के साथ स्थान दिया है। हमने यह स्पष्ट है कि पाठकी शब्दों में कोई भाषा ऐसी प्रकरण की जिसे अपभ्रंश कहा जाता था। इनका ही शब्द तक अन्तः विकास होता गया और उसे स्वान विभक्तियों के साथ रूप विभक्तियों भी प्राप्त होती गई। प्यारहवीं शब्दों में प्राकृत व्याकरण पुरपोत्तम में इसे सम्पूर्ण की भाषा कहा है। इससे मान्य होता है कि इस समय तक इसे साहित्यिक भाषा प्राप्त होती ही गई थी। इनके परचात् ही पाषाण हमअर्थ न इन भाषा का व्याकरण बना कर इसे कुछ निश्चित नियमों में बाध कर दिया था।

हमें सबसे पहले भारत के राष्ट्र शासन में अपभ्रंश का रूप मिलना है पर वह प्राकृत के इतना अधिक प्रभावित है कि हम उस अपभ्रंश का प्राकृतिक रूप मात्र कह सकते हैं। इसका स्पष्ट रूप हमें बालिदान के विद्यमोक्षीय नाटक की कुछ पंक्तियों में ही मिलना है। पाषाण बंदी में अपभ्रंश को 'आभीरविन्द' कहा है। हमने पाठकी शब्दों में इसका अर्थों की भाषा ज्ञान प्रमाणित होता है। अन्तर्गत है कुछ अन्य जानियाँ भी हमें बाली की हैं। हमने ६ टी शब्दों में इन भाषा का अर्थ ज्ञान भाषा ज्ञान माना है।

जब राजतरंग मन्मथि टरंग और भादान्त की अपभ्रंश का उल्लेख है। हमने राजतरंग के समय तक राजतरंग और अन्तर्गत तक अपभ्रंश का विस्तार ज्ञान पटना है।

हिन्दी-उन्मुख अपभ्रंश

पार्श्व और प्राकृत अर्थों के अर्थों में अर्थ है 'उत्पत्ति' अर्थ है। पार्श्व और प्राकृत के अर्थों का अर्थ कर देने तथा अर्थों और अर्थों के अर्थों

में परिवर्तन कर देने से इन दोनों भाषाओं के रूप संस्कृत की तरह हो जाते हैं पर अपभ्रंश के रूपों में इस प्रकार के परिवर्तन कर देने से संस्कृत के रूप नहीं बनते । प्राचीन वैदिक भाषा के रूप में भी जो परिवर्तन धारम्भ हुआ वह क्रमशः बढ़ता हुआ अपभ्रंश कास तक बढ़ता गया कि अपभ्रंश संस्कृत से बहुत दूर की भाषा बन गई । इसी परिवर्तन ने अपभ्रंश को हिन्दी जन्म देने में समर्थ बनाया । भाषा विकास का जो प्रवाह संस्कृत से प्राकृत तक अभिविद्यमान यदि से प्रवाहित होता था रहा था वह अपभ्रंश-काल में अभिविद्यमान होकर एक नई विधा में प्रवाहित होने लगा । इस प्रकार अपभ्रंश का सन् ६०० ई० से १२०० ई० तक जो विकास हुआ उसकी हम जो स्थितियाँ देखते हैं । इन में से प्रथम स्थिति ६०० से लगभग ८०० ई० तक और द्वितीय स्थिति ८०० से १२०० ई० तक की गड़ी जा सकती है । प्रथम स्थिति में अपने विकास के साथ हिन्दी उन्मुख होती गई ।

अपभ्रंश का जन्म भी पानी और प्राकृत से निम्न प्रकृति पर आधारित है । इसने क्रिया विभक्तियों की स्वीकार की पर उत्तम शब्दों के बहुकार की प्रवृत्ति पानी और प्राकृत से ग्रहण की । इसका यह स्वरूप लगभग ८ वीं शताब्दी तक बना रहा । इसके पश्चात् अपभ्रंश (साहित्यिक अपभ्रंश) में भी उत्तम शब्दों के स्तान पर संस्कृत के उत्तम शब्दों का अधिकधिक प्रयोग धारम्भ हो गया । इस नये प्रयोग ने कुछ शताब्दियों के पश्चात् अपभ्रंश विकास हिन्दी में किया । अपभ्रंश में उत्तम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपने का कारण अपभ्रंश के साहित्यकारों का संस्कृत के पंथि होना था । संस्कृत सवरपा मूलरुपा और स्वयम्भू पाठ्यों शताब्दी के अपभ्रंश के साहित्यकार हैं । इनमें से प्रथम तीन बौद्ध चतुर्ध्वज ने पर चारों का संस्कृत पर प्रख्या अधिकार था । वहीं शताब्दी में अपभ्रंश के तेरह कवि दसवीं शताब्दी में सात कवि प्यारहवीं शताब्दी में छ कवि बाह्यवी म २४ कवि और तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के भी हुए । धारम्भ में अपभ्रंश में रचना करनेवाले बौद्ध और जैन कवि ही थे पर धीरे धीरे हिन्दू ही नहीं बल्कि मुसलमान भी अपभ्रंश में साहित्य सृजन करने लगे । बौद्ध कवियों ने अपभ्रंश के मूल रूप को रुचित रखने का प्रयत्न किया किन्तु उनके पश्चात् जैन और हिन्दू कवियों के द्वारा उसके स्वरूप में परिवर्तन धारम्भ हो गया और बीरे-बीरे प्यारहवीं शताब्दी में देगा दिगाई देने लगा कि अपभ्रंश का विकास एक नई भाषा के रूप में होने जा रहा है ।

हिन्दी का जन्म

हिन्दी भारतीय भाषा का रूप है । संस्कृत के न का उच्चारण भारतीय में ह होता है । भारत की उत्तरीय सीमा के समीप से गिरा गरी बहती है । उत्तर में जामे बानों की भारत में प्रवेश करता पड़ता था । अरबी में 'गिर' का उच्चारण 'हिन्द' होने के कारण से इस देश को हिन्द बहने लगे और इस हिन्द देश में बोनी जानेवाली भाषा को पहचाने हिन्दी कहा । अरबी भाषा के अनुसार हिन्दी का अर्थ हिन्द से संबंध रखने वाला होता है, किन्तु बहुत समय तक हिन्दी देश का प्रभाव हिन्द के रहनेवाली

घषवा हिन्द की भाषा' के घष में होता रहा। इस घष में भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ हिन्दी के संनयत भा जाती हैं किन्तु यहाँ हिन्दी से हमारा तात्पर्य प्रायः निम्न भाषाएँ प्रायः भाषा के उम रूप से है जो भारत की एक बहुत बड़ी जनसंख्या के भाग बानी जाती है।

बुद्ध भाषा शास्त्रियों ने हिन्दी का धारण सं० १००० वि० के परबान् ही माना है पर वास्तव में इसका जन्म ७ वीं शताब्दी में ही हुआ गया था। मरहूपा न सं० ६६० के समयमें हिन्दी के प्राचीन रूप में रचना की थी। पुनरुत्पन्न घषवा पुंड्र न थी कि घष-भ्रंश का कवि का संवत् ७७० वि० में एक धर्मकार घष्य को रचना हिन्दी दोहा में की थी। इसके परबान् संवत् ८६० वि० में रचित 'गुमान रामो घष्य विसता है। इसके परबान् संवत् १००० वि० के समयमें हिन्दी मुबाल कवि द्वारा रचित घोम-गुणवद्गीता के अनुबाद का पडा गया है। इसी प्रकार सं० ११६७ वि० में शबेताम्बराधाय जिनकल्पनम गुरि-शाय हिन्दी में 'नबकार' नामक घष्य की रचना, सं० ११८० वि० में ममऊद और वृनुव घमी की रचना सं० ११६१ वि० में मारि बावबरस के द्वारा 'मर्मनमार' घष्य को रचना सं० १२०६ और १२६८ में बोष घकरम फेज द्वारा बगमान नामक घष्य की रचना होने का पना संगता है। घकरम फेज द्वारा संस्करण के 'बुत्तरत-कर' का भी हिन्दी में अनुबाद करने का अनुमान किया जाता है। इसके परबान् ही चन्द्रबगवर्दि का 'पुष्पीराज रामा' हमारे सामने आता है। यद्यपि आज इन घष्यों में से अधिकांश उपस्य नहीं हैं तथापि इन सभी घष्यों को हम धानुमानिक नहीं कह सकते। अनुमान का भी कोई न कोई आधार धरत होना है किर बहु आधार चाहे धूमिप ही नहीं न हा। घषा हमें स्वाकार करता हा पड़ेगा कि मातृगी शताब्दी में ही घषभ्रंश हिन्दी उद्गुग हानो जा रही थी और उम हिन्दी में घष्य-रचना का प्रयत्न भी हो गया था। इसी काल की हिन्दी को हम प्राचीन हिन्दी कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मातृगी शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्राचीन हिन्दी में साहित्य-नबन धारणम हुआ गया था। किसी भी भाषा की साहित्यिक प्रतिष्ठा धरन जीवन के धारणम में ही प्राप्त नहीं होती उम बहु प्रतिष्ठा प्राप्त करने में बुद्ध समय धरत संग आता है। यदि हम यह समय बम-न-कम दो शताब्दी भी मान लें तो हिन्दी भाषा का बम-बाध निरिबध रूप में दोबरी शताब्दी माना जा सकता है।

हिन्दी का उरमापायें

हिन्दी का उर मातृगी है। भारत का एक बड़ा भाग हिन्दी भाषी घष के ही धन्यम है। भारतीय संविधान में जिन घष को हिन्दी भाषी घष सर्वकार किया है वह उम में शिमता में मातृगी के पुरी द्वारा एक उद्गम-परिचय में धम्बान्त एक परिचय में धेयनकेर तक पुर में प्रापनपुर तक दण्डिल-पुर में रामवा तक दण्डिल-परिचय में कर हातपुर तक गया दण्डिल में धिगाबाड़ा बीनुर तक शिगत है। इन भाषों की जनसंख्या

१९६१ की जनगणना के अनुसार लगभग बाढ़ करीब है। डा० प्रियसन ने परिचमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी के क्षेत्र को ही हिन्दी भाषी क्षेत्र के अन्तर्गत स्वीकार किया है, किन्तु इस भाषा के उपर्युक्त विस्तार क्षेत्र को देखते हुए राजस्थानी बिहारी और पहाड़ी भाषाएँ भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। इसी दृष्टि से हिन्दी की उपभाषाएँ मानी जाती चाहिए।

हिन्दी की बोलियाँ

परिचमी हिन्दी पूर्वी हिन्दी राजस्थानी बिहारी और पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की उपभाषाएँ स्वीकार कर लेने पर इन सभी की बोलियाँ हिन्दी की ही बोलियाँ समझे जायेंगी। तदनुसार हिन्दी की बोलियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) परिचमी हिन्दी की बोलियाँ

१. खड़ी बोली—यह मुख्यतः परिचमी खेजूरखंड भाषा के अन्तर्गत तथा अन्धप्रदेश में बोलती है, पर इसका साहित्यिक रूप पूर्वी हिन्दी भाषी भाग में प्रचलित है। बोलचाल की खड़ी बोली में अरबी के अर्धतरलम और उद्भव शब्दों का पर्याप्त व्यवहार होता है। रामपुर मुण्डाबाद बिजनौर मीरठ मुजफ्फरपुर, सहायपुर बेहलपुर अम्बाला और पटियाला में खड़ी बोली ही मुख्य व्यवहार की जाती है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग २३ लाख है।

२. ब्रज भाषा—एक विकास तक ब्रज की साहित्यिक सम्मान प्राप्त रहा है जिससे यह 'भाषा' कहलाती है पर वास्तव में यह परिचमी हिन्दी की एक बोली ही है। यह मधुवा अजमेर बलीमठ बीकानेर गुड़वाँच भरतपुर, करौली और स्वातिपर के परिचमोत्तर भाग में बोलती जाती है। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरपुर बघाव और बीबीगान्ग में भी खड़ी बोली से प्रभावित ब्रज ही बोलती जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है।

३. मुन्देली—यह मुन्देखंड की बोली है, जिसमें भाँठी बानील हमीरपुर मोवात औरंगाबाद और इमोह जयपुर नरसिंहपुर और होशंगाबाद सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त अजमेर ९वाँ और पटिया में ब्रज प्रभावित मुन्देली तथा बालाघाट और चित्तौड़गढ़ के कुछ भाग में मातृभाषी प्रभावित मुन्देली बोली जाती है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग १९ लाख है।

४. पांगरू—यह बिस्नी बनील रोहतास और हिसार जिले में बोलती जानेवाली बोली है। इसके अतिरिक्त पटियाला और नामा के कुछ भागों में यही बोली बोली जाती है। इस बोली पर राजस्थानी और पंजाबी का एक साथ ही प्रभाव देखा जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग २२ लाख है।

फर्रुखी—यह कन्नौज फर्रुखाबाद हरदोई शाहजहाँपुर पोसीभीम इटावा और कानपुर जिले में बोली जाती है । इसके बोलनेवाले की संख्या लगभग ४३ लाख है ।

६. मालवी—डा० प्रियतरन के अनुसार मालवी का स्थान राजस्थानी के अन्तर्गत है पर हम इसके स्वरूप का देखते हुए पश्चिमी हिन्दी के ही अन्तर्गत रखना अधिक उपसंगत मानते हैं । यह मुख्यतः मालवभूमि की बोली है जिसके अन्तर्गत इन्दीर उर्मीर रतमास पार, बैराव आदि जिले हैं । इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग ५ लाख है ।

७. निमाड़ी—यह मुख्यतः निमाड़ के दोनों जिले अर्थात् निमाड़ और अरणोस निमाड़ को भाषा है । पर कुछ निमाड़ी भाषी मध्यप्रदेश के दूसरे भागों में भी रहते हैं । इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग तीन लाख है ।

(ख) पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ

८. अयधी—यह मगध उत्राव रामवरली सीतापुर, सोन, फेजाबाद पीपी बन् राहब प्रतापनरु और बाघबंसे के पश्चिम फर्रुखपुर कानपुर इसाहाबाद मिर्जापुर और बोनपुर जिले के कुछ भाग में भी बोली जाती है । इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग एक करोड़ बयनीय लाख है । इस भाषा के परबान् अयधी में ही हिन्दी का सबसे अधिक साहित्य प्राप्त है ।

९. परेली—यह बघेलखंड की बोली है जिसके अन्तर्गत पूर्वांचल प्रदेश का पश्चिमी भाग है । इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ४६ लाख है ।

१०. छत्तीसगढ़ी—यह मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ भाग की प्रमुख बोली है जिसके अन्तर्गत धामपुर बिमानपुर, रामगढ़ मरगुवा बल्लर और दुग जिला हैं । इनमें से रामगढ़ की छत्तीसगढ़ी उड़िया से और मरगुवा व उत्तर-पश्चिमी भाग की छत्तीसगढ़ी बघेली से प्रभावित है । बल्लर जिले में छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या बहुत कम है । इस जिले की बोली हलबो है जो छत्तीसगढ़ी उड़िया और ठेनगू का एक मिश्रण ही जान पड़ती है । छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या लगभग ३० लाख है ।

(ग) बिहार की बोलियाँ

११. भाङ्गपुरी—यह बाराणसी या बनारस मिर्जापुर बोनपुर गङ्गापुर बलिया भागलपुर बली धारमगढ़ शाहाबाद चम्पारन मगध और छोटा भागलपुर तक जाती जाती है । इसकी बोलनेवालों की संख्या लगभग दो करोड़ है ।

१२. मैथिली—यह प्राचीन मैथिली प्रदेश की भाषा है जिसमें धार व बिहार प्रदेश का उत्तरी भाग है । इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग एक करोड़ है । हिन्दी के मुनिगठ बरि विद्यार्थि ने इसी बोली में काव्य रचना की थी ।

१३. मगही—यह बिहार प्रदेश में संघ के दक्षिणी भाग में बोली जाती है जिसमें मुख्यतः पटना और गया जिले हैं । इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ९३ लाख है ।

(घ) राजस्थानी की बोलियाँ

१४ मारवाड़ी—श० शिवसैन के अनुसार यह पश्चिमी राजस्थानी है, जो जोधपुर बीकानेर बीसलमेर और जयपुर के क्षेत्र में बोली जाती है। प्राचीन हिमाल साहित्य इसी बोली में उपलब्ध है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग १० लाख है।

१५ जयपुरी—यह जयपुर और कोटा-बूंदी के क्षेत्र में बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग १० लाख है।

१६ मेवाती—यह पूरा प्रसन्न राज्य तथा पंजाब के दक्षिणी भाग के प्रांतों में बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। महीरवादी इसकी उपबोली है। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या लगभग १९ लाख है।

(ङ) पहाड़ी बोलियाँ

१७ पश्चिमी पहाड़ी—यह हिमाचल प्रदेश के पश्चिमी भाग की मुख्य बोली है। कश्मीरी, कुर्गुई और चम्बाली इसकी उपबोलियाँ हैं। यह बोली टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती है। चम्बाली की लिपि कुछ समक है। अब यह देवनागरी लिपि में लिखी जा रही है।

१८ मध्य पहाड़ी—इसके अंतर्गत कुमायूनी और नदवाली बोलियाँ हैं। कुमायूनी अम्बोहा-नीमताल के क्षेत्र में और नदवाली नदवाल तथा मसूरी के समीपवर्ती पहाड़ी भाग में बोली जाती है।

१९ पूर्वी पहाड़ी—यह मुख्यतया नेपाल की बोली है। इसे नेपाली भी कहा जाया है।

इन समस्त पहाड़ी बोलियों के बोलनेवालों की संख्या लगभग २८ लाख है। इन भाग की साहित्यिक भाषा वड़ी हिन्दी ही है।

हिन्दी का राष्ट्र-भण्डार

हिन्दी के अनेकानेक संस्कार में हमें चार प्रकार के संस्कार मिलते हैं—संस्कृत के संस्कार भारतीय भाषाओं के संस्कार भारतीय अनेक भाषाओं के संस्कार और विदेशी भाषाओं के संस्कार।

१ संस्कृत के संस्कार

हिन्दी का अधिकांश संस्कार—संस्कार संस्कृत से प्राप्त है। इनमें संस्कृत के अनेकानेक संस्कार अथवा शब्दों का अभाव है। जैसे साहित्यिक हिन्दी में अनेक संस्कार अथवा शब्दों का अभाव है और इन भाषा हिन्दी में अनेकानेक संस्कार अथवा शब्दों का अभाव है। अनेक संस्कृत शब्दों में हिन्दी में अभाव है यथा अनेक संस्कृत शब्दों का अभाव है अथवा अनेक संस्कृत शब्दों का अभाव है अथवा अनेक संस्कृत शब्दों का अभाव है।

हमारा इन्धन इनकार समाप्त बचीत शीतल नसीब की बरतत बकरत मया
मालिक मुकाबला मुनाफ़ा इकीम हिम्मत धारि धरती भाषा से धीर टोप बरोगा
बबर्षी, गलीबा भाऊ उमगा, कतपी धारि तुकी भाषा से धारि हुए खम्ब है ।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १ प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल ।

प्राचीन काल

जैसा कि पूरा कहा जा चुका है हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम की छातनीं शताब्दी से मिलता है, यत प्राचीन काल सातवीं शताब्दी के चौदहवीं शताब्दी तक माना ही उचित होया । इतमें से सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक का यह काल है जिसमें हिन्दी अपभ्रंश से विकसित होकर कन्नडा भाषे बड़ रही वो । इस काल में हमें अधिकतर रचनाएँ बौद्ध और जैन कवियों की मिलती हैं । ये वास्तव में अपभ्रंश के कवि थे, किन्तु इन्होंने धर्म प्रचार के लिये जिस सरलतम अपभ्रंश का प्रयोग अपने काव्य में किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाना चाहिए । इस काल के प्रमुख कवि सरहपा सररपा मुमुक्षुपा स्वर्धू धारि का नाम हम पहिले से चुके हैं । हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये बौद्ध कवि सरहपा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जह मन पवन न सचरइ, रवि शशि नाह प्रधरा ।

तहि पट बिज बिमराम कठ, सरह कहिअ उबेरा ॥

अपभ्रंश के इन बौद्ध और जैन कवियों की अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी-काव्य के कवचत् हमें हिन्दी का विकास 'पारल-काव्य' में मिलता है । बौद्धदेव राधो सुनाम-राधो पुष्पीपत्र राधो जैधर राधो धारहण्ड धारि रचनाएँ इनी काव्य के धर्मगत हैं । यद्यपि इन इन्नों की भाषा की प्रामाणिक के विषय में विद्वानों में मतभेद है तथापि इन इन्नों की काव्य रचना से इस समय के हिन्दी क रूप का कुछ अनुमान धररय किया जा सकता है । उदाहरणार्थ बौद्धदेव राधो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

पुत्रयो फाठइ कौनुवड, पोपरि फाठइ धन का धीर ।

तौयो देव शायो लोकाकी, दुपसो दुई मरइ ईध नाह ।

डावा हाथ को मूँदइ, धावण लागी जीवसा पाँद ।

यद्यपि हिन्दी के धरधी ब्रजभाषा धीर धरा शायी रूप का विकास लगरन मोतहरीं शरी से माना जाता है तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इनके बहुत बहूने क काव्य में ही मिल जाता है । उदाहरणार्थ पुष्पीपत्र राधो की निम्नांकित पंक्तियों में ब्रजभाषा का प्रयोग देखिये—

एकात्म से पद्यद्वय विक्रम साक अनन्त ।

विहिं रिपुजय पुरहरन को भय पूधिराज नरिन्द ॥

यही बोली का विशिष्ट रूप हमें समीर सुमरो की रचनाओं में मिलता है। समीर सुमरो का समय मनु १२११ से १३११ ईस्वी तक माना जाता है। सुमरो की कविता में यही बोली का विशिष्ट रूप देकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का विकास उसी बोली के रूप में सुमरो के पहिल ही प्रारम्भ हो गया था। इन इनकी रचना में ब्रजभाषा का भी प्रयोग देखते हैं। इन इस भाषा के विकास के संबंध में भी बड़ी बात बड़ी का सकती है।

२. मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी से छठारहवीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के समय है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक इतिहास में यह काल साहित्य का 'मध्य काल' कहा जाता है। इसी काल में हिन्दी के धक्की धोर ब्रजभाषा रूपों का विकास विशेष रूप में हुआ। इस काल में विशेष रूप से 'भक्ति साहित्य' की रचना हुई। इस काल में गद्य प्रथम भाषा-रूपी साहित्य हमारे सामने आया है। यह हम गणेशदास के गद्य-कालों द्वारा रचित साहित्य था। इसमें निगुणधारी साहित्य का प्रभाव उठा रहा। इस साहित्य में मुहीन भाषा यही बोली का पारंपरिक रूप ही समझा जाना चाहिए। इनके परभाव संत कवि एवं अन्य उन कवियों के साहित्य के रूप में हिन्दी भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में निगुण धारा के कवियों के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय महात्मा के मत कवि नामदेव ने यही बोली में तथा विद्यापति ने हिन्दी के एक विशिष्ट रूप मैदिनी भाषा में काव्य-रचना की। बहार द्वारा प्रसूत निगुण नाम्य धारा का हिन्दी में विकास ही ही रहा था कि एक दूसरी काव्यधारा का प्रभाव प्रथमार्थी कृती कवियों में बिना। यह काव्यधारा 'प्रथमार्थी काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इन काव्य धारा के प्रथम कवि मुन्ता दाऊ से तथापि इनका संबंध विद्यापति के नाम 'महम्मद शायरी' के "पदुमावन" में ही हुआ। इन धारा के कवियों के काव्य में धक्की का प्रभाव उठा हुआ। निगुण धारा के कवियों में त्रिभुवन का प्रभाव बिना है। यह एक विशिष्ट भाषा है किन्तु उसमें हमें यही बोली का ही रूप प्रभाव उठा है। जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

इसके परभाव हिन्दी का विकास निगुण धारा के साहित्य में विशेष रूप से हुआ। यह प्रथम पद्यकवि मुन्ता 'इष्ट काव्य' को लेकर एक काल प्रथम का नाम हिन्दी काव्य-साहित्य के प्रारम्भ में उचित हुआ। इनके तथा अन्य कृती-काव्य के रचना कवियों ने धारा हिन्दी के ब्रजभाषा-रूप का विकास करके सीमा की

इमारत इग्यत इनकार इसाम इसीत दीतन नसीब फीर बग्यत बग्यत बजा
 यातिक मुवाबना मुताका इझीम हिम्मत घारि धरबी माया से घोर टोप करोता
 बबर्षी, नसीबा बाबू तमया कमनी घारि तुर्की माया से घावे हुए शरर है ।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १ प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल ।

प्राचीन काल

जैसा कि पूर कहा जा चुका है हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम की सातवीं शताब्दी से मिलता है, यत प्राचीन काल सातवीं शताब्दी से बीसहवीं शताब्दी तक मानना ही उचित होगा । इसमें से सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक का वह काल है जिसमें हिन्दी धाराप्रवाह से विकसित होकर क्रमशः माने बढ़ रही थी । इस काल में हमें अभिराम रावणार्ण बौद्ध और जैन कवियों की मिलती है । ये वास्तव में धाराप्रवाह के कवि थे, किन्तु इन्होंने पर्व प्रचार के लिये त्रिष्ट सरलतम धाराप्रवाह का प्रयोग करने काय्य में किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाता चाहिए । इन काल के प्रमुख कवि सरहपा सररपा मुमुक्षुपा स्वर्गभू घारि का नाम हम पहिले ले चुके हैं । हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये बौद्ध कवि सरहपा की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जह मन पवन न संवरइ, रवि शशि माह प्रवेश ।

तहि बट पित विसराम करु, सरहे कहिअ चपेरा ॥

धाराप्रवाह के इन बौद्ध और जैन कवियों को धाराप्रवाह प्रभावित हिन्दी-काव्य के परभाव हमें हिन्दी का विकास 'वारह-काव्य' में मिलता है । शीतलदेव राधो तुवान राधो पृथ्वीराज राधो बीरब राधो प्रालम्बध घारि रावणार्ण इसी काव्य के संतर्गत हैं । यद्यपि इन सबों की भाषा की प्राकृतिक के विषय में विद्वानों में मतभेद है तथापि इन सबों की काव्य रचना से यह समझ के हिन्दी के रूप का कुछ अनुमान धररर किया जा सकता है । उदाहरणार्थ शीतलदेव राधो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

कुखी फाठइ कौमुयड, पोपरि फाठइ धन को पीर ।

बाँयो देव दाधी लोकरुकी, बुबखी हुई मरइ ईम नाह ।

जाबा हाथ को मूँदइइ, कावस लागी जीबखी पाँह ।

यद्यपि हिन्दी के धरबी बजभाषा और लड़ी बोली रूप का विकास सपन्न सोलहवीं शती से माना जाता है, तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इसके बहुत पहिले के काव्य में भी मिल जाता है । उदाहरणार्थ पृथ्वीराज राधो की निम्नांकित पंक्तियों में बजभाषा का प्रयोग देखिये—

एकात्म से पञ्चवह विक्रम साक अनन्त ।

तिहिं रिपुजय पुरहरन को भय पूधिराम नरिन्द ॥

सड़ी बोली का विकसित रूप हमें समीर तुमरो की रचनाओं में मिलता है। समीर तुमरो का समय सन् १२५५ से १३१५ ईस्वी तक माना जाता है। तुमरो की कविता में सड़ी बोली का विकसित रूप देखकर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का विकास सड़ी बोली के रूप में तुमरो के पक्ष में ही प्रारंभ हो गया था। इन इनकी रचना में ब्रजभाषा का भी प्रयोग देखने है। इन इस भाषा के विकास के संबंध में भी कही बात कही जा सकती है।

२. मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का समय मध्य काल के अन्तर्गत है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक इतिहास में यह काल हिन्दी साहित्य का 'मरण कास' कहा जाता है। इसी काल में हिन्दी के सबसे धीरे ब्रजभाषा रूपों का विकसित विशेष रूप से हुआ। इस काल में विशेष रूप से कवि साहित्य की रचना हुई। इस काल में जब प्रथम भाषा-पंथी साहित्य हमारे सामने आया है। यह इन मन्त्रदाय के मुख-भाषों द्वारा रचित साहित्य था। इसमें निर्गुणवादी साहित्य की प्रचलना रही। इस साहित्य में गृहीत भाषा सड़ी बोली का प्रारंभिक रूप ही समझा जाता चाहिए। इनके परभाव सत्र कवि एवं अन्य उन कवियों के साहित्य के रूप में हिन्दी भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण चारा के कवियों के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय महाकाव्य के मत कवि नामदेव ने सड़ी बोली में तथा विद्यापति ने हिन्दी के एक मिश्र रूप मैथिली भाषा में काव्य रचना की। चचार द्वारा प्रसूत निर्गुण काव्य चारा का हिन्दी में विकास हो ही रहा था कि एक दूसरे काव्यपारा का गुणगात्र प्रमनागौरव मूर्ति कवियों ने किया। यह काव्यपारा 'त्रैलोक्य काव्य पारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इन काव्य पारा के प्रथम कवि मुस्ता चारु से तथापि इसका सर्वाधिक विकास मंसफ मन्त्रदाय आदिकों के 'पद्मनाभ' में ही हुआ। इस पारा के कवियों के काव्य में सबसे का प्रथमनीय विकास हुआ। निर्गुण पारा के कवियों ने त्रिग भाषा का प्रयोग किया है, बहुत एक विध भाषा है किन्तु उनमें हमें सड़ी बोली का ही रूप प्रमुखा से मिलता है, जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

इनके परभाव निर्गुण का विकास मनुज चारु के साहित्य में विशेष रूप से हुआ। जब प्रथम महाकवि सुरदास 'कृष्ण काव्य' को लेकर एक महान प्रतिभा के साथ निर्गुण काव्य-साहित्य के प्रांगण में उपस्थित हुए। उनके तथा अन्य कृष्ण-काव्य के रचयिता कवियों ने त्रिग निर्गुण का ब्रजभाषा-रूप का विकास करके लीला की

हमारा इन्द्रजित् इन्द्रकार इत्यादि इत्यादि दीप्त नवीन शक्ति बलवत् प्रकरण मजा
नातिक मुवाबना मुनाफा हुकीम हिम्मत प्रादि धरती भाषा से और टोप शरीमा
बबर्षी गौरीबा बाबू समय कसपी प्रादि मुकी भाषा से प्राये हुए शब्द हैं।

हिन्दी का विकास

हिन्दी भाषा का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है— १
प्राचीन काल २ मध्यकाल और ३ आधुनिक काल।

प्राचीन काल

जैसा कि पृष्ठ कथा का मुद्रा है, हमें हिन्दी भाषा के साहित्य का प्राचीन रूप विक्रम
की पाठनीयता से मिला है, यह प्राचीन काल साठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी
तक मानता ही उचित होता है। इसमें से पाठनीयता से बनी शताब्दी तक का
बहु काल है जिसमें हिन्दी भाषा शत से विकसित होकर ऊपर आने लगी थी। इस
काल में हमें धर्मशास्त्र रचनाएँ और और और कवियों की मिलती हैं। वे वास्तव
में भाषा शत के कवि थे, जिन्होंने हम प्रचार के लिये जिस सरलतम भाषा का
प्रयोग करने काय्य से किया वही हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाना चाहिए। इस काल
के प्रमुख कवि लक्ष्मण सूरदास स्वयंमू धर्म का नाम हम पहिले से सुके
हैं। हिन्दी का प्राचीनतम रूप देखने के लिये और कवि लक्ष्मण की निम्नांकित पंक्तियाँ
देखी जा सकती हैं—

जहाँ मन पवन न संबरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि सट शिव विसराम कठ, सरइ कहिअ खवेश ॥

भाषा शत के इन शब्दों और और कवियों को भाषा शत प्रभावित हिन्दी-काय्य के
परभाव हमें हिन्दी का विकास 'भारत-काय्य' में मिला है। बीसतरेन पाठो सुमान
पाठी पुष्पीपत्र पाठो और और पाठो धर्मशास्त्र धर्मि रचनाएँ इसी काय्य के अंततम
हैं। यद्यपि इन शब्दों की भाषा की प्रामाणिक के विषय में विद्वानों में मतभेद है
तथापि इन शब्दों की काय्य रचना से उस समय के हिन्दी के रूप का कुछ अनुमान प्रकरण
किया जा सकता है। उदाहरणार्थ बीसतरेन पाठो की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

कुइयो फाठइ कौमुबक, पापरि फाठइ धन को और।
कोयो देख बापी खोकड़ी, तुबसी हुई भरइ ईम नाह।

बाबा हाथ को और और, बाबाएँ सागी जीवली और।

यद्यपि हिन्दी के प्रथमी शताब्दी से मिला जाता है, तथापि इन भाषाओं का रूप हमें इसके बहुत पहिले
के काय्य में ही मिला जाता है। उदाहरणार्थ पुष्पीपत्र पाठो की निम्नांकित पंक्तियों में
इन्द्रभाषा का प्रयोग देखिये—

पहुँच गया। उखाण के प्राविर्भाव के कुछ ही समय परचाण पोस्वामी तुमसीराज की काव्य-प्रतिभा से हिन्दी-साहित्याकाश समुज्वल हो उठा। पोस्वामी की तथा 'राम-काव्य' के अन्य कवियों के काव्य में हिन्दी के दूसरे रूप धरती का महत्वपूर्ण विवरण हुआ।

पूर्व मध्यकाल के इस विकास के परचाण बहूकाल धारण हुआ जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में "रीतिशासक" नाम से प्रसिद्ध है। रीतिकाल के समय में ही कवियों में हिन्दी के ब्रजभाषा रूप का जो विकास हुआ वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें काल में रीति-ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त भ्रूमार-साहित्य और-साहित्य और मीठि-साहित्य की भी रचना ब्रजभाषा में हुई। कैतब देव बिहारी, मतिराम भूपाल पद्माकर सात पिरवर बर धारि इस काल के प्रमुख कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्य साहित्य द्वारा हिन्दी भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

प्राच्यनिक काल

इस काल के अवर्ष १२ वीं शताब्दी से वर्तमान तक का समय है। इसके पूर्व विशेष रूप से हिन्दी के धरती और ब्रजभाषा रूप का ही विकास हुआ था। प्राचीन काल से बर-उपन लड़ी बोली के दर्शन होते रहे, किन्तु हिन्दी के इस रूप को विकसित करने का अवसर न ही सका। इसका विशेष विकास प्राच्यनिक काल में ही हुआ। द्वितीय इस काल के पूर्व हिन्दी के अधिक विकास पद्य-रूप ही हो सका। इसके पद्य रूप का विकास होना अभी भी शेष था। नाच पवी साहित्य एवं ब्रजभाषा काल के कुछ वर्षों में हमें ब्रजभाषा के पद्य रूप के भी कुछ दर्शन ही जाते हैं, किन्तु यह इसके पद्य रूप के विकास के सिरे पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। ब्रजभाषा के पद्य का अधिक विकास न होने का एक कारण यह भी है कि हिन्दी का यह रूप अतिना काव्य-रचना के उपयुक्त है, अतः पद्य साहित्य-रचना के उपयुक्त नहीं। प्राच्यनिक काल में भी ब्रजभाषा प्रभावा धरती का विकास पद्य-रूप में न हो सका। इस काल को मुख्यतः लड़ी बोली के विकास का ही काल कहा जा सकता है। इस काल में हिन्दी के इस रूप का पद्य और पद्य, दोनों में बरम विकास हुआ। आर्येणु-कुप में इतका सम स्थिर हुआ, धारणिक विकास हुआ और वह हिन्दी की विविध साहित्यिक विभागों में विकसित होता हुआ वर्तमान स्थिति में धारा। आर्येणु-कुप में हिन्दी काव्य को लड़ी बोली का रूप प्राप्त हुआ पर उस पर से ब्रजभाषा का प्रभाव भी पूर्णतः पृष्क न हो सका। लड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा में भी काव्य रचना होती रही। इसी समय मुंठी इस्तामना का मत्स्यनाथ मुंठी

सदामुखलाल शारि के द्वारा लड़ी बोली के मध्य का जन्म हुआ। बाद में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन कानहृदय मठ, बालमुकुन्द गुप्त प्रतापशरणस्य मिश्र बदरीनाथ उपाय्याय आदि न हिन्दी साहित्य के विविध मध्य-विभाषों में इसका विकास किया। त्रिबेदी-युग में भारतेन्दु द्वारा आदिभूत नाटक निरूपण बहानी जनन्यास आलोचना आदि मध्य-विभाषों पुष्ट और परिष्कृत हुईं। लड़ी बोली के विशुद्ध रूप में मध्य-साहित्य का भी जन्म हुआ। हिन्दी के लड़ीबोली रूप को व्याकरण-सम्बन्ध रूप दिया गया और उस ऋषिकण्डिक विवक्षित करने का प्रयत्न किया गया। इसी युग में सब प्रथम लड़ा बानी का प्रयोग खंड वाक्य महावाक्य और प्रबंध वाक्य की रचना में किया गया।

त्रिबेदी-युग का धर्म होने-लोक हिन्दी में धारावाही वाक्य-रचना आरंभ हुई। इसके परवान् लड़ी बोली हिन्दी का विकास रहस्यवादी प्रगतिवादी हासावादी प्रयोगवादी आदि वाक्यशास्त्रों में तथा पारंपारिक साहित्य के अन्तर्गत नै हिन्दी साहित्यशास्त्रों को नया दृष्टिकोण प्रदान किया और उसके प्रकाश में हिन्दी के न बहाने वाक्य का बनना इसके विविध धर्मों सादर साहित्य उपन्यास-साहित्य निरूपण-साहित्य आलोचना-साहित्य बहानी साहित्य एवं अन्य शास्त्रीय और वैज्ञानिक साहित्य का भी समृद्ध विकास हुआ। आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहाने का योग्य प्रमाण है। वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी भाषा का वर्तमान सामान्य विकास, आकाशवाणी प्रसार और सञ्चारसंस्थानता उस भारत की 'राजभाषा कहाने का उच्चतम प्रदान करनी।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

बुद्ध लोगों का मत है कि "सत्यं शिवं सुन्दरम्" सुप्रसिद्ध वास्तविक विज्ञान् प्यटो के "the True, the good the beautiful का हिन्दी रूपान्तर है किन्तु यह सत्य नहीं है। यह वास्तव में भारत का वह प्राचीनतम सूत्र है जिस पर हमारा धर्म, संस्कृति और रचना आधारित है। दूसरे शब्दों में यह वह सूत्र है, जिसे भारतीय ऋषियों ने अपनी साधना के द्वारा जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने जो मद्भक्तवत्प्रीता में अङ्कन से कहा है—

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च ।

: सत्यं, प्रियं तथा हितकरं वाच्यी बोधो ।

इस उद्धरण से भी इस सूत्र की प्राचीनता प्रमाणित है। यहाँ "प्रिय" में सुन्दर का अर्थ है। हित है। शिव का अर्थ समाहित है। "सन्निवृत्तान्तरं सत्यं मे भी हम "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का स्पष्ट समर्थन दे सकते हैं।

हमारे प्राचीन धर्मों में धीरे धीरे इस सूत्र के सत्य शिव और सुन्दर शब्दों का एक साथ ही प्रयोग मिलता है। प्रयोग में हमें इन शब्दों का क्रम भी इसी प्रकार मिलता है। सत्य वह है जिसका कभी नाश नहीं होता। अमरवर केवस ब्रह्म है, जो विमुख और निराकार है। शिव और सुन्दर से भी वह सत्य ब्रह्म परे है। इनमें से शिव मुख है। यह शिव निर्गुण और सगुण और निराकार को साकार बनाता है। अतः हम कह सकते हैं कि विमुख और निराकार सत्य शिव और सुन्दर का योग पत्कर मूर्तिमान् होता है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की समन्वित साधना धरना जोर ही निराकार और साकार ब्रह्म की समन्वित साधना और योग है। मानव-जीवन का चरम स्तर भी सत्यं शिवं सुन्दरम् को ही प्राप्त करता है, जो सत्य अन्तिम सचार्थ के रूप में निर्गुण और निराकार है वही मानव की उपासना में शिव और सुन्दर बनकर सगुण और साकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार कमल बल में रूकट भी बल से पुष्पक उठता है, उसी प्रकार सत्य शिव और सुन्दर से बरे होकर भी उनसे पुष्पक नहीं है। तर्जिप्य में जो सत्य निर्गुण और निराकार की मूर्ति के साथ सत्य है वही साकार होकर शिव और सुन्दर कल्पनाता है अर्थात् सत्य शिव और सुन्दर से भिन्न होकर भी अमिष है।

प्रवाहित नहीं होता वह स्वयं प्रतिबध और अनुन्दर है। जो स्वयं प्रतिबध और अनुन्दर है उसके सत्य के समीप पहुँचने की कल्पना भी हस्त्यास्पद है। साहित्यकार भी साधक है। एक गणना साहित्यकार अपने साहित्य का गुणन इसी तन्त्र बन्धी को साधारण मानकर करता है। वह सुन्दर साहित्य तो निर्माक करता जाता ही है पर साध हो वह यह भी जाहता है कि उसका वह सुन्दर साहित्य शिव-भावना से रिक्त न ही। उसकी इसी भावना के कारण उसका सुन्दर साहित्य शोक-कल्याण में गम्य होता है। इन प्रकार साहित्यकार सुन्दर और शिव की आराधना करता हुआ मरब की घोर अग्रसर होता है। साधना के अन्त में उसकी स्थिति साः-उठा कहनाही है। साधक की यह ज्ञान उठा साहित्यकार की रस बसा है। यह रस प्राप्त होने पर साधक अथवा साहित्यकार मानव-सुख की अनुचित भावनाया से ऊपर उठकर शोक-समाग्य-मूर्ति में प्रवेश करता है। इस स्थिति में वह जित साहित्य का सञ्जन करता वही अमर साहित्य होता है। हमें यह बोध-व्यव साहित्यिक विचार सुन्दर-गुणनी जैसे अमर साहित्यकारों के साहित्य में लहक परिनिष्ठ होता है। अब हम राष्ट्रीय दृष्टि से सुन्दर, शिव और सत्य के स्वरूप पर दृष्टिपाठ करेंगे।

सौन्दर्यशास्त्रियों के मतानुसार सौन्दर्य भोग, रूप और अभिव्यक्ति का समन्वय है। जिस तन्त्र से वस्तु के अन्दर का निर्माक होता है वह सौन्दर्यशास्त्रियों के समीप में योग तरब है। मरब जल में नीचिमा अत्र में क्योल्ना धारि। जिस तन्त्र से सुन्दर कही जानेवाली वस्तु को आकार प्राप्त होता है, वह रूप तन्त्र कहलाता है। जो तन्त्र सुन्दर वस्तु के बाह्य अन्दर और दृष्टि पचाक होने का उसके आकार को विविध अनुभूतियों का जोत बता देता है, वही अभिव्यक्ति तन्त्र है। वह अभिव्यक्ति जितनी अधिक यन्त्रीय और आध्यात्मिक स्वरूप की होती है, उतनी ही अधिक उसमें सौन्दर्य की उच्चता होती है।

सौन्दर्य का प्रथमाचार योग तरब है। मानव मन इस तन्त्र के आस्वादन द्वारा ही ही बर्तानुभूति प्राप्त करता है। मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है, क्योंकि उसमें सौन्दर्य चेतना भी स्वाभाविक ही होती है। वह इसी चेतना के द्वारा भोग तन्त्र को दृष्ट करता है और रसानुभूति प्राप्त करता है। इन्दि बर्त गन्ध, रस धारि इत्ये अपने प्रसाध से आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। साहित्यकार अन्त सामंजस्य द्वारा साहित्य का सृजन करता है इसीलिए साहित्य भी आनन्द बाधक होता है। वह अनेक व्यक्तियों के अन्तों को सृष्टला में पिरोकर उन्हें न केवध म धुम बरन् विविध अर्थों के वाक्पिकरक की सामर्थ्य भी प्रदान करता है। इस प्रकार वह निर्जीव व्यक्तियों को सजीवता प्रदान कर ऐसी सृष्टि की रचना करता है, जियमें हम अनेक विषय बहों विषय दातों विषय अर्थों और और रत्तों की

कलाकृति में जो एकसूत्रता बैंगने हैं उसका कारण उमरी रूप की उपपत्ति ही है। इस रूप की समिप्यक्ति ही हमें सौन्दर्यमूर्ति में सम्यक् बनाती है। अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य की समिप्यक्ता में भोग और रूप की तरह 'समिप्यक्ति' तत्त्व भी धारणक है। इस समिप्यक्ति तत्त्व के कारण ही जब किसी रूपवती सुबती सहस्रमहाती सुसुमित्त बनपति इति बनस्वभी कीर्तिषु बहूपयी बलकम बाहिनी सरिता घट-रोमियां करते निम्न अपने बच पर मुस्कणते शतरस निवे भूमते तद्वाग निरघ्न नीला काश गुणमाद्यम्पत चन्द्र और तपोष्वाह्वयामिनी स्निग्ध किरणों से युक्त बानरवि की और सहसा धाकड़ हो जात है। वास्तव में ये सब बिचल जीवन की विभ्रम समिप्यक्ता ही है। इसी कृदिकीय से हम मूर्ति विमल सजीत नील काम्य धारि जीवन की विभिन्न अनुभूतियों को व्यक्त करने को व्यापक और प्रकृतियुक्त प्ररसा के दर्शन कर सकते हैं और इस प्रेरणा के सहारे न केवल मनुष्यकृत बल् प्रकृतिकृत वस्तुओं के भी संपूर्ण सौन्दर्य का अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं और इस दूर्य जगत की सभुतम वस्तुओं में भी किराट-सौन्दर्य-दर्शन कर सकते हैं।

प्रायः माधुर्य और प्रसाद काम्य क ही कुछ नहीं अपितु सौन्दर्यसमिप्यक्ति के भी बाह्य है। इसी तीन मुक्तों के सहारे सौन्दर्य की समिप्यक्ता होती है। ये तीनों विभिन्न मानसिक अवस्थाओं के परिणामक हैं। ये रसानुभूति से निष्कट संबंध ही नहीं रखते पर रसों में प्राकृतियुक्त भी करते हैं।

सौन्दर्यमूर्त 'मानस' की जननी है, किन्तु धारण के धारिर्भाव में सौन्दर्य ही धर कुछ नहीं है, उसे सत्य और शिव का भी योग प्राप्त है। जिन सौन्दर्य में सत्य का प्रकार और शिव की उल्लासमयी पवित्र भावना नहीं बह कदिक और तज सौन्दर्य है। ऐसे सौन्दर्य-दर्शन से जो मानसमूर्ति होती बह नी मोंडी धरभीम प्रवधा निहृष्ट होती। उससे प्राप्त मानस भी नीधरस और कृदिक होना। कला में सत्य की प्रतीति ही 'सत्य' के प्रभाव को सफसता का साधार इभी है। विभिन्न धरवर्णों के समन्वय से कला साकार होती है। यदि ये प्रवध एक सत्यकृता की संवत कृदियां न हुए, तो कलाकृति का निर्माथ ही संभव नहीं है और यदि सप्रकल्प निर्माथ किमा गया तो बह कलाकृति विरूप और सौन्दर्य-विहीन होती। एक कुशल साक्षिपकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न अनुभवों का धारणकर एक नवीन सत्य हमारे सामने उपस्थित करता है। यद्यपि उसके इस सत्य में कल्पना का योग ही धरिक्त होता है, यद्यपि हम उसके इस कल्पनाप्रसूत सत्य को भी प्रवध नहीं कर सकते। बह अपने नवीन सत्य को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि बह हमारे अनुभवों की कसीटी पर भी सत्य ही प्रमाथित होता है। इसीलिए हम बहकी सत्यता पर विरवास कर सते हैं। उसका बह सत्य मानव-जीवन की एक सुन्दर समिप्यक्ति होता है।

गर्भाव बनाता है। इस प्रकार उसमें सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित होती और मानव जगत् प्रतिबिम्बित को हृदयगम कर ध्यान-विचार हो जाता है। कलाकार धरत जगत्-विषयों के विपुल प्रकृति सौन्दर्य को देगता और उसे धरत हृदय में समाहित करने का प्रयत्न करता है। कलाकार एक सुन्दर सरोवर बेलकर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसमें प्रवेश नहीं करता, वह उक्त सरोवर को उसके समस्त सौन्दर्य महित धरने हृदय में घासीन कर लेता है। सरोवर की विद्यामयता उसके हृदय में समा जाती उसकी उठती और बिरली सहर्षे उसके हृदय में अधिक बढ़कर लहराने लपटी। सरोवर के बह पर मुक्करोते सज्जन और सज्जेमियां करता सीतल मंत्र एभीर उसके हृदय को उल्लास से भर देता सरोवर के बल में प्रतिबिम्बित होनेवाली धरत को नीमिमा और उत पर बोधी का जल सूँबनेवाली जल की किरणों जल-गहित उसके हृदय में उठर पाती है और वह धरने हृदय में संचित इस समस्त सौन्दर्य का कला के पारिष माध्यम द्वारा अपनी कृति में भरने का प्रयत्न करता है। इसके साथ ही जगत् सौन्दर्य-रक्षण के प्रभावस्वरूप उसके मालस में जो विभिन्न भाव उपस्थित होते, वे भी उसकी पूर्ण स्मृतियों सुलकुल के अनुभवों और जीवन के उत्साह-पथों के साथ उस कृति में समाहित हो जाते हैं। यह पारिष और प्राञ्चारिक स्वरूप का सम्मिलन उसकी कलाकृति को अपूर्व सौन्दर्य धरत धरत जीवन और धरित आकषण प्रदान करता है। यही कारण है कि युग बीतने जाते हैं निर्माता और धरत जगत् को सुरूप और विरूप बनाते जाते हैं परिस्थितियां करवटें सेटी जाती हैं, पर एक सफल कलाकार की कलाकृति ज्यों की त्यों प्रभावपयी बनी रहती है। वास्मीक श्री रामायण कामिवास का शाकुन्तल सबभूति का उत्तर रामचरित, माव का नैपथ बाह्य-दृष्ट की काव्यवरी तुमसी का रामचरित मानस और धूर का मूरसागर माव नी जल-मन को धरने सौन्दर्य-सागर में पूरक ही विरता-उत्तरता कृतिमोचर होता है। कलाकार अपनी प्रतिभा के बल से जड़ को चेतन्यता प्रदान करता है और अपनी मानवता से परिष्कारित कर मानव जगत् को उसकी सौन्दर्यनिभूति में निमग्न होने को विवश करता है।

यह हम देखें मानव-जीवन के विकास में सुन्दर, शिष और उत्प का क्या महत्व है। मानव की मूल प्रकृतियों को विराधों में नाम करती है, वह एक प्रकृति के अनुसार वतमान जीवन में उपलब्ध है, जलज का उपयोग करता है। उसकी इस प्रकृति का मूल वर्तमान है। वह सुन्दर से सुन्दर वस्तुओं की कामना करता, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता और उनकी उपलब्धि पर सुख और ध्यान अनुभव करता। इस प्रकार वह जीवन में 'सुन्दर' को साकार करता है। उसकी दूसरी प्रकृति अधिक्य पर आधारित होती है। वह अपनी इसी प्रकृति के अनुसार उस रहस्य को जानने का प्रयत्न करता है, जो उसके वतमान जीवन में अपोचर है। इसके नीति

धम, धम-निषम-न्यम धम-अप-अप धीर भाषना उमकी इमी मनोवसि के परिचायक है। यह उमका शिब के उपलब्धि का प्रथम है। व्यावहारिक रूप में मानव-जीवन के ये दोनों मुन्दर/और शिब की उपलब्धि की दिशा में लिये जाने वाले प्रथम परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। मुन्दर की लीज शिब की उपलब्धि में बाधक और शिब की भाषना में मुन्दर की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है। तितु वास्तव में ये दोनों तन्त्र बाधक नहीं प्रणिणु एक-दूसरे के पूरक हैं। महर के धमाध में शिब की भाषना सम्भव नहीं है और शिब के धमाध में मुन्दर मनुस्वकीन है। ये दोनों तन्त्र मिलकर मानव का दार्शनिक और पारतौकिक जीवन सकारने। ये वास्तव में सत्य ही के दो पक्ष हैं जिनकी युनि मानव को सत्य के समीप पहुँचाने के लिये आवश्यक है। इनका प्रथम है कि इन दोनों को एक मोमा है। उम मामा धे धागे बनने पर दोनों ध्य हो जाते हैं। शिरस्त्र में कुछ मुन्दरता और मुन्दरता में कुछ शिबरन दोनों ही मानव जीवन की समुच्च निधिर्मा हैं।

मानव जीवन के निर्माण में प्र-ति धीर निभति का समान योग है। मुन्दर प्रबलति का मुखक है और शिब निभति का अग्रगण्य है। पर शिब की भाषना प्रथम होती है तब एक विगी न विगी मोमा तक मुन्दर का मोह-मंवरण धारणपर हो जाता है। इसके शिररोन पर जीवन में मुन्दर को प्रमुख स्थान मिल जाता है तब शिब गीण हो जाता है। जिन जीवन में मुन्दर और शिब का सम्बन्धन है बनी जीवन सारत्र में जीवन है। धान्यशहीन भाषना एक बाध है। पर शिब की भाषना में मुन्दर का बाध है। तब भाषना मुन्दर है। इस कुरूपता में शिब की उपलब्धि सम्भव है। शक्ति शिब में मुन्दरता का सार धन-धन कर समाहित है। इस प्रकार बहु मुन्दर जिनमें शिरस्त्र का धमाध है। वास्तव में मुन्दर नहीं पर विगी वपुष का बाह्य धारण है। जिनमें हम भ्रमरता मुन्दर कर है। हमारी बाई भी बाह्यबिक मोह-मं-मूग भाषना शिब का पर-वतिन कर धरभर नहीं हो गच्छी यदि यह ऐसा करती है, तो वह मुन्दर नहीं विन्दु विन्दु भाषना है। हम देखने का तात्पर्य यह है कि हमारा मुन्दर के प्रति धारण द्य-माहिक धीर धारणक भा है। तितु जगमें परिष्ठा का धमाध न हो देने धन रगता धारणक है। इसी प्रकार शिब की उपलब्धि भी मानव-जीवन का लक्ष्य होता धारण। पर उमकी भाषना लगे न हो जितु हम जीवन के मोह-मं की कुपन धाने।

सत्य ही मानव-जीवन का धरम सार है। मुन्दर और शिब उम सत्य का पर्यन के ल निभित भाषना है। तितु भाषक शिरस्त्र मुन्दरताओं की धान रता में उधार कर उमे मुन्दर बनाता है। इनके परधन्य बहु धरन

जीवन-सौन्दर्य को शिवाभिमुख बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में सफल होने पर उच्छ्रित हृदय मीठस्यवयी शिवा भक्तता का विवाह जसे एक हीप मापता के परन्तु सत्य के समीप पहुँचाता है। इस स्थिति में पशुवन पर सुन्दर-दिव्य और सत्य का कोई पुष्प अस्तित्व नहीं रह जाता। सुन्दर और शिवा जसे सत्य में विलीन हो जाते हैं। अतः वे संशय हैं और अतः वे ज्योतिषों के रूप में प्राविर्भाव हुआ था। मानव की वह भाव की उत्पत्ति की स्थिति ही भाव है।

साहित्य का स्वरूप और महत्त्व

मानव अपने विविध माध्यमों—द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करता आया है। मूर्तिनिर्माण, चित्रांकन, काव्य, संगीत आदि उमक ऐसे ही माध्यम हैं। ये विविध रूपों में हैं जिनमें साहित्य का अग्रम और विद्यमान भी उषी प्रकार हुआ, जिन प्रकार एक उषामों का। साहित्य के मूल में भी मानव की वही मनोभाषनाएँ हैं जो इन रचनाओं के मूल में भी हैं। साहित्य-निर्माता नियमों का अल्पन स्वीकार नहीं करता; साहित्य की सरिता नियमों के प्रस्तरों की प्रवहना कर स्वच्छन्द मनि प्रवाहित होने में ही विकसामयी होना पसन्द करती है। साहित्यकार का काम उसे नियमों के प्रस्तर में अवच्छेद करना नहीं बरन् उनके स्वच्छन्द और अचिन्तित प्रवाह में अपनी प्रतिभा के मानवरोवर से उद्भूत शोभों को उममें समाहित कर उसके प्रवाह को मनि प्रसार करना है।

साहित्य सस्कृत के 'सहित शब्द से बना है, जिसका अर्थ साध-साध अथवा साध-साध रहने का भाव है। यह साध साध रहने का भाव समान संवेदनशीलता से ही सम्भव है। डॉ० हुबारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में समशीलता उत्पन्न करने के लिए जब शब्द और अर्थ एक दूसरे से अलग करते हुए साध-साध अर्थ बढ़ते रहें तो ऐसे 'परपरस्पर्शी शब्द' और अर्थ का साध-साध रहना शक्य, बरि साहित्य बना जा सकता है। रामरोषर में मा शब्द और अर्थ के अभावमय मद्बोग देवैवामी विद्या को ही साहित्य विद्या कहा है (शब्दसाधसाधपरस्पर्शीभावना विद्या साहित्य विद्या)।

प्रत्येक मनुष्य में अभावभाव और अभावभाव भिन्न भिन्न प्रमाण में उत्पन्न है। साहित्य में इसे ही मूल प्रवृत्ति कहा है। अभाव और अभाव के अभाव का नाम ही संसार है। ये दोनों भाव प्रत्येक मनुष्य में समानांतर में नहीं हैं। इन प्रमाण का अनुभाविका के कारण ही जीवों के अभावित रूप हैं। अभाव बढ़ना ही परभाव का रूप है।

अभाव और अभाव अभाव और अभाव अभाव और अभाव ही अभाव और अभाव के अभाव हैं और वे ही साहित्य के भी अभाव हैं। अभाव अभाव के

बीचन-मौम्य की शिवाभिमुख बनान का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में सफल होने पर उसका हृदय सौन्दर्यमयी शिव भावना का प्रकाश उसे एक दीर्घ साधना के परचाट्ट सत्य के समीप पहुँचाता है। इस स्थिति में घट्टूबने पर सुन्दर-शिव और सत्य का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह पाता। सुन्दर और शिव उभी सत्य में विलीन हो जाते हैं। त्रिमूर्ति के अंश हैं और त्रिमूर्ति की उपोत्तियों के रूप में प्राविर्भाव हुआ था। मानव की वह सत्य की उपसक्ति की स्थिति ही माद्य है।

साहित्य का स्वरूप और महत्व

मानव अपने विविध भाव्यों—द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करता घामा है। मूर्तिनिर्माण विचारक, काव्य सपीत प्रादि उसके ऐसे ही माध्यम हैं। ये विविध कमाएँ हैं किन्तु साहित्य का जन्म और विद्वान भी उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार इन उपायों का। साहित्य के मूल में भी मानव की ये ही मनोभाषनाएँ हैं, या इन कमाओं के मूल में भी हैं। साहित्य नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करता; साहित्य की सरिता नियमों के प्रवृत्तों की घबरेलना कर स्वच्छान्ति प्रति प्रवाहित होने में ही विकासमयी हुना पसन्द करती है। साहित्यकार का काय उधे नियमों के प्रस्तर से प्रचरद करना नहीं, बरन् उनके स्वच्छान्द और घबिरम प्रवाह में अपनी प्रतिमा के मानसरोवर में उद्भूत लोठों को उसमें समाहित कर उसके प्रवाह को प्रति प्रगन करता है।

'साहित्य' संस्कृत के 'सहित शब्द से बना है, जिसका घप साध-साध प्रबवा साध-साध रहने का भाव है। यह साध साध रहने का भाव ममान संबेदनहीनता से ही सम्भव है। हा हुवाटी प्रघाह द्विबेनी क शब्दों में 'रमलीयता उत्पन्न करण के लिए जब शब्द घोर घर्ष एक दूसरे से स्पर्शा करते हुए साध साध घाने बढ़ते रहें, ठो ऐसे 'परस्परस्पर्शा शब्द घोर घर्ष का जो साध-साध रहना होगा, बही साहित्य कहा जा सकता है। राष्ट्रोत्तर में मा शब्द घोर बब के यवायोम्य म्बयोग देनेवासी विद्या को ही साहित्य विद्या कहा है (शब्दावबेयवावत्सहमाभन विद्या साहित्य विद्या)।

प्रत्येक मनुष्य में धारमभाव और अनारमभाव मिश्र मिश्र प्रमाख में उदभियन है। मांष में इमे ही मूल प्रकृति कहा है। धारम और अनारम के मिश्रण का नाम ही संसार है। ये दोनों भाव प्रत्येक मनुष्य में समप्रमाख में नहीं हैं इन प्रमाख की म्युताधिकता के कारण ही जीवों के घबदियत कर है। 'गण्डाज बटुस्वाम् ही परमारमा का क्य है।

घर्मर और विघाद घाधपख घोर विघयख अनुराग घोर विगग ही घारमा घोर अनारमा के बियन है घोर ये ही साहित्य के भी बियन है। उमू नित्य के

जीवन में हमारी ज्ञान इच्छा और क्रिया की वृत्तियों का अन्तर्घोर विचार बाधपूर्ण और विकृत, आत्म और समाज के अगणित भेदों के साथ संयुक्त हो जाती है, वैसे ही वे साहित्य में भी होती हैं। जीवन में जो प्रकृत इच्छाएँ और कामनाएँ हैं साहित्य में वे ही स्थायीभाव हैं। जिन प्रकार जीवन में प्रत्येक प्राणी अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपने धर्मरूप का विस्तार करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य का प्रत्येक पाठक को अपने धर्मरूप 'रस' को प्राप्त कर अपना धर्मरूप बढ़ाना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश या राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है, उसी प्रकार साहित्य में भी समष्टि रूप से उनके भोम्य सामग्री और सब के विश्वास के साधन रहते हैं।

यदि हमारे साहित्य का यह रूप न होता तो उसका 'साहित्य' नाम ही मानक न होता। संसार 'ब्रह्मरूप' है और साहित्य 'रसमय'। इसीलिए शास्त्रकारों ने साहित्य के रस के आधार को 'ब्रह्मरूप' घोषित किया है। साहित्य लौकिक है पर उसका एक अमानव धर्मिक है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में मानवता के रूप बाधपूर्ण परिष्कृत हो जाती हैं।

यही एक 'साहित्य' की जो परिभाषाएँ की गई हैं उनमें से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं -

“साहित्य समाज का दर्पण है।”

“साहित्य जीवन की आलोचना है।”

“साहित्य जीवन को वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है।”

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में परस्पर कुछ न कुछ अन्तर अन्तर है तथापि तीनों परिभाषाएँ साहित्य का जीवन से निकटतम सम्बन्ध स्वीकार करने में एकमत हैं। इस दृष्टि से साहित्य जीवन की अतिव्यक्ति है, फिर वह अतिव्यक्ति जीवन के विकृत स्वरूप की हो या सुकृत की।

यद्यपि हम राजनीतिक पराधीनता से मुक्त हैं पर धार्मिक विषमता और वर्गसंघर्ष की समस्या अभी भी लोगों की लों की लों हैं। मार्क्स प्रथम विचारक हैं जिनके विचारों से जीवन के प्रत्येक क्षण किसी न किसी सीमा तक प्रभावित हुए बिना न रहे। हिन्दी का साहित्य भी उससे कम प्रभावित नहीं है। मार्क्स धर्मशास्त्री ने, पर उनके सिद्धांतों के अन्तर्गत स्वरूप के कारण उनका प्रभाव बहुमुखी रहा। यद्यपि साहित्यकार को मार्क्सवादी विचारों के प्रकाश में साहित्य का यह स्वरूप निश्चित कर लेना है जो हमारी धार्मिक विषमता और वर्गसंघर्ष का अन्त कर एक सर्वजनप्रत्याखारी राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो। कुछ लोगों को भय है कि यदि हम साहित्य-निर्माण में मार्क्स के सिद्धांत पूर्णतः स्वीकार कर दें तो हमारा

प्राचीन साहित्य जगत्बिहीन हो जायगा, हिन्दु वास्तव में ऐसी धाराका निर्मूल है। साहित्य जीवन के स्थायी तथ्यों का सञ्चय जिनका है। भिन्न-भिन्न काम का साहित्य तत्कालीन समाज का स्मारक है। अतः समाज के रूप में परिवर्तन होने पर भी उनके पक्ष साहित्यिक स्मारकों का अर्थ नहीं होता और उन साहित्य को जीवनोपयोगिता नष्ट नहीं होती। साहित्य अपने काम के समाज की संस्कृति का प्रतिबिम्ब और मोक्ष-मनोमाधना की वस्तु निधि है। यह ठीक है कि साहित्यकार समाज की एक इकाई है और इसलिए उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का उसके साहित्य पर प्रभाव भी पड़ता है। हिन्दु साहित्य इन प्रभावों और उनकी प्रतिक्रियाओं का संकल्पनामान नहीं है। साहित्यकार समाज के बीच रहता हुआ भी स्वतंत्र जीवन कल्पना में समर्थ होता है। वह जितना अधिक प्रतिभा-सम्पन्न होगा उतना ही अधिक उसका साहित्य सामान्य समाज के भावों से स्वतंत्र होगा। वह अपने काम के समाज के बीच जीवन-यापन करता हुआ भी अपने साहित्य-द्वारा उसे नवीन बुद्धिकोष्ठ देने में समर्थ होगा। कवि के लिए यह तथ्य अधिक सत्य प्रमाणित होता है। भिन्न-भिन्न काम में भिन्न-भिन्न भावों और विचारधाराओं का काम होता और उनके द्वारा साहित्य को प्रभावित करने का प्रयत्न होना स्वाभाविक है। ऐसा सदा ही होता रहा है पर फिर भी साहित्य की प्रचुरता मत्ता बनी रही। मात्र के साहित्यकार को जो अपने साहित्य को इन भावों और विचारधाराओं से निरपेक्ष रखने के लिए सतक रहने की आवश्यकता है। उस अपने साहित्य को एक विशिष्टधारक या विचारधारा से भर्षादित नहीं रहता है, उसे समाज को ऐसा साहित्य देना है जो उसे इन भावों के दसदस से मुक्त कर सर्वतोमुखी प्रगति में महायत्न है। जो उसके जीवन का स्तर ठीका कर सके, जो उसको मनोमाधनाओं को उज्जरण बना सके। ऐसा साहित्य ही जीवन साहित्य होता।

पारंप्रसूत साहित्य

हमारे ऐसा कहने का यह तात्पर्य न समझ जाना चाहिए कि हम विज्ञान, अज्ञान धर्म्यात्म धारि का साहित्य से बहिष्कृत कर देने के पक्षपाती हैं और इन्हें समाज के लिए अनिवारक समझते हैं। वास्तव में इन्हीं के द्वारा तो जीवन तथा का निर्माण होता है, फिर हम इनका बहिष्कार कैसे कर सकते हैं? हमारे युग के बादा और विचारधाराओं से साहित्य को निरपेक्ष रखने का तात्पर्य उनके बिकट स्वरूप से साहित्य की रक्षा करना ही है। कोई भी बार और विचारधारा तब तक निरस्करणीय नहीं है जब तक कि उगमें विरोधी तत्वों का समावेश नहीं होता। हिन्दु प्रायः देगा आज्ञा है कि मात्र के धर्मिकों का बार और नवीन विचारधाराएँ

परस्पर विरोधी सम्भावनाओं और तर्कों को लेकर अनुभूत होती हैं और वे व्यक्तिगत को प्रभावित करने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार के बाद और विचारधाराएँ बर्ग-संघर्ष को मिटाने के स्वप्न पर अल्पिक निरुत्तर करने में ही सहायक होती हैं। जो वाद और विचारधाराएँ एक बग के कल्याण और दूसरे बग के प्रथमान में प्रयत्नशील हैं वह तो कभी भी सभ्यता-हितवादी स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकती। साहित्यकार व्यक्तिगत का प्रतिनिधि नहीं हो सकता वह तो अपने काल का लोक-प्रतिनिधि है और उसे अपने साहित्य में व्यक्तिगत का रूप नहीं पर सामाजिक नस्लाश देना है। सारा राष्ट्र ही जन्मा जाता है। धन-उत्पत्ति अपने साहित्य-मजदूर द्वारा व्यक्ति-कल्याण में ऊपर उठकर समष्टि-कल्याण में रण होता है। दूसरे शब्दों में इसे सामाजिक धर्म में जीवन-साहित्य का निर्माण करना है। अपने काल के विभिन्न बाद और विचारधाराएँ भी साहित्य-मजदूर में सहायक हो सकती हैं पर अनुवर्ती रूप में ही, वे साहित्य को निरामक नहीं हो सकती। साहित्य की अपनी स्वयं सत्ता है और वह जीवन-साधक है साहित्यकार को सर्वत्र यह ध्यान रखना है।

देश-मेद व्यक्त-मेद और समाज-मेद से साहित्य की कृति-प्रकृति और भावना में धक्का हों सकता है। उनके विकास की दिशा में भिन्नता हो सकती है पर उसकी इस तरह बहुरूपता के अन्तस्वत्त में भी एकता का एक पल्लवित और पुष्पित हो रहा है। साहित्यकार का लक्ष्य उसी तरह की शोचम जाया में जन-जीवन का विकास करना है।

शास्त्रार्थ तंत्रबुलारे बाजपेयी ने बाबू की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है — काव्य प्रकृत मानव धनुर्मूर्तियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा लो-व्ययम विषय है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः धनुरूप भावोन्मुखता और सौंदर्य-संबंधन उत्पन्न करता है। साहित्य की परिभाषा भी लगभग वही होती है। इस परिभाषा के अनुसार साहित्य प्रकृत मानव धनुर्मूर्तियों का विषय है और वह व्यक्तिगत व्यक्त-वर्ग-विरोध में नहीं पर मनुष्यमात्र में सौंदर्य-संबंधन उत्पन्न करता है इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य धनुरूप धनुर्मूर्तियों से परे है। साहित्य का सौंदर्य संबंध ही मानव-जीवन को सौंदर्य प्रदान करता है और इसकी उपसम्पत्ति से मानव की कुरूपता नष्ट हो जाती है। सौंदर्य स्वयं जीवन का मतीक है और स्वयं जीवन वही है जो कविता, विचारधाराओं बर्ग-संघर्षों और सामाजिक जीवन की विषमताओं से मुक्त हो स्वाभाविक पक्ष से उत्थान की ओर धक्का ही रहा हो। साहित्यकार को ऐसे साहित्य का ही निर्माण करना है, जो साहित्य को उपयुक्त परिभाषा की कठौटी पर बराबर उतर सके। ऐसा साहित्य ही अपने अपने धर्म में जीवन-साहित्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। साहित्यकार में नैसर्गिक प्रतिभा का

जितना अधिक विकास होगा और वह वर्गगत बाहों और बिचारों से जितना अधिक अपने को अलग रखेगा वह उतना ही उच्चकोटि का अनहितकारी साहित्य के निर्माण में समर्थ होगा। बगमठ खन्ना साम्प्रदायिक साहित्य को जीवनसाहित्य की संज्ञा नहीं दो जा सकती वह तो बाह्यविरोध या विचारविरोध का समकालीन और प्रचारक साहित्य ही हो सकता है जिसका अन्त भी उस बाह्य या विचारविरोध के अन्त के साथ अन्तर्ग्रन्थी है। साहित्य में निहित सौन्दर्य-तत्त्व शारदत और अमर होता है, इसीलिये वह कलाकर्मों के अन्तर्गत भी समग्रमात्रा होता है ऐसे सावर्जनिक और शारदत साहित्य का निर्माणकर्ता साहित्यकार ही अमर होता है। उसके मौलिक जीवन के अन्त के परचात् भी उसका साहित्य अन्तर्गत को जीवन-सौन्दर्य में पुनः करने और एक उत्थानकारी मरिचक देन में समर्थ होता है और अपने नाम अपने निर्माता की स्मृति भी अमर बनाए धागे बड़ जाता है। वह साहित्यिक दशकाल और समाज के प्रभाव से अलग होता है। आज भारतीय कामिबाम मूलभूत नीति और कलाकर्मों के परचात् जीवन के अन्तर्गत बने हुए है। उसका कारण केवल यही है कि उन्होंने संकुचित बाहों अन्तर्गत मनोभावनाओं और मुख्य सौन्दर्य के स्तर से ऊपर उठकर सबजनहितार्थ साहित्य का सृजन किया था। उन्होंने साहित्यसृजन करते समय मानव-जीवन की उस हृदय-बीछा के तार अन्तर्गत किये थे जिनसे शारदत सौन्दर्य का संवीत प्रभावित होता है।

आज के वैश्विक युग में अज्ञात होनेवाले बाह्य मानव-जीवन की प्रगति को और अग्रसर करने के स्वार्थ में उसे विकृत बनाम में ही अधिक सह्यपठ हो रहे हैं और नित्य शारदत साहित्य के निर्माण में बाधक हा रहे हैं हम यह स्वीकार करते हैं कि युग परिवर्तनशील है। एक के परचात् दूसरा युग नई आरम्भ, नई प्रेरणाएँ और नई समस्याओं को लेकर आता है और उससे समाज भी प्रभावित होता है। साहित्यकार उसी समाज का एक अंग होता है इसलिए उसका भी युग-भावना से प्रभावित होना स्वाभाविक है। साहित्यकार को भी अत्यन्त नये युग का स्वागत करने उसकी बात सुनने और उसकी समस्याओं पर विचार करने को तैयार रहना चाहिए, पर उसका प्रभाव में बह जाना उसका काम नहीं है। उस यह न भूलना चाहिए कि उसका जीवन सामान्य जनजीवन से कुछ न कुछ पृथक्ता रखता है और हम पृथक्ता के कारण उसका उत्तरदायित्व भी अर्थों से अधिक है। साहित्य की नैतिक और साम्प्रदायिक मर्यादा अक्षुण्ण है। अन्तःकारक है कि साहित्यकार अपने युग की अनिश्चितियों का ध्यान रखते हुए साहित्य को इन नैतिक और साम्प्रदायिक मर्यादाओं को बिस्मरण न करने लम्बी वह अन्तर्गत युग के मानकों को आश्चर्यचकित कराने वाली असाधारण प्रदान कर सकता है। एसा साहित्य ही अन्तर्गत युग का "जीवन साहित्य" है और यही साहित्य अन्तर्गत शारदत जीवन-सौन्दर्य को लिए युग-युग तक

धीरिष्ठ रह सकेगा। युव के साथ धार्मिकता की आवश्यकता प्रकटित विधि-विधानों पर आधारित होती है, परन्तु युव के साथ उमर का धर्म भी निश्चित है। पर हमारी नैतिक और साम्प्रदायिक मर्यादाएँ सर्वत्र अविच्छिन्न रहती हैं। यदि साहित्यकार साहित्य सृजन के पूर्व धर्मों का अध्ययन न कर मानव-समाज के पशुमुक्ती जीवन का अध्ययन करें और इसके आधार पर अपने साहित्य की रूपरेखा निश्चित करें तो वे युव के साथ रहकर भी शारङ्ग जीवन-साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। यह विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं का भी अध्ययन करे पर उनके प्रकाश में साहित्य-निर्माण करना धारण करने के पूर्व उन्हें सांस्कृतिक नैतिक और साम्प्रदायिक सिद्धांतों की कड़ी पर कसकर परख ले। यदि उनमें वास्तव में कोई अनोखाकारिता लक्ष्य है तो उन्हें ग्रहण कर ले और उन्हें भी अपने साहित्य में स्थान दे। बाव तो वास्तव में जीवन-विषयक पारध्यायी के प्रतीक है और बारप्राएँ सर्वत्र ही परिवर्तनशील रही हैं धर्म धर्मों का भी परिवर्तनशील होना स्वाभाविक है। वे बारप्राएँ और उन पर आधारित धर्म उत्पानकारी भी हो सकते हैं और विनाशकारी भी। परन्तु उन्हें साहित्य में स्थान देने के पूर्व उनकी विरलेपक्ष्यता पर ध्यान देना चाहिए। यदि हमने धर्मता से देखा न किन्ना तो वे हमारे साहित्य को विकृत बना देंगे। हमारे साहित्य की विकृति समाज की विकृति का कारण बनेगा। साहित्यकार समाज का प्रतिनिधि ही नहीं पर समाज का जीवननिर्माता भी है। परन्तु उसे विकृत और साम्प्रदायिक साहित्य का निर्माण कर भावी पीढ़ी और अपने ही काल के धर्म धर्मों का सम्मान और धर्म का पात्र होने के बदले तिरस्कार और पूजा का पात्र बनने का प्रयत्न न करना चाहिए।

धर्म का स्वल्प सर्वत्र एकत्रयीय और अद्वैत एकत्रयी होता है। उसकी प्रकृति अस्पष्टिमुक्ती होती है, समाजमुक्ती नहीं। धर्म एक प्रकृतिक विवेक की बौद्धिक व्याख्या करके रह जाता है, उसमें समाज की कायापसठ कर उसे नवजीवन प्रदान करने की शक्ति नहीं होती। धर्म जिस धर्म का निष्पन्न करता है वह कालवक से प्रभावित हो पशु भी बन सकता है, किन्तु साहित्य की स्थिति धर्म की स्थिति से सर्वत्र सिद्ध है। साहित्य बहुमुक्ती होता है, उसकी प्रकृतिक विवेक विवेक पर लक्ष्य, पर समाज के जीवन की वास्तविकता और अनुभूति पर आधारित होती है। साहित्य न निश्चित धर्म शारङ्ग और कालवक से प्रभावित होता है। यह धर्म भी पशु जाता है कुत्तन की तरह कालवक उठता है। साहित्य की इन विवेकताओं को ध्यान में रखकर मुक्त साहित्य ही 'विर नवीन धर्म-साहित्य' हो सकता है।

समाज और साहित्य

धर्म मानव-समाज को अर्थव्यवस्थात्मक सम्य मुक्ती और समृद्ध बनाने के विविध प्रयास किन्ने जा रहे हैं। विज्ञान के द्वारा उसे भौतिक साधनों से पूर

करने का प्रयत्न हो रहा है। राजनीतिक सम्पूर्ण मानवसमाज को एकता के सूत्र से बाँध करके तथा उसमें नव ज्योति का प्रयत्न कर रहे हैं। अन्धकार से भीतिकर्षाची संघीयता से मुक्त कर उसे प्रबुद्ध उदार और उच्च बनाना चाहता है किन्तु ये सब प्रयत्न संभव नहीं हैं। साहित्यकार में ही इन भीतिकर्षाची राजनीतिक प्रयत्नों एवं साम्यवादी प्रेरणाओं को जीवनोपयोगी कर्मात्मक रूप से प्रस्तुत करते की क्षमता है। यदि साहित्यकार इन सब साधनों का समावेषयोगी अनुसिद्ध और समन्वित रूप प्रस्तुत न करे तो ये साधन परस्पर टकरा भी सकते हैं। साहित्यकार समाज को सिद्धम् और सुन्दरम् बनाने के लिए अपने साहित्य द्वारा जो सत्य प्रस्तुत करता है, वह वास्तव में उसका अपना नहीं बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय का सत्य है जो साहित्यकार इस रूप में साहित्य प्रस्तुत करता है वह समाज का साहित्य होता है और वही समाज के उत्थान में सहायक होता है।

साहित्य में हृदय-परिवर्तन की अपार क्षमता होती है। साधन समाज के सुचारु और उत्पादन के लिए कानून बना सकता है, किन्तु वह इन कानूनों के द्वारा समाज का हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकता। कानून के पास में सबैक नय की प्रेरणा होती है। जो काय नय से क्रिया जाता है, वह शक्ति और प्रत्यायो होता है। समाज की बुद्धियों का निमूला हृदय-परिवर्तन के घमास में कभी भी सम्भव नहीं है। यह काम साहित्यकार ही कर सकता है। साहित्य का समाज जीवन पर स्थायी प्रभाव होता है और यही प्रभाव उसे उत्पादन की ओर प्रवृत्त कर सकता है। साहित्य के तीन उद्देश्य माने गये हैं मानव मनोवृत्तियों को प्राप्त करना हित साधन करना और मानव मनोवृत्तियों को उन्नत करना। साहित्य के ये तीनों उद्देश्य मानव-समाज के जीवन को सुखद मधुर और उन्नत बनाने में सहायक है। इन उद्देश्यों को प्यार से रक्तकर सजित साहित्य निश्चित रूप से समाज के उत्थान में सहायक हो सकता है जिस साहित्य में ये गुण नहीं हैं वह साहित्य वास्तव में साहित्य कहलाने का अधिकारों ही नहीं है।

वहीं साहित्य समाज को प्रभावित करता है वहीं साहित्य भी समाज से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। साहित्यकार अपने युग की भावनाओं परिस्थितियों एवं जीवन का प्रतिनिधित्व करता हुआ साहित्य का निर्माण करता है, इस रूप में वह अपने युग का प्रतिनिधि है पर उससे कुछ वर्तमान तक ही सीमित नहीं होती। इस वर्तमान की पृष्ठभूमि पर कविप्य का निर्माण करता है। इस रूप में उसे सदा का चोख प्राप्त होता है। उसकी विशेषताओं के कारण उसका साहित्य पण एक अमर होता है। साहित्य और युग अथवा समाज का यह आदान-प्रदान

सहीब से चलना आया है। साहित्यकार हमी साधन प्रदान की शिवा पर समाज उत्थानकारी समर साहित्य का निर्माण करता है।

साहित्य और कला

कला के क्षेत्र में 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' विचार बहुत समय से चलता रहा। इस विचार का आधार साहित्य का नैतिक पक्ष था। पारंपरिक विद्वानों ने साहित्य को भी एक कला माना है। वे कला के घने उद्देश्य मानते हैं। यथा कला कला के लिए कला जीवन के लिए कला जीवन में प्रवेश करने के लिए, कला सुख और आनंदकला की वृत्ति के लिए, धारि। हम इन उद्देश्यों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में वे उद्देश्य हैं जिनका मानव-जीवन की नैतिकता प्रयत्न उत्थान से कोई संबंध नहीं है। दूसरे वर्ग में उद्देश्य हैं जो मानव-जीवन की नैतिक आधार पर संभालना और उत्थान करना चाहते हैं। हम इनमें से प्रथम वर्ग के उद्देश्यों को हम 'कला कला के लिए' के अंतर्गत और द्वितीय वर्ग के उद्देश्यों को 'कला जीवन के लिए' के अंतर्गत रख सकते हैं। वास्तव में कला के ये दोनों उद्देश्य पारंपरिक मस्तिष्क की रंग हैं। प्रथम सिद्धान्त के अष्ट जेठे तथा द्वितीय सिद्धान्त के अष्ट बरतु हैं। प्रथम सिद्धान्त का संप्रथम प्रभाव अष्ट के साहित्यकारों पर पड़ा। इसी सिद्धान्त के अनुसार बाइबेल ने कहा—“कविता का उससे पृथक कोई प्रयोग नहीं है।

मार्क्स ने कहा—‘हमारे लिए कला ही पर्याप्त है कि हमारी कविता-निबन्धनी पुरे ध्वनि करती हुई आनन्दपूर्वक अपने सुन्दर वर्णों की कल्पना-जीवन नमस्कार पर फड़फड़ाती रहे। इंग्लैंड के साहित्यकारों में से बास्कर पैटर, क्लाइव बेल, आस्कर वाइल्ड, टी० यम ईसींग धारि ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन किया। इनके विपरीत मैथ्यू आरनाल्ड, आर० ए रिचर्ड्स एडविन रीसी ब्रडमूथ मिस्टल धारि ने 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त का समर्थन किया। प्रथम सिद्धान्त में सौंदर्य भावना की प्रधानता है और द्वितीय सिद्धान्त में लोक-व्यथा की भावना निहित है।

साहित्य के दो पक्ष हैं— १. भावपक्ष और २. कलापक्ष। भाव पक्ष की वस्तु है इसका अविच्छिन्न रूप ही साहित्य है। कला वह प्रयत्नी है जिसके द्वारा कवि अपनी साहित्यकार अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करता है। प्रथम पक्ष ही वास्तव में साहित्य का प्रधान पक्ष है। मानव-समाज का आधार सहायक है। साहित्यकार अपने कला की सहायता से अपने साहित्य द्वारा मानव-समाज में सहायक की प्रवृत्ति और पुनरुत्थान की निवृत्ति की भावना का प्रसार करता है। वह यह कार्य नीति का उपदेश देकर नहीं बल्कि भावपक्ष सौंदर्य की मध्द करके करता है। बकिम बानू

ने सौन्दर्य की इसी चमत्कृत्य सावक मूर्ति को काव्य अथवा साहित्य का मुख्य चरित्र मानते हैं। साहित्यकार मानव जीवन के विविध भागिक चित्र उपस्थित कर जन-समाज को प्रभावित करते हैं। अतः साहित्य अथवा कला का मानव जीवन से पृथक कोई अस्तित्व स्वीकार करना निरर्थक है। प्रेमचन्दजी ने भी कहा है — 'साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक धीरे सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बशीलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है। 'महात्मा गांधी और टालस्टाय ने भी कला की जीवनोपयोगिता का ही समझ किया है। महात्मा गांधी के मतानुसार — 'जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवन को सुमार्ग पर न लाये तो वह कला क्या हुई? 'टालस्टाय ने लिखा है — 'कला समाज के अंधार हारा शिव को एक करने का साधन है। बर्क का कथन है— 'भारत प्रकाश की माध्या ही प्रत्येक कला का मूल है। मनुष्य अपने को दूसरे के समक्ष व्यक्त करना चाहता है। उसी इस अभिव्यक्ति में प्रेम आत्म कल्याण श्रेष्ठ मूल्या प्राप्ति सभी का स्थान है। ये ही साहित्य के भी उपादान हैं। इन मनाबोगों की अभिव्यक्ति एकस्वामीय अथवा एकदेशीय नहीं है। इसीलिए इनकी कलापूछ अभिव्यक्ति साहित्य की एकस्वामीय एकदेशीय अथवा एकांगी न होकर सार्वजनिक होती है। ऐसा साहित्य ही जीवन साहित्य और अमर साहित्य होता है। और ऐसा साहित्य ही मानव समाज के लिए उत्पान सिद्ध होता है। साहित्य की जो उपयोगिता है वही कला की भी है। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, कि कला भावभाविकता की एक प्रखारी मात्र है, अतः उसका अभिव्यक्ति के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं उसका अस्तित्व वास्तव में अभिव्यक्ति पर आधारित है। अभिव्यक्ति और कला का समन्वित रूप ही साहित्य है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य और कला दोनों की साधकता मानव-समाज को सुन्दर और शिव रूप प्रदान कर उसे 'सरयं के समीप ले जाने में ही है।

काव्य : एक विश्लेषण

काव्य का स्वरूप —

सौन्दर्य-निसीम भाव-जनक से सम्पूर्ण भाव-सक्ति ही काव्य है।" इन्हें काव्य में सुन्दर भावाभिव्यक्ति की प्राथमिकता स्पष्ट है। साहित्यशास्त्र के पंडितों ने समय-काल पर काव्य की घनेक परिभाषाएँ बनाई हैं। किन्तु सभी एक-बोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जो सबकाय्य घोर स्थायी हो। कुछ लोगों की बुद्धि में काव्य केवल कल्पना का विकास है और इसलिए उसका जीवन में कोई स्थान नहीं है, जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा समझने का कारण यह है कि काव्य की सीमा वहाँ से आरम्भ होती है जहाँ सांसारिक प्रयोजन की सीमा समाप्त होती है। डॉ० ह्यामिण्डाल के शब्दों में काव्य उस भाव का प्रकाश है जो प्रयोजन की उपरीक्षा के परे है। वह प्रयोजन को छोड़कर नहीं रह सकता पर प्रयोजन के प्रतिरिक्त है।

काव्य की परिभाषा —

काव्य की परिभाषा के लिए संस्कृत के तीन भाषाओं के सब आधारभूत माने जाते हैं। वे हैं:—सम्मत् का काव्य प्रकाश शिवलाभ का साहित्य सर्वेष्ट धीर बभ्रुभाष पंडित का रस संवापर। इन तीनों काव्य की परिभाषा निश्चित करने के लिए इन्हीं भाषाओं के मतों के प्रकट में विचार करेंगे। इनकी परिभाषाओं निम्न प्रकार हैं —

- १ "सबसोपी सम्यार्थी समुदायनसंक्रुतोपुनः क्वापि । काव्य प्रकाश (सम्मत्)
ऐसे सम्य धीर मन को कविता कहते हैं, जिसमें धीर न हो, कुछ ही समंकार ही धीर कबी-कबी समकार न भी रहे।
- २ "वाक्यं रसात्मकं काव्यं । साहित्यसर्वं च
रसपूर्णं क्वाप्यप्यकं मानस्यनुभूति से पूर्ण वाक्य की कविता कहते हैं।
- ३ "रसलीलायं प्रतिपादकस्य च काव्यम् । रससंगार (सं० बभ्रुभाष)

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से उन तीनों परिभाषाओं में कोई विरोध नहीं है, तथापि तीनों परिभाषाओं में अपनी-अपनी विशेषता अवश्य है। साहित्य व्यञ्जकार रसमयी वाक्यावली की काव्य कहते हैं पर कोई भी व्यक्ति बिना 'रस' के सम्य धीर विज्ञान को ब्रह्मब्रह्म समने काव्य की परिभाषा समझने में समर्थ ही रहेगा और रस का स्वरूप

बड़ा भ्रमात्मक है। अतः यह परिभाषा के सिद्धांत रूप में बहुत सुन्दर और पूर्य होने पर भी पूर्य व्यावहारिक नहीं है।

पारम्भ में तो साधारण शब्दों में कविता के सीधे स्वरूप का बखान करना चाहिए और उचित ज्ञान हो जाने के पश्चात् ही ध्वनि, रस आदि की बात कहना चाहिए। इसलिये व्यावहारिक भाषाय मम्मट ने पहिले कविता के रूप, पुंख, बनकार आदि की ही चर्चा की है और रस का नाम तक न मिया। वे भी रस को प्रथम मानते हैं, पर वे उसका उचित स्थान भी जानते हैं।

रस गणककार के मतानुसार रमणीय रूप के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं, पर यह तो पूरे साहित्य का ही निचोड़ है आरंभ में कहने की बात नहीं है; क्योंकि 'रस की तरह रमणीय' शब्द का स्वरूप भी कम भ्रमात्मक और विचारपूर्ण नहीं है। अतः हमें मम्मट की परिभाषा ही अधिक सुबोध और मुक्तिसंगत मान पड़ती है। मम्मट शब्द और रूप दोनों का काव्य में समावेश करते हैं। इस प्रकार एक ओर 'ध्वनि' को काव्य मानते हैं और दूसरी ओर 'विशकाव्य' को भी। यही उनके विवेचन की व्यापकता है।

शब्द और रूप अनेक रूप से कविता के आधार होते हैं, इसी से कविता के स्वरूपज्ञान के लिए शब्द, मन्त्र और ध्वनिक तीनों प्रकार के शब्द काव्य, रूप और काव्य—तीनों प्रकार के रूप और अविभा लक्षणा ध्वनिका तीनों प्रकार की शब्द-शक्तियों का ज्ञान परमावश्यक है। शब्दार्थ के इसी विवेचन के आधार पर रस, ध्वनि सौन्दर्य कलात्मक अनुभूति साधारणिकरस आदि की व्याख्या होती है।

काव्य के उपकरण :-

सौन्दर्य, अर्थरमणीयता रस अर्थकार तथा भाषा काव्य के उपकरण हैं।

सौन्दर्य :

पाठक को काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द का जनक काव्यगत सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य का मूल शक्ति है। मित्र-मित्र रूप के कारण मित्र-मित्र व्यक्तियों के पसंदगी के सौन्दर्य का स्वरूप भी मित्र होता है अतः इसकी कोई निश्चित सबसाम्य परिभाषा स्थिर नहीं की जा सकती। जो वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर जान पड़ती है वही दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में असुन्दर होती है। वास्तव में सुन्दर और असुन्दर शब्दसांकेतिक भाषों के चोतक है अर मित्र-मित्र देशों में इनकी कहीं कहीं भावार्थ संस्कृति और सम्यता के अनुसार निश्चित की गई है। इस मित्रता का कारण शक्ति-वैधिम्य तथा मित्र-मित्र सन्धति और सम्यता के विकास के क्रम की मित्रता है। काव्य की सुन्दरता भी मित्र-मित्र शक्ति धार भावार्थों पर निर्भर है। पर यह शोच विवेक केवल व्यावहारिक सामान्य के

लिए ही आवश्यक है, उसे निर्धारण की दृष्टि से बेचल इतना ही कहना पर्याप्त है कि शौन्धर्व काव्य का अनिर्वाय उपकरण है।

अर्थ-रमणीयता :

एक संवाचक के रचयिता काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं। पारचार्य महाशुभार 'काव्य के अन्तर्गत वे ही पुस्तकें प्राणी चाहिए, जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करलेवासी हों और जिनमें क्लृप्तीयुक्त का मूलतत्त्व तथा उसके कारण ज्ञान का जो उद्देश्य होता है, उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो। इस व्याख्या के अनुसार काव्य में अर्थ रमणीयता का होना स्पष्ट है। एक संवाचक का तात्पर्य भाषात्मक और रसात्मक काव्य से है। उत्कृष्ट रसात्मक काव्य में एक स्थान होता है, वाच्य और शब्द नहीं। इसलिये काव्य की रसात्मकता के माध्यम से अर्थ का व्यक्त-प्रधान अर्थवाच्यतात्मक होना ही स्वीकार किया गया है।

रस

अपने भावों और विचारों को सुन्दर पर प्रकट करने तथा सुन्दर के भावों और विचारों को सुन्दर और समझने की मातृभाषा में स्वभाविक प्रवृत्ति होती है। वह अर्थकाव्य से वाच्य के अर्थवाच्यता का उपयोग करता आया है। वह प्रेम, दया, क्रोध, हर्ष, दुःख, शोक आदि मानसिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति भी अर्थकाव्य से करता आया है और इसी अभिव्यक्ति में उसे एक प्रकार की सुन्दर सुन्दर प्रवृत्ति प्राप्त होना पड़ा है। मानव की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति के उस अर्थकाव्य का सुन्दर, अर्थकाव्य और अर्थकाव्य होता है, जिसे हर्ष साहित्य कहते हैं। इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त मानव में शौन्धर्व-भावना भी स्वाभाविक रहती है, जो साहित्य में एक अर्थकाव्य अर्थकाव्य तथा अर्थकाव्य जाने में सहजक होती है। इसी भावना के कारण अनुभव अपनी वाच्य से एक अर्थकाव्य करता है जिसे एक अर्थकाव्य और अनिर्वाचनीय अर्थकाव्य की अर्थकाव्य होती है। साहित्यकारों ने इसी अर्थकाव्य को 'अर्थकाव्य सहजक' कहा है।

रस निरूपणः—

रस का अर्थ है 'भावाच्च'—'भावाच्चत्वाच्च' जैसे शौन्धर्व और केव-अर्थकाव्य का एक अर्थकाव्य है, जैसे ही काव्य के रस का ही अर्थकाव्य अर्थकाव्य है। रस-विहीन काव्य, काव्य ही नहीं है। अर्थकाव्य की मीमांसा करनेवाले पहिले अर्थकाव्य हैं। उनके महाशुभार रसों के अर्थकाव्य भाव हैं। भाव मन के विकार हैं। वे वाच्य, अर्थकाव्य और अनुभव के द्वारा काव्यकाव्य की भाषा कराते हैं। अर्थकाव्य की अर्थकाव्य भाषा के अनुसार भाव को अर्थकाव्य के हैं। जो अनुभव अर्थकाव्य की अर्थकाव्य अर्थकाव्य में

विलीन हो जाते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं। इन्हें व्यक्तिचारी भाव भी कहते हैं। इनके विपरीत जो भाव रस का आख्यायन होने तक मन में ठहरते रहते हैं। रस उसे रस-निमग्न कर देते हैं, वे स्वामी भाव कहलाते हैं। स्वामी भाव ही रस लिये मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। संचारी भाव तो स्वामी भाव को पुष्ट करने लिए बोझे ही समय संवरण कर ली जाते हैं। संचारी भावों के रसका, अमति चिन्ता, भास जयता मम स्मृति अमय आदि तर्षीय प्रकार हैं।

रति हास श्लेष उत्साह, भय पुन्युत्था विस्मय और शोक वे आठ स्वामी-भाव हैं।

धेभावः—

मद्यति स्वामोभाव ही रस के प्रधान निपादक है, पर उसके रस-मयत्वा तक पहुँचने के लिए अनन्य आपरिचित तथा उद्दीप्त होना आवश्यक है। यह कार्य विभागों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जो विभाव भाव को आगत करते हैं उन्हें मार्तण्ड कहते हैं और उसे उद्दीप्त या शोध करने वाला विभाव 'विभाव उद्दीपन कहलाता है। सुन्दर पुष्पित और एकल उद्यान में शकुन्तला को देखकर कुण्डल के हृदय में रतिभाव जागरित होता है। मही शकुन्तला आनन्दन विभाव है और एकल पुष्पित उद्यान उद्दीपन विभाव। रतिभाव से मूल की कांति बढ़ जाती है, श्लेष से श्लेष कांपने लगते हैं। ये बाह्य लक्षण ही अनुभाव कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि भाव कारण और अनुभाव फल है। अनुभावों के द्वारा ही भाव की सूचना मिलती है।

अनुभाव तीन प्रकार के हैं—काविक मानसिक और सात्विक। स्वामी भावों के अन्तर्गत उत्पन्न अन्य भाव धमका मनोविकार मानसिक अनुभाव है। धार्मिक अनुभूति के मुख्य शारीरिक लक्षण काविक अनुभाव है और जब यही अनुभाव मन की अत्यन्त विज्ञानकारी बला से उत्पन्न होते हैं तब सात्विक अनुभाव कहलाते हैं। स्तन लेप, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु वैषम्य अथु आदि प्रथम सात्विक अनुभावों के प्रकार हैं।

रसास्पत्ति पर विविध विचार

भट्ट जोरहाट का उत्पत्तिवाद

भट्ट साहसिक ने कहा कि भगवन्मुनि का निष्पत्ति से अग्निप्राय उत्पत्ति और संयोग से आ। उनके अनुसार विभाव कारण वे और रस उनका फल। रस वस्तुतः पाठक आदि के भावों में उत्पन्न होता है। मम वेपथुवा, बाष्पी क्रिया आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे उनमें भी रस की प्रतीति होती है और प्रेक्षक या पाठक अमलकृत होकर धार्मिक हो जाते हैं।

इस मत के मानक में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहिल तो समय में नहीं जाता कि भावों का अनुकरण कैसे किया जा सकता है। वेपथुवा, क्रिया आदि बाह्य भावों

का ती अनुकरण सम्भव है, परन्तु स्वयं भावों का अनुभवजन्य अनुकरण संभव नहीं है। फिर भी यह संभव नहीं कि प्रच्छन्न या पाठक को जिस भाव का स्वयं अनुभव न हो उससे वह भाग्यद घटा सके। इसके अतिरिक्त रस को विभाव आदि का कार्य भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि काम अररुह के अन्तर्गत ही अस्तित्व में रह सकता है। पर रस तभी तक रहता है, जबतक विभाव आदि का अल्प्य इतना होता रहता है। फिर कारक और क्रम का पूर्वापर सम्बन्ध रहता है, किन्तु विभावों का रसतम और रस का आस्वादन दोनों साथ ही होते हैं। इसलिए नीलमत्त का मत प्रचलित नहीं मान पड़ता।

श्री शङ्कर का अनुमितिवादः

शङ्कर धरत के 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति मानते हैं। उनके अनुसार विभाव अनुव्यक्त है और रस अनुमान्य। इन्हीं को बन्ध और कबल भी कहते हैं। नायक में स्वाधी भव रहता है। विभाव अनुभाव आदि से, विभावो बहु बड़ी कुतमता के अविभाव करके विद्याता है, वट में भी उत्तम अनुमान कर निवा जाता है। इस तरह प्रेक्षक उस वट को ही नायक समझ लेता है। इस सुखर भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान से ही वह उसके भाव समझ लेता है और उसके उस भाव के तीव्रता से अत्यन्त होकर आनन्द प्राप्त करता है। यही आनन्द स्वाद वा रस है।

इस मत के विचार भी कुछ आक्षेप हैं। सबसे प्रथम तो हममें इस उक्त की अच्युतता को यह है कि अल्प्य भाव से ही अत्यन्तपूर्ण आनन्द विद्य सकता है वह अनुमान के नहीं। दूसरे अल्प्यवाद की तरह अनुमितिवाद में भी रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती। यदि मान भी सी बात तो प्रथम होना कि उसने दूसरे व्यक्ति के भावों की कौन समझा बिना। जैसे कि अर्द्ध नायक ने कहा है—'यदि रस की अच्युतता अल्प्य अस्ति में है, और वह उत्तरन है, तो प्रेक्षक स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता।'

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि विभावानुभाव आदि के द्वारा नायक के स्वाधी भाव की प्रतीति होती है, जिससे प्रेक्षक के हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि मैं ही नायक हूँ। इस प्रकार प्रेक्षक का हृदय अल्प्य नायकत्व से ध्या जाने पर यह अनुभव करने लगता है।

इस मत के अनुसार आनन्दन के प्रति नायक का स्वाधीभाव प्रेक्षक के हृदय में सर्वथा विपना रूप में अद्य होता है और आत्मा का अत्यन्त वीर्यम असे प्रकटित करता है, जिससे रसकर्म में अतका आनन्द विद्यता है। पर यह मान लेने पर यह इन किन्ती वृत्त अस्तित्व या देवता आदि की बात सोचते हैं, तो बड़ी कठिनाई अल्प्य हो जाती है। जैसे सीता के प्रति हमारी चिरकाल से मातृ भावना है।

राम के हृदय में उसके प्रति जो रतिभाव उदय होता है उसे हम अपने को कल्पित राम मानकर अपने हृदय में उदय होने दें तो सदाचार का बला बूट बायगा और हमारे परम्परागत दुःख भावना के कारण हमारे हृदय में राम की तरह सीता के प्रति रतिभाव उदय ही नहीं हो सकता। दूसरे यदि प्रेक्षक नायक के ही मातों का अनुभव करता है, तो उस सदैव धान्यरूप ही नहीं माना जा सकता क्योंकि नायक के शोकमय होने पर प्रेक्षक भी शोकमय होगा, जो मानव का नहीं पर बुद्ध का प्रतीक है।

मट्टनायक का भक्तिवाद :

मट्टनायक प्रेक्षक के हृदय में उस की अस्तित्वि मानते हैं। उनके अनुसार स्थायीभाव से रम बनने तक की क्रिया में तीन शक्तियों का योग रहता है। ये शक्तियाँ हैं — अभिधा भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काम्य के सामान्य और धार्मिकार्थिक अर्थों का ज्ञान होता है। भावकत्व के द्वारा विमान अनुभाव धारि व्यक्ति-संबंध से मुक्त होकर मनुष्यभाव के अनुभव के योग्य हो जाते हैं। यह शक्त्युत्पत्ता को केवल स्त्री और दुष्यन्त की केवल पुरुष मानता है। इस भावना से स्थायीभाव मनुष्यभाव के योग के योग्य बन जाता है। त्रिभु क्रिया के द्वारा इन प्रकार साधारणहीन स्थायीभाव का रस-रूप में योग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। यह योग ही निष्पत्ति है। यह योग राजस और तामस योग नहीं पर सूक्ष्म मानिक योग है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य बुद्ध समय के लिए भवबंधनों से मुक्त होकर साधर्म्य जीवन्य जगत् में प्रवेश पा जाता है। इी से यह ध्यान्य ज्ञानार्थ सहोत्तर कहा जाता है।

अभिभव गुण का अभिभ्यक्तिवाद :

मट्टनायक के मत पर यह प्राप्ति की जाती है कि काम्य की तीन शक्तियों को मानने के लिए कोई अपार रूप प्रमाण नहीं है। मट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व से तर्क क्रियाओं को मानते हैं। अभिनवगुण्यार्थ के अनुसार इन दोनों क्रियाओं का नाम व्यञ्जना और ध्वनि से चल जाता है। भरतमुनि के अनुसार जो काम्यों को भावना का विषय बनावे वे ही भाव है। इन प्रकार भावकत्व तो भावों का धरना गुण है ही। अभिनवगुण्य के अनुसार काम्याय से तात्पर्य उक्त अर्थ से है जिसमें काम्य का धान्य निहित है। सचार्थियों से मुक्त होकर स्थायी भाव ही साक्षात्पुत्र काम्याय के अस्तित्व का कारण है। अतएव काम्याय ही रम का भावक है। इसलिए भोजकत्व को पुरुष शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस काम्याय का योग या साक्षात्त्व ही रस है।

मनुष्य भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पढ़कर त्रिभु भावों का अनुभव करता है, वे धान्यरूप में उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं, पर धामा पर अज्ञान का

धावरण होने से मनुष्य को उतना जान नहीं होता। जब निगूठ अभिनय के द्वारा विषयानुभाव के प्रदर्शन से उस प्रज्ञान के पर्वे कष्ट बात पर से अभिव्यक्त हो जाते हैं और इस प्रकार धारमार्ग के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है, तब वे रस ग्रहण करते हैं।

यद्यपि रस का धारण विषयव्यञ्ज्य है तथापि विषयानन्द से उसका कोई संबंध नहीं इतीति। उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है क्योंकि मनुष्य उसका धारधारण अपने व्यक्तिगत को मुत्कार—मनुष्यमान होकर करता है। यह अभिनय पुष्ट का मत ही उनके परचाए के अन्य भाषाओं में भी स्वीकार किया है।

असकार

'रमणीय धम के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में धर्मेकारों की विशेष रूप से योजना हुई है और रस को तो काम्य की धामा ही करा गया है। काम्य के धर्मेकार मुक्त धम पाठकों के लिए विशेष आवश्यक बन जाते 'और उनसे एक प्रकार का विशेष शोभ्य दृष्टिपोषण होने लगता है। धर्मेकार-योजना का परिणाम यह होता है कि इतने विश्व कियी विशेष धर्मोपेय से चमत्कृत हो जाता और काम्य रसमय होकर धर्मिक धारधारण बन जाता है। इस प्रकार धर्मेकार रस के सहायक है पर धर्मिक विकास होने पर धर्मेकार और रस के पुनरुत्पन्न धम धमों। पर फिर भी धर्मेकार काम्य-धर्म के लिए अभिवाय नहीं समझे जा सकते। कभी-कभी तो धर्मेकारों के धार से कविता नामिनी का स्वाभाविक रूप ही निकट हो जाता है।

भाषा

मुक्त काम्य समीक्षक भाषा को भी काम्य का उपकरण मानते हैं पर वास्तव में वह काम्य का उपकरण नहीं कहा जा सकता। वह काम्य का अभिन्न धम धारण है। वह काम्य की अभिव्यक्ति ही भाषा का प्रयोजन है। भाषा विज्ञान के सिद्धांत के अनुसार साहित्यिकता की अभिव्यक्ति के धाम ही भाषा का विकास होता गया। इस प्रकार वह सर्वत्र से साहित्यिकता का ही सामन रही है पर काम्य का उपकरण नहीं बन सकी।

कविता और अर्थ

अधिकतर काम्य शास्त्रों में अर्थों का स्थान नहीं है। इसका कारण एक तो अर्थों को अपनी अपरिमित संख्या है और दूसरे काम्य-साधना वास्तव में शब्द साधना है। अतः उसमें स्वर-साधना विषयक व्यवस्था का संबंध प्रकरण स्वाभाविक के कारण कथित नहीं जान पड़ा। रस काम्य से निष्पन्न होता है, पर काम्य में समीत सहायक का ही रूप कर सकता है, यदि नहीं प्रमाण बन काम्य तो कविता का व्यक्तित्व ही यह हो जायगा। सिद्धांत रूप में अर्थों की अभिव्यक्ति

का बंधन करते हुए भी उसकी भावरयुक्तता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि काव्य-साहित्य एक वही भाषा में बनने लगा है और अन्य संगीतरास के अनुसार ही निर्मित है। पाश्चात्य भाषाय भी कविता और छंद का प्रयोग्य संभव मानते हैं। जागृतन कविता को पद्यमय निबन्ध मानते हैं। कारलाइन कविता को 'संगीतमय विचार' कहते हैं। वह कहते हैं कि कविता मनोवेदमय और संगीतमय भाषा में मानव-व्यक्तिकरण की पूर्ण और कलात्मक व्यंजना करती है। इससे कविता और छंद का बनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है पर पद्यमात्र ही कविता नहीं कहा जा सकता यह स्मरणीय है।

मानवमान संगीत की महत्ता स्वीकार करता है। मंत्र-मय वायु के संचार, पक्षियों के कलरव झरनों की कमकल ध्वनि, पक्षियों का ममर स्वर, नदियों का प्रवाह, पहाई तक कि समुद्र के गहन में भी संगीत है और इसीलिए इस संगीत को सुनकर मनुष्य धार्मिक का अनुभव करता है। जो संगीत का रसास्वादन कर चुके हैं वे मुक्तबन्ध से संगीतमय भाषा की प्रशंसा करेंगे और उससे प्रभावित होंगे। इसीलिए कविता और संगीत का सम्बन्ध आवश्यक है। पर यह भी देखा जाता है कि छंदों की कड़े-जड़ित परंपरा को काव्य पर मात्र देने से कविता की भाव-व्यंजना में प्रत्येक बार बाधाएँ भी उपस्थित होती हैं। कभी-कभी कविता और संगीत में विरोध भी उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में छंद के नियमों में छिपितता कर देना अनुचित नहीं है। छंद का बंधन नहीं तक उपयुक्त है जहाँ तक वह कविता को संयुक्त या मुक्त न बना सके।

इतिहासकों के मतानुसार कविता और संगीत का संबंध अत्यन्त प्राचीन है। सृष्टि के धारम से ही मनुष्य ने अत्यन्त संकीर्ण और मामिक भावों की व्यंजना संगीतमय भाषा में ही की है। इस संबंध के कारण हमारे मनोवेग धार्मिक तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठते और हमारे भावों तक में मधुमत् परिचर्जन हो जाता है। हम हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी देखते हैं कि संगीतमय भाषा में पहिले प्रथम निर्मात्र हुए और पद्यहीन भाषा पद्य का जन्म उस समय हुआ जबकि काव्य का पर्याय विकास हो चुका था। इतना ही नहीं पर संचार का प्रादिप्रथम अङ्गद को भी रचना पद्य में ही हुई है। इससे मनुष्य का धारम से ही संगीतप्रिय होना स्पष्ट है।

कविता पद्यमय भी हो सकती है और पद्यबद्ध सभी पंक्तियों को कविता का समता प्राप्त होना भी आवश्यक नहीं है पर पद्यमय कविता यदि संगीतमय भी हो, तो समता प्रभाव और महत्त्व निरूपण ही बड़ सकता है। मत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता के लिए छंदों के बंधन धर्मियाय तो नहीं हैं, पर उसके स्वरूप और भाषा में विवृति न घाटे हुए यदि वह व्यवस्था की जा सके तो सर्वोत्तम है।

कवि करवना ।

काम्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है । जो तत्व उपदेशकों और धर्माचार्यों की तर्कावली में निहित होकर संसार की विचित्र के कारण बन गए हैं उन्हें कवियों की बाड़ी में पाकर जनसमाज धारण से पी गया । विज्ञान में जो बुद्धि है, बर्तन में जो बुद्धि है, वही कविता में कल्पना है । कल्पना के साथ कवि की कला है । कवियों ने अपनी कल्पना के बस से कितने ऐसे महान पात्रों की सृष्टि की है, जो संसार के हृदय पर प्रभाव छोड़कर गए हैं, और करते रहेंगे । कवि की कल्पना संसार की प्रायः समस्त उज्ज्वल, प्रकाश और ऊर्जस्विल भावनाओं को पुष्ट करनेवासी उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवासी सिद्ध हुई है । कवि अपनी कल्पना के इन्द्रिय से सहस्रों वर्षों तक संसारवासी समाज के मन पर छापन करता है । वह मानव हृदय के विहासन पर अभिहित हो अपनी प्रमुखा का विस्तार करता है और लोक की अज्ञानता उसके अंधों का नित्यप्रति समीपक करती है ।

कवि कल्पना की इतनी प्रमुखा है पर उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है । कवि-कल्पना का उत्पन्न होना आवश्यक है और वह उत्पन्न-भावना दुःसाध्य है । प्रकृति की विस्तृत और दुःखमिषि से उत्पन्न कल्पना के रत्न चुन लेना और उन्हें काम्य-रूप में इस प्रकार सजाकर प्रस्तुत करना कि वह लोक-हृदय का हार हो काम कोई साधारण काम नहीं है । पर यहाँ कवि-कल्पना के उत्पन्न का स्पून धर्म लेना उचित नहीं है, यह उत्पन्न तो विज्ञान में ही देखा जा सकता है । कविता ने उत्पन्न से धर्मिण्य उस निष्कपटता से—जिस प्रकृत्युद्धि से है जो हम अपने मनोभावों या मनोवेगों का धर्मिण्य करने में उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उनके कारण हमें जो दुःख, सुख, आशा, निराशा, मय धारणका आश्चर्य अज्ञात मन्त्रिण्य धर्मि के मात्र उत्पन्न होते हैं, उनकी धर्मिण्यक्ति में प्रकृतित करते हैं । कवि अपनी कल्पना के उत्पन्न द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उसकी सुन्दरता, उत्पन्न रहस्य, उसकी मनोमुग्धकरिता धर्मि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है उसे कविता की बुद्धि से स्पष्ट करके विवक्षता है । यही कविता-उत्पन्न जीवन की—मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है ।

काव्यगत सत्य

धन्य काम से हमारे कवि धार्मिक वैज्ञानिक तथा अन्य अनेक विज्ञान विस्तार सत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करते जा रहे हैं । इन सबके अन्वेषण का अन्वेषण मानव-कल्पना है । वे ऐसे सत्य को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, जो मानव के कल्पना और उत्पन्न की आधाररक्षिता बनकर मानव-जगत को सदैव सत्य की ओर अग्रसर करता रहे । धार्मिक का सत्य मानव में आध्यात्मिक भावनाओं

न विकसित करता है, वैज्ञानिक का सत्य हमें भौतिक जगत की उपलब्धियाँ सुलभ करता है, किन्तु कवि का सत्य हमारे भावना-जगत को परिष्कृत और प्रभावित करता है। काव्य कवि की कल्पना की सृष्टि है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी वह कल्पना एक मिथ्या जगत की ही सृष्टि करती है। उसकी कल्पना का सत्य भी चिरन्तन सत्य का ही एक रूप होता है। कवि सामान्य जीवन से ऊपर उठकर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं के सामर का मन्त्र कर एक ऐसे सत्य को अपनी कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष करना चाहता है, जो उसके अपने जीवन का नहीं पर मानव मात्र के जीवन का सत्य होता है। वह प्रबन्ध है कि इसका यह सत्य सामान्य सौक्य सत्य से भिन्न होता है, इसीलिए वह असाधारण सत्य है। उसका इस सत्य पर साधारण काव्य भी असाधारण होता है, इसीलिए वह जन सामान्य पर असाधारण प्रभाव डालने में समर्थ होता है। डा० श्यामसुन्दर राय ने लिखा है—'काव्य के वाक्य, पद यादि असाधारण रूप में एक संश्लिष्ट मन्त्र ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का मानन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के विद्वानों ने भौतिक प्रानन्द कहा है।

काव्य का सत्य देश-काल की सीमाओं से बाधित नहीं होता उसका एक मात्र व्यापार मानव का भावना-जगत ही है। कवि इसी सत्य के रूप में मानव भावनाओं की वास्तविक अभिव्यक्ति करता है। उसका यह सत्य प्रकृत सत्य की प्रपञ्चात्मिक स्वामी चिरन्तन और शरद्वत होता है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की दृष्टि केवल सत्य के तथ्यों तक ही प्रबिन्द करती है किन्तु एक कवि की दृष्टि तथ्यों से आगे बढ़कर सत्य के समस्त सौरभ तक पहुँच उस सौन्दर्य को अपने अन्तःकरण द्वारा प्राप्त करने को धातुर होता है। कवि अपनी संवेदनशील दृष्टि से एक ही वस्तु में अनेक रूप देखने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ प्राण-कामी विकसित पुष्पपत्रि के अक्षय में दूरवर्तमान घोस बिन्दु कवि की संवेदनशील कल्पना के अनुसार मुक्ता भी है, और धनु भी। सामान्य दृष्टि से व केवल घोस-बिन्दु है। यही प्रकृत सत्य है किन्तु कवि का सत्य इस सत्य से भिन्न है। वह मानन्द प्राप्त स्थिति में उनके मुक्ता होने की कल्पना करता है और कस्तुर एवं शोकर म स्थिति में वह उनके घोस बिन्दु अथवा मुक्ता न होकर धनु होने की कल्पना करता है। इस प्रकार कवि अथवा काव्य का सत्य प्रकृत सत्य से भिन्न होते हुए भी मनोभावना-जगत में एक चिरन्तन सत्य होता है। यही काव्यगत सत्य का स्वरूप है।

काव्य के दाप

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के दोषों पर विशद प्रकाश डाला है और उनके द्वारा प्रशस्त दोषों से पूर्य काव्य को 'अष्ट काव्य' की उभा दी है।

कवि कल्पना :

काल्प्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है। जो तब उपदेष्टाओं और वर्मावामों की सम्भावना में निहित होकर संसार की विरहित के कारख बन गए हैं उन्हें कवियों की वाली में पाकर जनसमाज आनंद से भी बना। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से फिलने ऐसे महान पार्श्वों की दृष्टि की है, जो संसार के हृदय पर घनाच शासन कर रहे हैं, और करते रहेंगे। कवि की कल्पना संसार की प्रायः समस्त उज्ज्वल, लघाता और ऊर्ध्वस्थित भावनाओं को पुष्ट करनेवासी उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवासी सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना के दृष्टि से सड़कों बरों तक संसारभ्रमारी समाज के मन पर शासन करता है। वह मानव हृदय के सिद्धांतन पर अधिष्ठित ही अपनी प्रमुता का विस्तार करता है और लोक की भंडारमि उसके बरलों का विल्यप्रति अभियेक करती है।

कवि कल्पना की इनकी प्रमुता है पर उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। कवि-कल्पना का सत्य होना आवश्यक है और यह सत्य-साधना दुःसाध्य है। प्रकृति की विस्तृत और दुःखम निमि से साथ कल्पना के एत नुन सेना और उन्हें काल्प्य-रूप में इस प्रकार उजाकर प्रस्तुत करना कि वह लोक-हृदय का हार हो जाय कोई साधारण काम नहीं है। पर यही कवि-कल्पना के सत्य का स्मृत पर्व सेना अधित नहीं है, यह सत्य तो विज्ञान में ही हैका वा एकता है। कविता में साधना से अभिप्राय उस निष्कपटता से—उस अन्तर्दृष्टि से है, जो ह्य अपने मनोमाओं या मनोवैभों का अभिव्यंजन करने में उनका ह्य पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रामाण्य करने में तथा उनके कारख हमें जो दुःख सुख, आशा निराशा, मय पारंक्ष्य आरंक्ष्य भंडा, मक्ति धारि के साथ उत्पन्न होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में प्रकटित करते हैं। कवि अपनी कल्पना के सत्य द्वारा वस्तु का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उसकी सुन्दरता उसका रहस्य, उसकी मनोमुखकारिता कवि का ह्य पर जो प्रभाव पड़ता है उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट करके दिखलाता है। वही कविता-द्वारा जीवन की—मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन की—कल्पना और मनोवैभों के रूप में व्याख्या है।

काव्यगत सत्य

समस्त काम से हमारे कवि दार्शनिक वैज्ञानिक तथा प्रायः जोक विज्ञान निरन्तर सत्य का आश्रय करने का प्रयास करते पा रहे हैं। इन सबके अन्वेषण का उद्देश्य मानव-कल्याण है। वे ऐसे सत्य को प्रामाण्य करना चाहते हैं, जो मानव के कल्याण और उत्थान की आधारशिला बनकर मानव-जगत को सर्वत्र उत्थान की ओर अग्रसर करता रहे। दार्शनिक का सत्य मानव में आध्यात्मिक भावनाओं

का विकास करता है, वैज्ञानिक का सत्य हमें भौतिक जगत् की उपलब्धियाँ सुलभ करता है, किन्तु कवि का सत्य हमारे मानना-जगत् को परिष्कृत और प्रभावित करता है। काव्य कवि की कल्पना की सृष्टि है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी यह कल्पना एक मिथ्या जगत् की ही सृष्टि करती है। उसकी कल्पना का सत्य भी चिरन्तन सत्य का ही एक रूप होता है। कवि सामान्य जीवन से ऊपर उठकर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं के सागर का मन्थन कर एक ऐसे सत्य को अपनी कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष करना चाहता है, जो उसके अपने जीवन का नहीं पर मानव मान के जीवन का सत्य होता है। यह प्रश्न है कि इसका यह सत्य सामान्य सौक्य से भिन्न होता है, इसीलिए वह असाधारण सत्य है। उसका इस सत्य पर आधारित काव्य भी असाधारण होता है, इसीलिए वह जन सामान्य पर असाधारण प्रभाव डालने में समर्थ होता है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—“काव्य के वाक्य, पद प्रादि असाधारण रूप में एक चरित्रकृत रूप स्थिति करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का मानव प्रदान करता है, जिसे संस्कृत के विद्वानों ने प्रसौकिक धानन्द कहा है।

काव्य का सत्य देश-काल की सीमाओं से बाध नहीं होता उसका एक मात्र आधार मानव का भावना-जगत् ही है। कवि इसी सत्य के रूप में मानव भावनाओं की वास्तविक अभिव्यक्ति करता है। उसका यह सत्य प्रकृत सत्य की अपेक्षा अधिक स्थायी चिरन्तन और शाश्वत होता है। वास्तविकों और वैज्ञानिकों की दृष्टि केवल सत्य के तथ्यों तक ही प्रविष्ट करती है किन्तु एक कवि की दृष्टि तथ्यों से जागे बढ़कर सत्य से समस्त सौरभ तक पहुँच उस सौन्दर्य को अपने काव्य द्वारा प्रत्यक्ष करने को प्रसुर होता है। कवि अपने संबन्धनात्मीय दृष्टि से एक ही वस्तु में अनेक रूप देखने में समर्थ होता है। जहाँ-जहाँ प्रातः कामीन विकसित पुष्पराजि के अक्षय में दुरयमान घोंस बिन्दु कवि की संबन्धनात्मीय कल्पना के अनुसार मुक्ता भी हैं, और अमृ भी। सामान्य दृष्टि से वे केवल घोंस-बिन्दु हैं। यही प्रकृत सत्य है किन्तु कवि का सत्य इस सत्य से भिन्न है। वह मानन्द मन् स्थिति में उनके मुक्ता होने की कल्पना करता है और अमृ एवं शोकम स्थिति में वह उनके घोंस बिन्दु अक्षय मुक्ता न होकर अमृ होने की कल्पना करता है। इस प्रकार कवि अथवा काव्य का सत्य प्रकृत सत्य से भिन्न होते हुए भी मनोभावना-जगत् में एक चिरन्तन सत्य होता है। यही काव्यमय सत्य का स्वरूप है।

काव्य के रूप

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के रूपों पर विशद प्रकार का मत है और उनके द्वारा प्रवृत्त रूपों से पूरे काव्य को 'अष्ट काव्य' की उता ही है।

दिता ही चित्र उपस्थित करने का प्रमाण करता है। उप्यात्मक तत्त्व से अभिप्राय उन भावों से है, जिनको कवि या लेखक का काव्यविषय स्वयं उठके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह अपनी कवि द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संभार करना चाहता है।

मधुमती भूमिका और पर प्रत्यक्ष

मधुमती भूमिका चित्र की वह विशेष अवस्था है, जिसमें चित्रण की सहा नहीं रह जाती। उम्ह्र जब और जान तीनों की पुनक प्रतीति चित्रक है। इस पारंप्रियानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंधी और संबंध विहीन हो जाते हैं, केवल स्तुमान का प्रामास्य विमता है, उसे परप्रत्यक्ष या निबिक्त समापति कहते हैं।

रस और समाधिकरण :-

कवि जब मधुमती भूमिका में प्रवेश कर लीन वृष्टि आरम्भ करता है और अपनी ही वृष्टि पर श्रुत होकर आप ही रीकता है तब उसकी समस्त कृतिवा एक मन में समाहित हो जाती है और उसकी रचना भावों का संघीत बन जाती है। मन को यह स्थिति प्राप्त होने पर ज्ञान का आवरण हट जाता है। इस अवस्था में वह अनुभविका और अनुभव प्रपका प्रक्य और दरब बनें हैं। इसीलिए निरन्तर चित्र को प्रत्यक्ष स्वरूप का अनुभव करने के लिए किसी बूसरे अनुभविका की आवश्यकता नहीं होती। प्रारमा के इसी प्रान्दस्वरूप को रस कहते हैं। जब कवि की तरह कोई अन्य सङ्ख्य भी उठी भूमिका का स्पष्ट करता है तब उसकी भी कृतिवा उसी प्रकार एक तान—एक लव हो जाती है और उसे भी वही घनीत सुनाई देने लगता है। उसे इस अवस्था में पहुँचने की शक्ति कुछ ही कवि की वृष्टि की विशेषता से और कुछ अपने संस्कार से प्राप्त होती है।

काव्य-भेद :-

काव्य को हम दो भावों में विभाजित कर सकते हैं — एक तो वह, जिसमें कवि अपनी अंतःकाल्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद विषय को ईक निकालता है और दूसरा वह अपनी अंतःकाल्मा से बाहर जाकर सांसारिक कर्मों और उर्षों में पैठता है और जो कुछ ईक निकालता है, उसका वर्णन करता है। पहिले विभाग को व्यक्तित्व-प्रधान अथवा प्राथमिकक कविता और दूसरे को निरव्यप्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं, यद्यपि इन दोनों विभागों की ठीक सीमा निर्धारित करना कठिन है।

प्राथमिक कविता में कवि अपने भावों का अभिव्यंजन करता है, पर वास्तव में वह मानव-जाति की जाबामिव्यक्ति होती है और इस प्रकार उसकी व्यक्तित्व प्रधान कविता प्रतिनिधिस्वरूप होती है। ऐसी जाबामिक कविता में भागवतीय

प्रकृतियों को प्रचुरता रखती है। यदि कवि का यह काव्य हमारे मन में यह भाव उत्पन्न कर सके कि उच्च भावनाओं का व्यंजन स्वल्प ही हताशिकता के साथ किया गया है तथा उसकी कल्पना और भाषा में सुन्दरता एवं विशालता है तो कवि-प्रमाण सफल कहा जायगा। ऐसी कविता साधारण भावव्यंजना से धारो बढ़कर कर्मका एते चित्रम का रूप धारण कर लेती है जिसमें विचारों की बहुलता रहती है।

वर्धमान-प्रधान कविता की विशेषता यह है कि उसका कवि विचारों और मनो-मात्रों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उसके चिन्तन सांसारिक भाव और कार्य होते हैं। कवि अंतःकरण में प्रवेश न कर वाङ्मय में स्वयं का मिसला है और वहीं से प्रेरित अपनी कविता के विषय चुनता है। उसका अनुभव परोक्ष होता है। कवि इस प्रकार की कविता में अंतर्हित रहता है, वह भाषात्मक कविता की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता।

विषय-प्रधान कविता भी मुख्यतः दो भागों में विभाजित की जा सकती है—
संक्षिप्त और महाकाव्य। संक्षिप्त में किसी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध कथानक का को मुख्य कथा बनाकर बयान किया जाता है। संक्षिप्त का साधारण काल्पनिक भी हो सकता है किन्तु महाकाव्य में किसी महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। राम चरित मानस महाभारत आदि सर्वाधिक उच्चकोटि के महाकाव्य हैं।

भाषाविश्लेषण काव्य प्रायः गीतिकाव्य में ही होता है। छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावनायुक्त भावनिर्देशन स्वाभाविक ही जान पड़ता है। ऐसे पदों में शब्द-साधना के साथ ही स्वरसाधना भी ही जाती है। उनमें वर्णरसता का प्रभाव और कोमल कान्त परावर्तों की मधुरता की प्रधानता रहती है। सुरमातर विद्यापति की परावर्तों आदि हिंदी के देते ही गीतिकाव्य हैं। काव्य का एक प्रकार 'मुक्तक-काव्य' ही है। किसी एक भाव भावना या विचार-कर्म से कम पंक्तियों में प्रकट कर देना ही मुक्तक काव्य है। यही विहारो बन्ध आदि के दोहे, गिरधर की कश्मिरी बँतल के धारण आदि इसके उदाहरण हैं। प्रायः हिंदी में मुक्तक काव्य की परम्परा एक मये रूप में विकसित होती विचारों के रही है। इस वर्धमान कालीन विचार पार में वक्र-वृत्त उच्च काव्य का प्रभाव विद्यार्थी देता है।

निर्गुण उपासना का उद्गम और विकास

निर्गुण की भावना :—

द्वितीय के काव्य साहित्य में 'निर्गुण' की भावना जैसे ही पत्रहवीं शताब्दी में ब्रिस्टाई दी हो किन्तु हमारे देश के सिद्धान्त कोई नई भावना नहीं है। इस देश के भाग्य ने सर्वत्र ही परलोक की उपासना में अपने जीवन की स्थापना स्वीकार की है। भारतीय जीवन में लक्षित होनेवाली धार्मिक प्रवृत्ति वैदिककाल से ही एक प्रबलप्रवृत्ति है प्रबलित होनेवाली लक्षित की तरह प्रबलित होती जा रही है। ऋग्वेद के 'नारदीय सूक्त' के अनुसार सृष्टि के काम के पूर्व ही सर्वत्र जल ही बल था। जलमें सद् और असद् की कोई स्थिति नहीं थी। इसी स्थिति में एक 'पुस्य' आकर सृष्टि की रचना करता है। 'पुस्य सूक्त' में जल पुस्य को सकलविद्यमान् और सर्वव्यापक कहकर उसके पुच्छों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस सृष्टि-निर्मिता धारि पुस्य को विमुक्तमयी सृष्टि से परे विमुक्तमयी और संसार से निर्लिप्त ब्रह्मावा मया है। यही ब्रह्म है, जिसके चिन्तन में वैदिक ऋषि अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। यही ब्रह्म-चिन्तन की धारा बरों से अपलिप्तकाल तक प्रबलित होती आती है।

ऋग्वेद-असूत ब्रह्मचिन्तन-धारा उपनिषद् काल में अधिक विकसित हो गई है। सम्भवतः श्वेताश्वतथोपनिषद् ने ही सर्वप्रथम 'ब्रह्म' को 'निगुण' की संज्ञा दी है और उसे सर्वव्यापी एवं सबभूतारमा में विकास करने वाला कहा है—

एको देवः सर्वभूतेषु पूज्यः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
 तर्माभ्यश्चः सबभूतानिवासी तासी भेदा केवती निगुणरूप ॥

श्वेताश्वतथोपनिषद् ११४

कैतव्योपनिषद् में इस निर्गुण ब्रह्म को अत्यन्त सूक्ष्म^१ कहकर उसे मेघ, मग, आली की पृष्ठ के परे ब्रह्मावा है।^२ यह ब्रह्म न स्मृत है न बुझत न आकाशक, न वायुक न आपावुक न अन्धकारपूर्ण^३ फिर भी यह विरह की समस्त

१ कैतव्योपनिषद् ११४

२ श्वेताश्वतथोपनिषद् ११४

वस्तुओं में व्याप्त है । उसार के समस्त बड़-बेटन को इनो के कारण स्थिति^१ है । वह मन में बग़लत् एक होकर भी समस्त जोशों में विदित रूपों में व्याप्त है ।^२

जो 'निरंजन' भावपंथियों को भावना का मूलाधार है, उसे भी श्वेताश्वत्थरोपनिषद् ने "निगुण की संज्ञा दी है :—

निष्कलं निष्कलं शान्तं निरवयु निरंजनम् ।

अमृतम् परं सत् इत्येवमिवावतलम् ॥

शास्त्र के प्रवचन सुन में भी प्रकृति को त्रिगुणात्मक बड़ और वर्यमान तथा बड़ को निगुण विचार इत्य और उदासीन कहा है । भीमवृमनवृणीता में यह 'निमुन बड़' की भावना उपनिषदों से भी अधिक विकसित रूप में मिलती है । उसमें कण्ड अपने को धर, धरिनाशी सर्वव्यापी विचार और इन्द्रियातीत बड़कर पूर्णता निगुण और परम धरर कहते हैं । इन प्रकार जिस निर्गुण बड़ की भावना का धारण क्रमों से हुआ बड़ी क्रमों विकसित होती हुई पन्द्रवी शताब्दी के हिन्दी क कान्त-साहित्य में धरतीय होती रिचार देती है ।

नाथपंथ और निगुण भावना :—

पहिले कहा जा चुका है कि भावपंथियों की भावना का मूलाधार 'निरंजन' है । यह 'निरंजन' कान्तकर्मियों के निगुण से निघ नहीं है । बौद्धधर्म के पतनकाल में बख्तान शाखा का बग़ल हुआ । मगवान बुद्ध ने जिन पंचमकारों को शास्त्र बतलाया था, वे ही बख्तानिया क सर्वाधिक प्रिय पशय बन गये । उनक लिए नारी मुक्ति का धारण पुनर मुक्ति का उपाय और धरिय धमूत बन गई । इसी समय नाथपंथ के प्रमुख प्रवर्तक वोरकनाथ का धरिर्भाव हुआ । उन्होंने पर्वतति की विचारपाय के धारण पर 'हठयोग' की अपनी भावना का प्रमुख धरं बनाया और बख्तानियों क भावना का धरं धारण किया । उन्होंने हठयोग क साथ ही बौद्ध सिद्धों के कुछ धरकारों को भी स्वीकार कर लिया था । परिछामस्वरूप उनकी हठयोग धारणा बख्तानियों क प्रभाव के कारण पतन की योग जानेवामी धरता के लिए बड़ी धारणक और उपयोपी मिड हुई । उन्होंने उसे इनका धारणक बना दिया कि निर्गुणवादी कान्त कबीर तक इनके धरभाषिण न रह सके । उन्होंने "मय" की स्थिति प्राप्त करने के लिए धारणनाथ की "बठधनमेदन" किया तथा 'सहधार' की धारणधरता स्वीकार की, धर नाथपंथ का पलायनधार धरस्वीकार कर दिया । उन्होंने अपने निर्गुण पंथ की मूल भावना वोरकनाथ से ही धरण की धर

१. हीरदिनर १११

२. कान्तकिन्दिनर १२ धीर्धन ।

उसका कामाख्या कर एक नये रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया। बर्मांडरों तथा पंडितों को स्वाभपरावा की प्रशंसा का लंडन दिनों और नाबर्मांडियों ने भा किया था। यही कबीर ने भी किया। उन्होंने मुक्ति और स्मृति को अपने कामा के आभूषण शून्य गुण को अपना आसन ब्रह्मांड और एत को सिध्दी और पूषा को अपना बटुभा बना लिया। तीनों काम उनके नाटक बन पय —

सुरति सिद्धिहि दृष्ट कंठी मुत्र परमिति बाहरि सिद्धा ।
 मुन गुफा महि आसणु बैसणु कजप बिबरत्रिव पंचा ॥
 सख ब्रह्मांड मति सिंगा मेरा बटुभा जगु मस्मापारी ।
 वादी आगा त्रिपलु पकटी भै कूटे हाई पसारी ॥

नाबर्मांडी साधना में शून्य का बड़ा महत्व है। उनके मतानुसार साबक शून्य को धारणा से और धारणा को शून्य में स्थित करके निश्चित हो जाता है। (इष्टवेष प्रदीपिका) यह और उपनिषद् के अनुसार यही ब्रह्म और धारणा का समन्वय है। इसी समन्वय को नाबर्मांड धर्मिण मानन्दकोश कहता है। यह शून्य वास्तव में निर्बुद्ध निराकार और निष्कार ब्रह्म का ही पर्यायवाची है। नाबर्मांडी इस शून्य की सत्ता वैशान्तियों की तरह वर्णन देते हैं —

अन्तः शून्यो वहिः शून्या, शून्यो कुंभ इवाम्बरे ।
 अन्ता पूर्णो वहिः पूर्णो, पूर्णोः कुंभ इवासरे ॥

वैशान्तियों के मतानुसार ब्रह्म में तीन हो जाना ही मोक्ष है। यही मान्ता उपभुक्त पण्डितों में भी व्यक्त हुई है। निर्बुद्धपंथी सन्त कबीर, बगु धारि भी यही कहते हैं। —

अहाँ नहीं तहाँ कुछ जानि,
 अहाँ नहीं तह सेहु पकानि ।
 नाही देखि म अइय भागि,
 अहाँ नाहि तहाँ रहिय जागि ॥

कबीर

नाही तहाँ तें सय किया, फिर नाही हें जाह ।
 बाहु नाही होत्र रहु साहिब सौ त्यो आह ॥

बाहु

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों और उपनिषदों का निर्बुद्ध नाबर्मांडियों और निर्बुद्धवादी कवियों के काम म कहीं निरंतर और कहीं शून्य के रूप में

विद्यमान है। नाचपंथी और निर्गुणशरी सन्तों कबीर, बाबू घाबि ने इस निर्गुण को अत्यन्त नाम से भी संबोधित किया है।

यहाँ यह बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा कि नाचपंथ और निर्गुणपंथ दोनों में "गुरु" को बहिष्कृत स्थान प्राप्त है। नाचपंथ की पटवक प्रेरण की क्रिया अत्यन्त साम्य नहीं है। यद्यपि इस क्रिया का ज्ञान किसी सिद्ध पुरुष से प्राप्त करना आवश्यक है इसी लिए नाचपंथी गुरु की आवश्यकता अनिवार्य मानते हैं। निर्गुण पंथियों ने भी गुरु को महत्ता स्वीकार की है। इनका गुरु नाचपंथियों के गुरु से अधिक व्यापक और अधिक शक्तिशाली है। नाचपंथियों ने गुरु को एक महान् सामक के रूप में स्वीकार कर लिये ईश्वर एक पुरुष ही मानते हैं पर निर्गुण पंथी इनसे भी एक कदम आगे हैं। उन्होंने गुरु को ईश्वर से भी अलग पद प्रदान किया है। वे ब्रह्म की प्राप्ति ही गुरुत्वा पर अवलम्बित मानते हैं इसीलिए उनका गुरु गोविन्द से भी बड़ा है।

इस काल की वैरा-स्थिति :—

हिन्दी के साहित्यिक काल में कबल यह परंपरा ही नहीं है, जिसका सूत्रपात आर्यभट्टजीन सिद्ध-साहित्य नाचसाहित्य अथवा संनिकाजीन कवि नामदेव और विद्यापति के द्वारा हुआ बल्कि तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों भी है। यद्यपि साहित्य की पृष्ठभूमि को पृथक्सेय समझ लेने के लिए इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों पर विचार कर लेना भी आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थिति :—

हिन्दी साहित्य के आरंभकाल में जिन और गाथाओं का निर्माण हुआ वे तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का परिणाम और उस स्थिति से प्रभूत आवश्यकता की पूर्ति थी। आरंभकाल की समाप्ति के पश्चात् भी देश की राजनीतिक स्थिरता का अर्थ नहीं हुआ था। मुस्लिम-शासन के इस प्रारंभ में वेदों राजनीति का ही नहीं आर्थिक कट्टरता का भी पर्याप्त योग था। इससे साहित्यिक बुद्धिकोश भी अक्षय्य था रहा था। अथवा अरबों की बीरवाचार्य जनता की मनःस्थिति की बुद्धि के लिए अक्षय्य सिद्ध हो रही थी। परिणामस्वरूप ये रचनाएँ राजस्थान की सीमा में ही सीमित होकर रह गईं। मध्यदेश में मुसलमानों की शक्ति अनेक हिन्दू राज्यों का अन्त कर रही थी। वहाँ न कोई ऐसा महान् शक्तिशाली राजा ही था जो मुस्लिम प्रारंभ से हिन्दू प्रजा की रक्षा करता और न जनता में इतना बल और साहस ही रह गया था कि वह इस बहिष्कार का सामना करती। समस्त उत्तर भारत और अन्धकार भारत के भी कुछ भाग पर अनादिकालीन अन्धकार का आधिपत्य हो गया था। देवपिरे के बाद राजा रामचन्द्र एवं बाराणसी, महापद्म तथा अनाटक क-

बया पर अंगस्पर्श भी प्रीतिरस के परे समझ जाने लगा । अनेक शताब्दियों तक इस स्थिति में रहने के कारण वे इस हेम जीवन के सम्बन्ध हो गये पर मुस्लिम संपन्न उसकी धार्मिकस्मृति का स्वल्प भंग कर दिया । उन्होंने मुस्लिम समाज में बख्शबस्ता को विपमता का प्रमाण देखा और अनुभव किया कि मनुष्य-मनुष्य एक है उनमें किसी के ऊँच और किसी के नीच होने की कल्पना निरवकाश है । एक समाज और एक धर्म के अनुयायी होने के नाते प्रत्येक को समानाधिकार प्राप्त है ।

उनमें अबबायारख के बिल्हु वृष्टियोवर होने लगे । वे अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति सन्नत हो गये । उनका आत्मसम्मान क्षय उठा । वे बख्शबस्ता के नाम पर लारी गई सामाजिक विपमता के विरुद्ध विद्रोह करने की उद्यत दिखाई देने लगे पर उच्च बलों पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा । वे धमी भी पूर्ववत् धारणाधार करने में संमत्त थे । सामान्य व्यक्ति ही नहीं पर भयबद्भक्त भी बख्शबस्ता की विपमता के शिकार हो रहे थे । महापण्ड के सन्भूत मक्त नामदेवा तक सूड बख में लग्न ग्रहण करने के कारण एक वैभक्ति से निकल बिये गये थे । उन्होंने अपने इस अपमान का सस्नेह निम्न पंक्तियों में किया है —

हंसन खेलन ठैरे देतुरे धावा ।
 पंक्ति करत नामा पकरि उठाया ॥
 हीनही जाति मेरी पार भठया ।
 धीने के गराम काहे को धाया ॥

धरिपण्य पृ. १११

धार्मिक स्थिति :

धम का प्रवाह कम ज्ञान और भक्ति को निरवकाश के रूप में प्रवाहित होता है । इन तीनों के सम-वय का ही नाम धम है । इनमें से किसी भी एक की अनुपस्थिति धम को रंगु बना देती है । धर्मों ने इन्हीं तीनों की सुविध धरकर ईश्वर प्राप्ति का साधन कहा है । वास्तव में इन्हीं तीनों से धम की स्थिति है । बिना धर्म के वह यतिहीन बिना ज्ञान में नैसर्गिक और बिना भक्ति के हृदयहीन होकर निष्प्राण बन जाता है । ज्ञान सामान्य जनता को नहीं अपितु विशिष्ट वर्ग के विद्वानों को सम्पत्ति है । सामान्य जनता कम और भक्ति के माध्यम से ही अपनी धार्मिक भावना को सही और विकास कर सकती है । हिन्दू-माहित्य के धार्मिकाल में जिन धर्म भावनाओं का उदय हुआ उनमें ज्ञान की प्रधानता और योग का समकार ही प्रमुख रूप से निहित था । सामान्य जनता तत्कालीन विद्वानों और योगियों की आशिया मुसली और उनके समकार ईश्वर आरधनान्वित ही जाती पर जतमें कोई ऐसी बलु न पाठी, जिस बहु अपन जीवन में उदार कर धमी धम-निपाया की कृति कर पाठी ।

धर्म की जिस मात्रात्मक अनुभूति का सुनपाठ महाभारतकाल में हुआ और जो पुण्यकाल में विकसित हुई उसका सिद्धों और भोक्तियों की धर्म प्रणालियों में कोई स्थान न था। कहीं प्रकृति कहीं निवृत्ति और कहीं प्रकृति-निवृत्ति का समन्वय धर्म का स्वरूप बरकरार रहा था। संसार की निस्सारता, मौक्तिक जीवन की उपेक्षा आदि की भावना बलवती थी। ये सिद्ध और योधी जनता का धारण कल्याण और मोक्ष कल्याण के धर्म में से जाने के स्थान पर कर्म से धर्म करने के लिए ही प्रयत्नशील थे। उनका ब्रह्म बर के भीतर बैठा मुक्त रहस्य और सिद्धि की सृष्टि कर रहा था, पर वह उत्काशीन भ्रमहाय, निबल और क्रिस्टन जनता को बल प्रदान करने तथा धारणरक्षा प्रकवा धर्मरक्षा में समर्थ बनाने में असमर्थ था। सिद्धों और भोक्तियों की बाकी सामान्य जनता को भगवत् प्रकृति की बार प्रवृत्त कर तन्मयों के बाह्य में ही समझ रही थी।

निर्गुण पंथ का उद्भव :-

ऊपर जिस धार्मिक स्थिति का विवेचन किया गया है, उसमें मात्र धर्म के सिद्धों और भोक्तियों का प्रभाव विशेष रूप से परिभाषित है, किन्तु धर्मका प्रभाव सामान्य जनता तक ही सीमित था। उनका शास्त्रज्ञ विद्वानों पर कोई प्रभाव न था। वे ग्रामी भी शास्त्रीय निरूपण और वेदान्त की बर्षा में प्रवृत्त थे। इसी समय बहिष्कृत भारत से अन्धक प्रवाह उत्तर भारत में आया। इस प्रवाह ने उत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति को अत्यधिक प्रभावित किया। एक ऐसे धर्म की शक्ति होने लगी जो उत्काशीन स्थिति में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए समान हितकारी प्रभावित हो सके। बहिष्कृत भारत के जिन वर्गों-वर्गों द्वारा प्याऊँरी से प्याऊँरी उत्कण्डी तक उत्तर भारत में विभिन्न धर्म-धाराओं की प्रतिष्ठा हुई, उनमें बिहार-उत्तराखण्ड से हिन्दू और मुसलमानों के उपयुक्त धर्म की प्रतिष्ठा करने में बड़ी सहायता मिली। श्री रामानुजाचार्य मन्नाचार्य विष्णु स्वामी और तिमबाकाचार्य, बार विभिन्न धर्म-धाराओं के प्रवर्तक थे। इनके द्वारा प्रवर्तित धाराएँ क्रमशः श्री सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय और सनकादि सम्प्रदाय के नाम से प्रतिष्ठित हैं। इन सम्प्रदायों का धार्मिक बुद्धिकोण परस्पर कुछ मिला था किन्तु इसमें उन्मुख नहीं कि शास्त्रीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति में इनके द्वारा प्रवर्तित अन्धधर्म से उच्च धर्म की भारतीय जनता को बहुत बड़ा लाभ हुआ। इन धर्मधाराओं की बिहार-उत्तराखण्ड से प्रभावित होकर सामान्य जनता संसारिक सुख और वैश्व से विरक्त हो पारलौकिक ध्यान की दिशा में प्रवृत्त हुई। हिन्दी के अन्ध-साहित्य में इनमें इसी धान्य का पशुर शोच धारित बधि से प्रभावित मिलता है। इस धान्य में निर्गुण और

समुग दोनों प्रकार का मरिच का मान्य निहित है। इनमें से निर्गुण मरिच इस काम के 'संत साहित्य' का मूलाधार है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'निर्गुण' की भावना हमारे देश में वैदिक काल से बनी ही रही थी। मुसलमानों का इस्लाम बम भी ब्रह्म की निर्गुण भावना पर ही आधारित है। अतः इस काम की स्थिति के अनुसार 'निर्गुण' भावना पर आधारित मरिच ही हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लिए समान भाव से स्वीकार्य हो सकती थी। इस मरिच-भावना को लेकर पंद्रहवीं शताब्दी में जिन धर्म-धारा का 'सामान्य बम' के रूप में उदय हुआ वही "निर्गुण पथ" के नाम से प्रसिद्ध है। मुस्लिम शायकों की विद्वय न इस देश में जिन दो संस्कृतियों के संचय को जन्म दिया उस संघर्ष से उत्पन्न स्थिति निर्गुण पथ के उद्गम और विकास में सहायक हुई। शूद्र बंधु बुद्धरे मत्स्याचार का शिकार था। हिन्दू होने के कारण मुस्लिम उस पर मत्स्याचार करने से घोर घबर्छ घबरा दिग्भय होने के कारण उच्छ्वसपूर्ण हिन्दू भी उस पर कम मत्स्याचार न करते थे। मुस्लिम सेना द्वारा मड़े जाने वाले युद्ध का उद्देश्य केवल मुस्लिम राज्य-विस्तार ही नहीं, पर मुस्लिम बम-विस्तार भी था। इस प्रकार सत्कामीन हिन्दू मुस्लिम युद्ध का आदिमों के बीच मड़े जाने वाले युद्ध नहीं पर दो धर्मों के बीच मड़े जाने वाल युद्ध ही थे। हिन्दू मूर्तिपूजक थे पर मुसलमान मूर्ति-भंजक थे। हिन्दू धनक बेढाबा की उपासना में विराम करने से घोर मुसलमान एक्सेरबरादी थे। उनके धर्म विराम के अनुसार मूर्तिपूजक बहुदेववादी हिन्दू अपराधी और बंडनीय माने जाते थे।

इस स्थिति में भी दोनों सम्प्रदायों में कुछ ऐसे व्यक्ति उदय से जो इस बमयुक्त भावना का हितानुह न समझते थे। वे इस संघर्ष का अन्त कर देश में शूद्र मत्स्याचारों और हिंसात्मक प्रवृत्ति के स्थान पर ऐक्य सद्भावना और शान्ति स्थापित करने की क्यथ थे। इस सद्भावना को लेकर घबरोछ होनेवाले महापुरुषों में योरखनाथ प्रथम व्यक्ति थे, उन्होंने काशी को संबोधित करते हुए कहा था —

'मुहम्मद मुहम्मद न कर कार्बी, मुहम्मद का विषय विचार।

मुहम्मद हाथि करद जे होती, साह गद्दी न साग ॥

मुस्लिम सभों में सूफ़ी फकीरों न सब प्रथम इन धार्मिक नियमतात्म्य शाखा के स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द स्थापित करने की चिन्ता में प्रयत्न धारम्भ किया। निर्गुण पथ के विकास में भी सूफ़ी प्रयत्न से कम सहायता न मिली। हमें बदीर के काव्य में इन्हीं हिन्दू-मुस्लिम सभों की विचारपाठ का विकास मिलता है। इस परिस्थितिजन्म विचारपारा न ही निर्गुण पथ की धेनि को जन्म दिया और बदीर, उनके समकालीन अन्य निर्गुणवादी मरिचों तथा सूफ़ी बर्माविपापी सभों ने इस धेनि को प्लवित और पुनित किया।

यही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'निर्गुण पंथ' वास्तव में बौद्ध मन्त्रवाद नहीं है। इनका काम ही वास्तव में हिन्दू और मुसलमानों में धर्म के नाम पर प्रचलित "साम्प्रदायिकता" का अन्त करने के लिए हुआ था। यह एक ऐसा पंथ है जिसमें साम्प्रदायिक भावनाओं का समाप्त हो और जो मानव को साम्प्रदायिकता के संकीर्ण धरातल से ऊपर उठकर मानवता की प्रगति में सहामक होने का संकेत देता है। इसमें उन तत्वों का समावेश है जिनसे किसी भी परमात्मता की विरोध नहीं हो सकता और जो धर्म, शक्ति, बल सब मात्र विद्यामन्त्रोपिनी विचारधारा में परे मानव-समाज की एक "व्यात्मक धर्म" के द्वारा उन्नत की ओर बढ़कर होने में सफल बनाता है। हम आज इस धर्म के अनुयायियों में किसी सीमा तक जो साम्प्रदायिकता का भावना पाते हैं, उनमें हमें इस पंथ के मूल स्वरूप के प्रति बारी-भारि-भारी जाहिये।

निर्गुण उपासना का हिन्दी काव्य-साहित्य में विकास

हिन्दी के जिस काव्य-साहित्य में हमें निर्गुण उपासना का विकास मिलता है, वह 'निर्गुण काव्य-धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी का अत्यन्त अल्प साहित्य यही काव्य धारा के अन्तर्गत है। निर्गुण पंथ कवियों की काव्य-उपासना में हमें प्रकृत और ज्ञान का समन्वय मिलता है। यह कबीर इस काव्य धारा के जन्मात्क है। इसके अतिरिक्त रैवात चर्मदास, मुसलमान, सायबदास मुन्दादास, कलकदास, प्राणदास बीनदास, चरबीन स दरिया साहब, चरबीनदास गरीबदास, तुलसी साहब अचर अकर्म, सिवा की आदि इस धारा के जन्मेद्यवीर कवि हैं।

अल्प कबीर ने अपने बुधवर्ती नावर्षी तिल कवियों की इस कर्मना की वाकार रूप प्रदान किया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धार्मिक सिद्धांतों का समन्वय कर एक नये पंथ की प्रतिष्ठा की। उन्होंने अपने इस पंथ में एक ऐसे ईश्वर की स्थापना किया, जो निर्गुण और अनुकूल की सीमित भावना से परे था। अतन्नी अत्ता कल-कल में व्याप्त थी। कबीर का यही मन्त्र 'सत नम' के नाम से जाना जाता है। इस पंथ में हिन्दू और इस्लाम धर्म के मूल सिद्धांत अतिरिक्त होकर बाने थे। इसमें दोनों सम्प्रदायों में धर्म के नाम पर प्रचलित बाह्याङ्गमय और धर्मविरोधों का समाप्त था। धर्म और ज्ञान ही अत्यन्त की चरण अतिरिक्त है। इस मन्त्र के अठ कवियों द्वारा लुजित काव्य-साहित्य अन्व-कौटि का नहीं है, पर इसमें अंदेह नहीं कि अद्यमें जिन प्रेरणाओं का अन्त प्रवाहित होता है, वे निरन्तर ही स्वच्छन्द और नैतिक है। इस काव्य में कवि-वस्त्रता और धर्मकार-अप्यना की अपेक्षा अत्यन्त स्वाभाविकता और अकर्मिक धर्मोपासना को ही विशेष स्थान दिया है। यही साहित्य 'निर्गुण अन्त साहित्य' अन्व 'आत्मन्नी साहित्य' कहा गया है। इसमें ईश्वर प्रकृत, पुत्र-अन्त अन्त, प्रथ, अन्त अन्त अन्त भावनाओं का अन्त है।

संत साहित्य की दृष्टि से चिक्कों का पूज्य ग्रन्थ 'गुह प्रथ साह्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में गुह नामक के पदों के प्रतिरिक्त नामदेव, त्रिसोचन, परमानंद, चरण बैनी, रामानंद, बला, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, मुरदास, भीष्म, फरीद तथा मीरा के पदों का भी संकलन है। ये सभी हिन्दी के संत कवि हैं।

संत कवियों का साहित्य दार्शनिक मीमांसा से पूर्ण है। उन्होंने जो धार्मिक विचार व्यक्त किये हैं वे सभी भारतीय बेदांत और उपनिषदों की विचारधारा पर आधारित हैं। इन विचारों को व्यक्त करने का उमका अपना है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा से सम्बन्धित कुछ विचार देखिये।

एकेश्वर

हिन्दुओं का बेदांत 'एकेश्वर' का समर्पक है, फिर भी तत्कालीन हिन्दुओं पर 'बहुदेववादिता' का व्यापक प्रभाव देखा जाता था जब कि मुसलमान 'एकेश्वरवाद' के प्रबल समर्थक थे। यही परस्पर-विरोधी भावना दोनों के धार्मिक मतभेद की जड़ थी। अतः संत कवियों ने सबसे पहले इसी मतभेद का अन्त करने के लिये हिन्दू-मुसलमानों से बार-बार कहा—

एक एक जिनि जाणिया, तिनही सच पाया ।

प्रेम प्रीति स्वीछीन मन, से यहुरि न आया ॥

—कबीर दत्तावली पृ० १२६

और देवी देवता उपासना अनेक करे,

अपन की हीस कैसे, आकड़ोके हात है ।

सुन्दर कहत एक रवि प्रकास बिन,

जंगना की जोति कहा, रखनी बिलात है ॥

—सुन्दर दास संतवाली पृ० १२३

एक जनम के कारणे, कत पूजो देव सहेसा रे ।

काइ न पूजो रामजी, आके मच्छ महेसा रे ॥

—कबीर

यह छिर नये त रामकू, नाही गिरियो दूट ।

आन दुब नहि परसिये, यह तन जायो छूट ॥

—चरणदास

ब्रह्म की सर्वव्यापकता

एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए संत-कवियों ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता का संदेश

दिया है और जैसा कि "बृहदारण्यकोपनिषद्" में कहा है इन संत-कवियों ने भी ब्रह्म को पूज्य विरव में व्यापक होने पर भी विरव से परे बतलाया है । १-

धीव द्युय में रमि रहा, व्यापक सबही ठौर ।

— संतवाणी भाग १ पृ ३२

जेते जीम जेत जति बलि माही ।

अधी अत्र कत्र तू मरय खाया ।

पुठ परसादि राखिजे जन कइ

हरि रस नानक मोलि पाया ॥

—मानक श्रम साह्य पृ १ १"

अह देखौ तँह एक ही साह्य का बीदार ।

— संतव नी पृ० ३३

ब्रह्म-जीव की एकता

इन संतों ने ब्रह्म और जीव को एक दूसरे में समाहित स्वीकार किया है । इसी प्रकार ने ब्रह्म को विरव में और विरव को ब्रह्म में समाहित देखते हैं —

सुनु सखि पिय महि जित बसै ।

जित माह बसै कि पाछ ।

— कबीर प्रभावली प० २११

आखिक ललक अलक में आखिक सब पट रखा समाई ।

— कबीर प्रभावली पृ १०४

१-

पूर्वामदः पूर्वमिव पूष्यत्पूर्वमुश्रिष्यते ।

पूर्वस्थ पूर्वमादाव पूर्वमैवावशिष्यते ॥

—२, ५ १२ ।

उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों की मंदिर-मस्जिद में ही अपने ईश्वर और भगवान् के होने की संकीर्ण भावना को धारण करना करते हुए ब्रह्म को इन दोनों से परे बतलाया है —

सुरक मसीत बेहुरै हिन्दू, जुहुंठा राम कुदाई ।

जहाँ मसीति बेहुरा नाही, तह काकी ठुंरुदाई ॥

— कबीर प्रभावली पृ० ०९

पूर्व ब्रह्म

निर्गुण पंथी संतों ने ब्रह्म को पूर्व मानकर उनमें अविदेवत्व और व्यापकत्व को

कल्पना की है। बुद्धि मूल परार्थ पर ही विचार कर सकती है किन्तु ब्रह्म समूर्त और प्रगोचर है जिससे वह बुद्धिगम्य है। ब्रह्म का न रस है, न रस वह न बालक है और न बुद्ध वह बालक है, न भारी इसलिए वह मोल-मोल से परे है। यह माय-प्रभाव से परे वर्णनातीत है -

सोचे सोच न होबई, जो सोचे लखवार ।

— नामक

बाहरण एक अविनासी घट घट थाप रहे ।

— श्रीर

रूप बरण बाके कछु माही, सहजा रग न वेह ।

— सहजो बाई

तोल न मोल माप कछु माही गिने ज्ञान नहिं होई ।

ना सो भारी, ना सो दलुआ, ताकी पारिक्र सखे न कोई ॥

— श्रीर

संतों का पूछ और सर्वव्यापक ब्रह्म सत्, रज तम गुणों से भी परे है। जो इन तीनों गुणों से परे है, वही ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है -

राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया ।

शौच पद जो जन चीन्हें, तिमहि परम पद पाया ॥

— श्रीर

निर्गुण काव्य-साहित्य की विशेषताएँ

सभी संत कवियों की रचनाएँ आत्मिक माधुर्याओं से पुण्य हैं। विषय की दृष्टि से इन इन्हें प्राध्यात्मिक प्रपञ्च भक्ति-श्रवण और उपदेश प्रधान रचनाओं में विभाजित कर सकते हैं।

अधिकांश संत कवियों के काव्य की भाषा ग्रामीण और अपरिष्कृत है। इसका प्रभाव बरख यह है कि इन संतकवियों का उद्देश्य काव्य रचना नहीं बरन् अपने मत का प्रचार करना था, जिससे हमें नव-नव मुमम लोक भाषा में ही काव्य-रचना की है। दूसरे, अधिकांश कवि प्रायः शिक्षित थे। मुम्बरादास के समान बहुत कम ऐसे कवि थे जो भाषा के परिष्कृत रूप से परिचित थे।

अधिकांश संत कवियों की रचना का माध्यम 'माथी और शब्द ही है। उन्होंने साधियों के रूप में शोहों और शरणों के रूप में पशों में रचना की है। इनके

अतिरिक्त हमें कुछ कवियों की रचनाएँ पठकर, मनहरण कवित्त पद्यति श्रीवार्ध
धायि के रूप में भी मिलती है।

रसो की दृष्टि से शीतल ही इन कवियों की रचनाओं का प्रमाण रत है।
कुछ रचनाओं में हमें श्रुतिाररत भी मिलता है, किन्तु इनके इस श्रुतिार का रूप
साधारणिक ही है। बहुत हीन भावा, जगत धर्मि के निरूपण में अद्भुत रत
और सांसारिक विषय वासता बोध, यह मत्तर धारि के प्रति पूषा के भाव जागृत
करने वाली रचनाओं में कहीं-कहीं भीनल रत भी मिल जाता है।

यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि यद्यपि निर्गुण विचारधारा
मूलत भारतीय दर्शन का आधारित है तथापि यह इस्लाम धर्म से भी कम प्रभावित
नहीं है। वास्तव में संत मत हिन्दूधर्म और इस्लामधर्म की विचारधाराओं का
एक मिश्रण है। ऊपर जिन संत कवियों का प्रकाश जाला गया है उनमें कुछ बने
पंथों के प्रवक्तक भी हैं किन्तु किसी के भी पंथ में प्रवर्तक की कोई बड़ी बात का
नया विचार व्यक्त नहीं हुआ। उनमें जो अन्तर है वह केवल सांख्यिक है। इन
संत कवियों की भाषा का रूप परिष्कृत न होने से हिन्दी के विकास में भी कबीर,
तानुदयाल सुन्दरदास के अतिरिक्त जम्हों की रचनाओं से कोई सहमता नहीं मिली।
पर इन संत कवियों की साधियों ने इस्लाम धर्म के धार्मिक से अधिक उत्कामीन
भारतीय जनता का मार्ग-दर्शन अवरत किया और समाज को धर्म के नाम पर
प्रचलित धार्मिकों धर्म-विरथाओं तथा बर्ख-वत वैषम्य से मुक्त होने में बहुत बड़ी
सहायता की।

कबीर काव्य का साधना पक्ष

कबीर अपने काल के एक कटु आलोचक समु कवि थे। हिन्दी के निम्न प्दवाची कवियों में उनका स्थान सबसे उच्च है। अन्य सगल कवियों की तरह वे प्रथम भयबदुभक्त और उसके परचातु कवि या उपदेष्टक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे 'रहस्यचार' के सम्प्रदाय समझे जाते हैं। उनका यह रहस्यचार साधना प्रधान और जीवन्तानुमति से पूरा था। उसमें शब्दों का विमबाह बचवा कल्पना का उभार न था। उन्होंने प्राचीन ब्रह्मण्य का विरोध किया बर्मे के नाम पर हिन्दू-मुस्लिमों में प्रचलित धाड़ेंबर्तों और बेबुनियाद-विचारों का खंडन किया तथा राम-रहीम की एकता का उपदेष्ट वे हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य का प्रयत्न किया। इस प्रकार वे एक बर्मेयदेशक के साथ ही समाज-सुधारक के रूप में भी अलग युग में उपस्थित हुए किन्तु इन सबके बीच उनकी सामिक भावना ही प्रधान थी। उनकी यह भावना चार साधनों में निहित है — मन का नियंत्रण २ मुक्तमति ३ नामस्मरण और ४ हठयोग।

उनका विश्वास था कि जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग दूसरा शरीर धारण करती और इस प्रकार मुक्तता से स्मृता की ओर जाती है, उसी प्रकार साधक को भी मोक्षता से अन्धकार को ओर जाना पड़ता है। यह काम अपने मन के नियंत्रण द्वारा ही किया जा सकता है। मन बंधन है और यह अपनी स्वाभाविक बंधनता के कारण श्रियों को चाहे जिस उपित-अनुचित काय की ओर प्रवृत्त करता रहता है, जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं पहुँच पाता। अतः लक्ष्य प्राप्ति की ओर पहुँचने के लिए सबसे प्रथम मन को नियंत्रित करना अत्यावश्यक है।

'कबीर मन मृतक भया, दुर्मल भया सरीर।

पाळे छागे हरि फिरे, कहे कबीर कबीर ॥

जो लोग प्रभु-प्राप्ति के लिए मिर मुंडाकर संन्यासी बनना चाहते हैं, उनकी आलोचना करते हुए वे कहते हैं —

'किसन कहा विगारिया, जो मुझे सी धार।

मन को क्यों ना मूढ़िय, जामें भरे विकार ॥'

सब सुपपातों की जड़ मन है। अतः प्रभु-प्राप्ति के लिए किन्तु-मुक्त नहीं पर मन का दृढ़ नियंत्रण ही आवश्यक है। उनके मतानुसार नाम क्रोध, मर सोमारि धनके ही विकार हैं। अतः उसका नियंत्रण कर बड़े इन विकारों से मुक्त करना और समा दना, शील संतोष धारि बद्गुणों से पूछ करना आवश्यक है। उनका यह भी मत है

प्रतिरिक्त हमें कुछ कवियों की रचनाएँ पढ़कर, मनहरण कवित्त ब्रह्मि बीताई जाति के रूप में भी मिलती है।

उसी की दृष्टि से साठरस ही इन कवियों की रचनाओं का प्रधान रस है। कुछ रचनाओं में हमें शृंगाररस भी मिलता है, किन्तु इनके इस शृङ्गार का रूप साम्यात्मक ही है। बड़ा बीच पाया, जगत जाति के विमर्श में बद्धुत रस और सांसारिक विषय बाधना मोह नर कलर जाति के प्रति मुखा के मान जागृष करने वाली रचनाओं में कहीं-कहीं बीभरस रस भी मिल जाता है।

यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि कसपि निर्गुण विचारवात मूलत भारतीय ब्रह्म पर आधारित है, तथापि यह इस्लाम धर्म से भी कम अजाबिह नहीं है। वास्तव में संत मत हिन्दूधर्म और इस्लामधर्म की विचारवातओं का एक विषय है। अगर किम संत कवियों नर प्रकटा जाया गया है उनमें कुछ नये पैलों के प्रदर्शक भी हैं किन्तु कित्ती के भी पंच में प्रदर्शक की कोई नई बात ना नया विचार व्यक्त नहीं हुआ। उनमें जो घन्तर है वह केवल सांध्यक है। इन ब्रह्म कवियों की धारणा का रूप परिष्कृत न होने से द्विती के विमर्श में भी कसोर, बाभूरयाज सुन्दरवात के प्रतिरिक्त बन्नों की रचनाओं से कोई सहायता नहीं मिली। पर इन संत कवियों की बाह्यियों ने इस्लाम धर्म के घाटक से भवित उत्कालीन भारतीय कला का मान-बलन प्रब्रह्म किवा और समान को धर्म के नाम नर प्रकथित धार्यवरों, धंध-विस्थाओं तथा बर्ध-यत बीपम्य से मुक्त होने में बद्धुत बड़ी सहायता की।

कबीर काव्य का साधना पक्ष

कबीर अपने नाम के एक कठु घालोचक चम्पु कवि से। हिन्दी के निम्न खवासी कवियों में उनका स्थान सबसे है। प्रायः सग्त कवियों की तरह वे प्रथम भगवद्भक्त और उसके परचातु कवि या उपदेशक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे 'खुस्यबाद' के बहुमुद्रा समझे जाते हैं। उनका यह खुस्यबाद साधना प्रश्न और जीवनानुमति से पूर्ण था। उसमें शब्दों का खिलबाद भबवा कल्पना का उभार न था। उन्होंने प्राचीन रम्परा का विरोध किया बमों के नाम पर हिन्दू-मुस्लिमों में प्रचलित घातकों और बहुनियाद-विचारों का खंडन किया तथा राम-खीम की एकता का उपदेश दे हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य का प्रयत्न किया। इस प्रकार वे एक धर्मोपदेशक के साथ ही समाज-सुधारक के रूप में भी अपने युग में उपस्थित हुए, किन्तु इन सबके बीच उनकी नामिक जातना ही प्रबल थी। उनकी यह भावना चार सामनों में विभक्त है — मन का नियन्त्रण २ गुहमनि ३ नामस्मरण और ४ हठयोग।

उनका विश्वास था कि जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग बुधरा शरीर धारण करती और इस प्रकार सूक्ष्मता से स्वरूपता की धोर जाती है, उसी प्रकार साधक को भी शक्तिता से धम्मामर की धोर जाना पड़ता है। यह काय अपने मन के नियन्त्रण-द्वारा ही किया जा सकता है। मन बंधन है और यह अपनी स्वामाधिक बंधनता के कारण इंद्रियों को बाहे जिस सचित-अनुचित काय की धोर प्रवृत्त करता रहता है, जिससे साधक अपने लक्ष्य की धोर नहीं पहुँच पाता। अतः लक्ष्य प्राप्ति की धोर पहुँचने के लिए सर्वप्रथम मन को नियंत्रित करना अत्यावश्यक है।

‘कबीर मन मूचक भया, दुर्बल भया सरीर।

पाछे साग हरि फिरै, कह कयार कबीर ॥

जो भोग प्रभु-प्राप्ति के लिए मिर मुहाकर संन्यासी बनना चाहते हैं, उनकी घालोचना करते हुए वे कहते हैं —

‘जिसन कहा दिगारिया, जो मूडो सो बार।

मन को क्यों ना मूड़िय, जामें भरे विकार ॥’

सब गुरापाठों की बड़ मन है। अतः प्रभु-प्राप्ति के लिए केवल-मुडन नहीं पर मन का दृढ़ नियन्त्रण ही आवश्यक है। उनके मठानुसार नाम श्लेष, मर लोमादि मनके ही विकार हैं। अतः उनका नियन्त्रण कर उसे इन विकारों से मुक्त करना और रचना, शील संशोध धारि उपगुणों से बुद्ध करना आवश्यक है। उनका यह भी बत है

कि सावना के लिए बर-डार व्यावने पूरी रमाने संख्याती बनने धारि की कोई धारक-
क्या नहीं है। इत काम के लिए वे लीर को कट्ट देने की भी धारकक्या नहीं बन
कते। वे 'मध्यम नाम' की हो येककर मानते हैं।

'कयिर सुधा है कूकरी करत मजन में भग।

याको टुकड़ा डारि के सुमिरन करो निसक ॥'

भुवा अनुप्य भजन नहीं कर सक्या। बहु बावै भी धीर भजन भी करे। उनक
मत है कि अनुप्य गृहस्व होकर भी बीरगी हो सक्या है धीर बीरगी गृहस्व भी हो
सक्या है —

'इक बेरामी गेहमें, इक मही में बेराम' ✓

कबीर भवद्भक्ति के लिए सतस्य धीर नृत्तसि धारकक मानते हैं। बिना
सतस्य के धारककता की वृत्तियां धारकता की धीर प्रवृत्त नहीं होती धीर बिना नृत्तस्य
के भवद्भक्ति प्राप्त नहीं होती।

'कबीर दरसन साब क, सार्ह आवे बाद।

लेख में सोई पड़ी, वामी के बिन बाद ॥'

उन्होंने पुत्र को भेरी कहा है। इस भेरी के डार ही बह का नेर बलिाधा
सक्या है —

'वस्तु कही हूँ कही, केदि विधि आवे हाय।

कह कबीर तय पाइये, भेरी बनिे साब ॥

कबीर की वृत्ति में पुत्र का सत्यविक महत्व है। वे पुत्र धीर बौद्धि को समाप्त
बाधन पर स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं पर उन्होंने कही-कही पर पुत्र को बौद्धि
से भी उप्य स्थाप दिया है —

'गुह गोबिन्द वीठ भवे, काके छागूं पाव।

धम्य गुह जो आपने, गोबिन्द दियो बठाब ॥'

ब्रह्म का ज्ञान कपने का भेय पुत्र को है, धर वह गोबिन्द से भी धरिभ मान-
नीय है।

कबीर से सर अंध हैं, गुह को कइते धीर। ✓

हरि हटे गुह ठौर हे, गुह हटे नहिं धीर ॥

किठनी धरिभ थडा है कबीर की पुत्र के प्रति। हरि के कटने पर पुत्र की शरभ
प्राप्त हो सकती है पर पुत्र के कटने पर धरि कही स्थान मिलना संभव नहीं है। पुत्र
के प्रति पूज्य भावना हुआठी प्राणीय परंपर है। जमी संत कवियों ने मुस्यहता का
पान किया धीर उनकी कर्मता की है।

मन का निर्बंधन कर जैके सव प्रवृत्तियों की धीर प्रवृत्त करना धीर मुस्यहता डार
सावना के सत्यमान का ज्ञान प्राप्त करना धारक की धारकिक ठियाठी है। यह ठियाठी

होने पर साधना प्रारंभ होती है। कबीर के मतानुसार 'नामस्मरण साधना का प्रथम साधन है। तुमसीबासु भी ने भी 'राम ते अधिक राम कर नामा' लिखकर नामस्मरण को महत्व प्रदान किया है, किन्तु कबीर का यह राम तुमसी के मर्यादापुत्रोत्तम राम नहीं है 'उमका राम' से तात्पर्य उस राम से है, जो निर्गुण रूप में विरव के कथ कथ में लट है, जो रोम-रोम में रस रहा है —

राम नाम की छूट है, छूटि सके सो छूट ।

अथ समे पद्यताओगे, प्राय जायेंगे छूट ॥

नामस्मरण अन्तःकरण से होना चाहिए केवल जिज्ञा से नहीं

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।

करका मनका डार दे, मनका मनका फेर ॥

× × ×

'मुमिरन की गधि या करी जैसे कामा काम ।

एक पलक बिसरे नहीं, प्राण तजै निहि ठाम ॥

कबीर ने 'नामस्मरण' में निष्काम साधना है। वे किन्ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नामस्मरण उचित नहीं मानते। इच्छा व अज्ञानों को भ्रष्ट मानते हैं। बारंबार के नामस्मरण से मन को नामस्मरण को प्राण्य हो जाती है। फिर जिज्ञा विज्ञाने की आवश्यकता नहीं होती। सारे अज्ञानों हैं। फिर प्रत्येक शब्द के माध नामोच्चारण अपने आप होने लगता है।

'माला स्वाम असास को, जामे गाँठ न फेर ।

इस स्थिति में 'अनहद नाद' बह ध्वनि है, जो बिना किसी श्रोत के ध्वनित हो। इसके पश्चात् साधक की मुरत (स्मृति) ब्रह्म से लग जाती है और बोरे-सीरे वह ब्रह्म में एकाग्र हो धमर पर प्राप्त कर लेता है।

'जाप मरे अज्ञपा मरे, अनहद भी मर जाय ।

मुरत समानी शब्द में, ताहि काख नहि लाय ॥'

यह साधक की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में सिवाय अनुस्मृति के कुछ भी नहीं रह जाता।

कबीर की 'मुरत-साधना' में हठयोग का प्रधान स्थान है। उन्होंने हठयोग का स्पष्टीकरण 'बन्ध मूर एकै पर नामो पक्ति में कर बिया है। कबीर का हठयोग स तात्पर्य हठयोग प्रथम के ध्यान में निरमल होता है। यह निरमलता अथ और मूष को एक स्थान में स्थिर करने से अर्थात् विह और ब्रह्मांड की एकता से व्यतीत है। योगियों की पारणा के अनुसार शरीर में स्थित अंगियों के एक समूह को 'कमलचक्र' कहते हैं जिसमें दिव्य-शक्ति निहित होने पर वे विरहाम करत हैं। श्रीमती योग-शास्त्र इसी शक्ति का उद्घाटन करके ब्रह्म में तन्मीनता प्राप्त करते हैं।

कबीर ने अपनी साधना-प्राप्तियों के बीच इतना विपत्ता मुकाम तक प्रयोज किया है, जिसका सुखरूप इस विपत्ता और सुखरूप है। सुखरूप मन्मथानी है, जिसके बाईं ओर इस ओर बाहिनी ओर विपत्ता भाग्यो है। ये दोनों बहुरंग में मिल जाती है। वहाँ बोधी 'प्रलय पुण्य' का निवास मानते हैं। इस को बाग, विपत्ता को मूल्य और सुखरूप को बागि भाग्यो भी कहते हैं। इस प्रकार कबीर ने सटीर में ही प्रयाग और सुखरूप को सरस्वती भी कहा जाया है। इस प्रकार कबीर ने सटीर में ही प्रयाग और काशी होने की कल्पना की है। वह अपनी साधना द्वारा इन्हीं तीर्थों की धारण करने का बन्धन देते हैं। काशी प्रयाग और काशी की यात्रा पर ही विरवास नहीं करते। कबीर के 'इष्टमोग' में ही वास्तव में उनका रहस्यवाह है। जहाँते मस्तिष्क की 'सहस्रवत्' कहा है और जहाँमें परम पुरुषका वास माना है। दोनों मूर्तियों के मध्य प्राणाचारक है, वहाँ 'परमईश' निवास करता है। इसे ही कबीर ने 'बैरमुक्त' कहा है। कबीर का विरुद्ध ब्रह्म है, वहाँ बीच का निवास है। इतना उनका मतलब ब्रह्म है वहाँ शिव पार्वती का निवास है और तीर्थ शहर को धरि होती है। नामि 'अक्षिपूर ब्रह्म' कहा जाता है, जिसमें (प्राणम) परमकर्म है और जहाँमें विष्णु निवास करता है।

ये जलनेन्द्रिय को 'सुखविष्णुनचक्र' कहते हैं जिसमें 'ध' ब्रह्म है। इसा और परमेश्वरी इस ब्रह्म के देवता है। जलनेन्द्रिय और गुदा स्थान के बीच 'मूलाधार ब्रह्म' है, जिसमें वार ब्रह्म है। इसी ब्रह्म में मूल की स्थिति है। इसी ब्रह्म के धमीय छोड़े तीर्थ बचकर ललाई सप-कुंठनी होती है। बोधी प्राणायाम-शाप इसी कुंठनी को बाधुत करते हैं। इस कुंठनी की बाधुत से बँधे-बँधे वह ऊपर की ओर बढ़ती जाती है, धर्म बतों की तकिया की बाधुत होने लगती है और सहस्रवत् में स्थित ब्रह्म से बाधुत करते लगता है। यही स्थिति शापक को जीवन्मुक्त बनती है। कबीर को इस मानना का आभास । उनको निम्न पंक्तियों से मिलता है —

मन रे जागत रहिय भाई । —
 गाफिल होइ बसत नहि सोबै, ओर मुसै पर जाई ॥
 पटब्रह्म को कनक कोठड़ी, बसा भाब है सोई ॥
 वासा सुँबी कुजक के सागे, अपहुन वार न होई ॥
 पच पहरवा सोइ गने है, बसने जाग्य सागो ॥
 बरा मरण व्यापे कुलु नाही, गगन मंडल छे जागी ॥'

कबीर का रहस्यवाह
 वहाँ 'रहस्यवाह' से वास्तव प्राणिक मूलबोध के हैं जिसका 'प्राणिक उपनिषदों का रहस्यवाह' प्रकटा 'ब्रह्मविष्णु' है। यही रहस्यवाह सत्यतः प्रकटा विरुद्धमय की मूल प्राणा-शिला है। कबीर ने उपनिषदों के 'सर्ग' बाग, इष्ट, ब्रह्म का ही जलना साहित्यिक ब्रह्म में साहित्यिक सब ब्रह्म रहती ललाई' पंक्ति में व्यक्त की है। सांख्य

ध्यान न मृष्टि का विनाश बनाने हुए छन्द को 'पुन्य' और प्रकृति को 'स्त्री' को स्मारा दी है। मन्त्र का यह स्वरूप कबीर ने भी स्थापना किया है। धारणा में विरहात्मा की अनुमति ही गन्धर्ववाद है। यह धारणा और विरहात्मा का संयोग 'प्रेम' पर आधारित है या 'मान का नहीं' पर 'भाव' का विषय है। इस भावधरा कबीर न धरने का राम की बहुवियां बहुकर धरने और श्या क बाब 'दास्य'—सम्बन्ध स्थापित किया है। उक्त कबीर धरन परम प्रियतम न विपन्न को उक्त विनामा बरबन का है और कबीर उक्त विरह को धर्म में धरन की गतामा है। समीप का अन्तम क प्रति कुतूहल विस्मय भावना विनामा तादात्म्य अनुभव धनुराग उन्नतता उन्मयना और विरह उन्मयवाद क आधारभूत संघाम के विविध साधन हैं। कबीर के काव्य म य समीपोपात्त परिमन्दिन है।

कबीर धरने प्रियतम को धरन धयोपर, मुझन धनोह मातरी है। वह न देना न मरना है और न मिया हो न मरना है।^१ वह उमम बहुत दूर समय म रंगमहल बना कर रहता है जहाँ मन्त्र बिनु, धामनध धरन पुण्य विराम क मास विद्यमान है।^२ वह उम हेरना-हेरना स्वय हेरा जाता है।^३ वह उमसे जिगरी दूर है उतन ही मर्मीय म्मे है। विरह की जो म्पु उमम रहित नहीं है।^४ वह कभी धरन का उमसे दूर दलकर विरह के धनु बहाता और कभी उमम रंग में रंगकर मगनाया हा जाता है।

वे मुग्धगिन बनकर धरने प्रियतम का हुँदल निभरने हैं और उमे न पाकर धरपूर हो जाते हैं। वे प्रियतम क अन्तम में धरना मन्त्रिनि बनाने हुए कहते हैं—

आन न भाषे, नोँद न भाषे, गृह बन धरे म धार र।
उवा कामा का काम पियारा, स्यां व्यासे का नरि र।

१ मिया मिया का है नही हमा देना की बत।

मर का उल मात बन है;

दुग्ग राय मिला तार बाब।

मन्त्रिया दुग्ग है रंग दिन मुग्ग में

कभी कबत मिउ गल गार।

२ हेरत हग ह मय गदा कार हगार।

४ तब पर मेग मन्त्र मुन मर न बोय।

५ मातुन हा मन्त्रन मन्त्र मन्त्र रंग दाग।

विरह का काम मन्त्र मन्त्र मन्त्र मे वेन मुग्ग मन्त्र मन्त्र।

धरन मुन कानु नरि लग का करि देर विबरा।

मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र का करि न करि पता।

मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र मन्त्र।

६ धरनि मन्त्र के बत मुग्गिन विर धरने का न हन।

रहस्यवादी धर्मन का समस्त गुणों और धारण्य वर धाम समझने हैं। उपनिषद्वादी में भी धर्मनैतावस्था की धारण्य-स्थिति की वस्तुता कुछ छोटी प्रकार की है। कवीर जो धर्मनगाथ में धर्मन क मीनी बरगने हेगने और धर्मनर गगीत का धर्मन स्वर सुनते हैं —

मोतिया बरस रउर दसया दिन राती ।
मुगस्ली मबद सुनि मन आनन्द भया,
ज्योति बरै दिन राता ॥'

कबीर जो गिन को मगरी क गामने मीर फाका बनता हैं। उनकी बहुत नगरी एगी है। जहाँ गिन का धर्म बागवत सम्मन रहा है। उन नगरी को जानबानी धर्म बहुत अच्छी धोर एगी गगोरी है कि उन पर धर ठहर नहीं पाठ।^१ उन स्वप्न में उनके धिर के दशन होते हैं वह उनक स्मृति से बाध पला है पर उनका धिपनम कही नैन स निरुध न भाग इपणित वह नैन बरु दिरि रहता है।^२ साध्यात्मिक परिधाम का यह धर्मनशांति का कबीर के रहस्यवाद की विशेषता है। यह कवीर की वाचाग्मानुभव का सिद्धि है। वह इन स्थिति में पहुँच कर समाग सुप्त प्राप्त करता है।^३

कबीर के रहस्यवाद में चिह्न की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। धर्मन स्वप्नो में उगरी बिरहावस्था अन्य-लोमा में पहुँचा गिवाई देती है। ये एक स्वप्न में बरते हैं —

पूछो पटकों पक्षंग से आली जागी आगि ।
आँकणख यह तन घरा ना सूती गर आगि ॥

यहाँ वह धर्मनका है जिसमें आत्मा परमात्मा में, प्रसिद्धा प्रमी से आनन्दस्य प्राप्त करती है।

१ नेदुका हसका तहि मारे ।

मारे की मना परम क्वी सुन्दर बड़ी कोरे मारे म बार्स ॥

२ केंका गेन राह रफरली, धीर नहीं बदरा ।

३ सुप्ने में सधि मिले साधन लिखा कथन ।

कविनि न पालु बरला। मरि सुप्ना हा मार ॥

४ हाम बानी उन देरा के, बड़े बाह मार विपल ।

मम बरे करार कथन, देव नु ज परकाम ॥

सूफीमत का प्रादुर्भाव

सूफी मत का प्राचीनता

सूफी' शब्द की उत्पत्ति फारसी के सूफ शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'शुद्ध बस्त' अथवा स्वच्छ है। इस अर्थ के अनुसार उन फकीरों को सूफी कहा गया है जो श्वेत बस्त धारण करते थे और सारंगी से श्रद्धाधारयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। सादा और सरल जीवन बिठाना स्वच्छता में निश्चय रहना और एक ईश्वर से प्रेम करना सूफियों की विशेषताएँ थीं। सूफीमत का जन्म इस्लाम प्रसंगे बहुत पहिले ही हुआ था। मस्जिदनाब से बड़ा ही उपासना और उसकी प्राप्ति में संयोग-सुग एवं अनाब में संयोग-बे'ना की भावना प्रागैतिहासिक काल से ही बनी पा रही थी। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के समय भी यह विचारधारा अपने अस्तित्व में थी। समय-समय पर इस विचारधारा पर नास्तिक यानी तब्रफ्तनादुनी यहूने मसीही बौद्ध और भारतीय धर्मों का प्रभाव पड़ता-अस-धर्म-धर्म प्रकार उसके मूलरूप में परिवर्तन होता रहा।

नास्तिक मत का प्रवर्तक माइमन नामक एक पग था जिसका सम्बन्ध शामी मत से बतसाया जाता है। यह बिरबाग किया जाता है कि जिस सम्प्रदाय पर शामी मत प्रामाणित है वह भारत से ही परिचयी केन्द्र में गई थी। फारसा प्रायों की एक शाखा यह साती थी। इस शाखा द्वारा जिम नास्तिक मत का प्रचार हुआ वह बौद्धमत पर प्रार रित था। इन्हीं विर्मों शामी मत का मा प्रचार था। इस्लाम 'मो मत के अनुयायी थे जिनका सूफी मत के विकास में बहुत योग रहा। इस मत के प्रवर्तक शामी को बौद्ध मत का भी पर्याप्त ज्ञान था। मन्मथनादुनी मत सिक्किरिया में विशेष-अचलित था। यह मत यूनानी दर्शन पर प्रामाणित था। यहूत साहित्यायन न इस पारधायन बरान पार सत्व माय और रहस्यवाद का एक मिश्रण कहा है। भारत के ब्रह्म और बौद्ध मत का प्रभाव सूफीमत पर दूसरा-तीसरा-चतुर्थी म-ही प्रारम हुआ गया था। तीसरी शताब्दी तक भारतीय बेदान्त का प्रभाव रोम और यूनान तक पम हुआ था। १ टी और ७ की शताब्दी में ही उगणियस-द्वारा रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस काल में परचात् प्रवास में धान नाम बौद्ध शैव, बदान्तो तथा बासुदेवमार्गीय प्रकाश पर इस रहस्यवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफी मत का इस प्रभाव से अगणित न रह गया।

इसका जन्म के पूव यस्तलम के प्रदेश में यहूदी धर्म का प्रचार था। ईसा म ५०० तीसरी शताब्दी के पूव ही-कूटिया के बरान में बौद्ध भिक्षुओं की यात्रा हुने लगी थी। एसा जान पड़ता है कि यहूदियों के धर्म में संशयान भावना का प्रवर्तक इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं

रहस्यवादी धर्मन मोड़ को समस्त गुणों की ध्यानरूप का धाम समझने हैं। उपातिपदा में भी मद्बैतान्यता की ध्यानरूप स्मिति की बन्धना कुछ इसी प्रकार की है। कबीर भी धर्मशास्त्र में धर्म के सीने वरने देने की ध्यानरूप गीत का महान स्वर सुनते हैं —

मानिया बरस रउर दमधा दिन राती ।
 सुरली मयद सुनि मन आनन्द भयो,
 ज्योति बरै दिन राता ॥'

कबीर को जिन की मयरी के गामन सैरेर फीका सगता है। उनकी यह मयरी लगी है जहाँ किता का म बागवन सम्मय पश है। उस मयरी की आननामो बल बहुत उंची कीर ऐसी स्पदीना है कि उस पर पैर टूटने नही पाते।^१ उस स्थान में उनके विर के लाल होत है वह उनके स्त्रो से बाह जाता है पर उनका प्रियम कही नैन से लिटन न मागे इपनि वह नैन बह झरे रहता है।^२ साधनात्मिक परिणाम का यह समझना मय कबीर के रहस्यवाद की विशेषता है। यह कबीर की साक्षात्मानुभव की स्थिति है। यह उस स्थिति में पहुँच कर समाप्त-सुख प्राप्त करता है।^३

दबार के यह पद्य में लिख की भी कभी गुजर अभिधक्ति मिलती है। धर्मक स्थानों में उगरी बिरहायसा अनम-दामा में पत्नी लिखाई देती है। व एक स्नान में बहते हैं —

चूड़ो पटको पक्षग से, आखी लागी आगि ।
 जाँकरख यह तन धरा ना सूती गर लागि ॥

यहाँ वह धर्मशा है जिसमें आत्मा परमात्मा में, प्रमिता प्रमी से ताबारस प्राप्त करती है।

१ सैहरा हमका मति माये ।

मरि की मला पान बति सुबर जहाँ कर्षे धारै न बारै ।

२ कौनो नैन राह एखोनी, पाव नरी अरार ।

३ सुने में धर्म मिले साधन जिना बगल ।

आराम बालु टण्डा मरि सुम्ना हा बाव ॥

४ हम बानी अत वेरा के, बरै बाह मल निगल ।

मम करे करसर कल्प देव बु ज परकाम ॥

सूफीमत का प्रादुर्भाव

सूफीमत की प्राचीनता

सूफी शब्द की उत्पत्ति फारसी के 'सूफ' शब्द से हुई है जिसका अर्थ रबत बम्बू अथवा स्वच्छ है। उस अर्थ के अनुसार उन फकीरों को सूफी कहा गया है जो स्वच्छ वस्त्र धारण करते थे और गारगी से शुद्धाचारयुक्त जीवन व्यतीत करते थे। माशा और मरत जीवन बिनाना स्वेच्छा से निश्चय रहना और एक ईश्वर से प्रेम करना सूफियों की विशेषताएँ थीं। सूफीमत का जन्म इस्लाम के प्रथम बड़े पैमाने पर फैला हुआ था। माशाबाब ने बड़ा ही उपामना और उमकी प्राप्ति में संयोग-मुग एव प्रभाव से संयोग-बदला की माशा प्राचीनतामिक काल से ही चली आ रही थी। इस्लाम धर्म के प्रथमक हज़रत मुहम्मद के समय भी यह विचारधारा अपने अस्तित्व में थी। समय-समय पर इस विचारधारा पर बाह्यिक यानी लक्ष्यकलातुनी बहुतों मनीही बौद्ध और भारतीय बेशास्त्र का प्रभाव-पड़ना-रख-घोरे-रन प्रकार उत्तक मूलरूप में परिवर्तन होता रहा।

माशिक मत का प्रथमक माहमद सामक-परे-यग था जिसका सम्बन्ध शामा मत से बतलाया जाता है। यह विरवाग जिया जाता है कि जिस सम्प्रदाय पर शामी मत बाधारित है वह भारत से ही परिचयी हुआ में कई थी। फारसी भाषा की एक भाषा मा कह जाती था। इस शास्त्र द्वारा जिस माशिक मत का प्रचार हुआ वह बौद्धमत पर आधारित था। इसी दिनों मानी मत का भी प्रचार था। इस्लाम के आगमन के अनुशासी से जिसका सूफी मत के विकास में बहुत योग रहा। इस मत के प्रथमक 'मानी' को बौद्ध मत का ही पर्याय जाना था। लक्ष्यकलातुनी मत सिद्धपरिया में बिराद-प्रचरित थी। यह मत यूनानी दान पर आधारित था। यहूत सांख्यवाद ने इस धारवाय्य दान और सत्य वाय और रहस्यवाद का एक मिश्रण बना है। भारत के बंगाल और बौद्ध मत का प्रभाव सूफीमत पर दूसर-सर्व-सर्व-सर्व-सर्व ही प्रारंभ हुआ था। तीसरा शान्ती तक भारतय बेशास्त्र का प्रभाव राम और यमान तक पत हुआ था। ६ टी योग ७ की शान्ती में ही सानिपदों-द्वारा रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस बात के परनाए प्रकाश में धान बास बौद्ध शैव, बंगाली तथा कामुदबमानीय प्रकाश पर इस रहस्यवाद का पर्याय प्रभाव पड़ा। सूफी मत भी इस प्रभाव से अत्यन्त न रह गया।

इसके अन्तर्गत के पूर्व पर्यवसत के प्रथम में सूफी मत का प्रचार था। ईसा में १०वीं शताब्दी में जब पूर्व-ही-कर्मिया के बहा में बौद्ध विचारों को धारा प्राप्त हुआ था। ऐसा जान पड़ता है कि सूफियों के धर्म में संन्यास-माशा का प्रथम इन्हीं बौद्ध विचारों

के प्रभाव से हुआ था। मंग्याम-मुक्ता प्रभिन को प्रभावता का ईसाई धर्म में प्रवेश भी बौद्ध विचारधारा के प्रभाव का परिणाम है। 'महरी धीर ईसाई धर्म की इन मंग्याम भावना का प्रभाव मछी मत्त पर स्पष्ट देखा जाता है। मनीहू के मुक्त मुहम्मद एलीन सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यह सम्प्रदाय महरी धीर बौद्ध धर्म का एक मिश्रण था। धीरिया धीर बनरा में भी बौद्ध भिषगा ने यहाँ धार्मिक धर्म का प्रचार किया था जिसका प्रभाव शामी मत्त पर पडा। इस मत्त से मुहम्मद साहब भी अप्रभावित न रह सके। बहुर सम्प्रदाय है कि कुरान में मोह धीर एहसासखद संयोग-विषय (मादत साब) की भावना का प्रवेश शामी मत्त पर पडने वाले भारतीय प्रभाव का ही परिणाम हो। कुरान में प्रस्ताह के सबन्धापी धीर अलदीमी होने की जो बात कतो गई है, वह अतिपिता की विचारधारा से भी सुहीन हो सकती है। मुस्लिम में भी ईश्वर के सम्बन्ध में वे ही भावनाएँ स्वल्प की गई हैं। इन प्रकार हम-मुस्लिम पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव देखते हैं। इसमें स्पष्ट है कि सुस्लिमत भारतीय बेदागत युवापी इतल धीर कुरान धर्म का एक समिप रूप है।

सुस्लिमत का विकास

बाहे जो हो पर इसमें शक्य नही कि सुस्लिमत का जन्म धर्म के नाम पर प्रचलित धारणा के अन्दर सम्भव ही प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ। इस मत्त के विकास के हम नील मोपल दुस्लिमत होते हैं। प्रथम मोपल में धार्मिक धारा धीर रबिया का प्रमुख स्थान है। इनमें रबिया का उद्गम सबसे धार्मिक महत्त्वपूर्ण है। यह ईश्वर को अपना प्रियतम मान उसके रो-रोकर प्रार्थना करती धीर प्राणवित में मूर्ति हो जाती थी। सुस्लि साहित्य में प्रयुक्त प्रेम का मुरा के रूप में मकप्रथम-मधुप रबिया ने ही किया था। इस समय यह केवल समुत्तिप्रधान मत्त था।

द्वितीय मोपल में ही सुस्लि मत्त पर तास्लिफ मत्त तथा भारतीय बेदागत धीर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव पडा। इसा समय म इस मत्त में बाब-बहा को एकता धर्म की महत्त्वपूर्ण तथा भावना के धारण की व्यापकता के विचारों ने प्रवेश किया। इसी काम में मुहम्मदीय मत्त का विरोधी संगुर धर्म-मत्त-दुक की ध्वनि बोधित करता हुआ शूलो पर चडा दिया गया था। इसी समय दरली धारणी ने संसार-त्याग धर्म तथा ईश्वर-धर्म धीर धारणमपण की भावना का प्रचार किया था। इसके परभाव धीर कुनैद भी मुहम्मदीय मत्त के विरोधी थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न प्राविशील मत्त-धारणों को ग्रहण कर प्रथम मोपल म जिस सुस्लि मत्त ने जन्म ग्रहण किया उसका विकास द्वितीय मोपल में इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा के रूप में हुआ।

१ लिपिक, 'मौला रहल' दृष्ट २२२।

सूक्ष्ममत्त के विद्यमान के तृतीय युग में दो विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। एक विचार धारा के पिछले अनुसार यह प्रचार किया जा रहा था कि विचार एक ही, वह सबव्यक्तिमान् थी। सबव्यक्तिमान् है, वह स्वयं ही धर्मव्यवस्था है, तथा सबव्यक्तिमान् है। यह विचारधारा क्रिया प्रधान कर्मव्यवस्था विचारधारा थी। दूसरी विचारधारा मूर्तियों की दो विधियों 'रश्मि' और 'बीज' का एकता उमकी सबव्यक्तिमान् विधि में वह क सौन्दर्य का बरतन, प्राकृतिक अनुसंधान, धर्मव्यवस्था-ईश्वर-कर्मयोग-विद्या-में विरह मिश्रण की उत्पत्ति, आदि का सम्पादन था। कर्मव्यवस्था विचार-धारा एकव्यक्तिमान् की धोर सूक्ष्म विचारधारा सर्वव्यक्तिमान् की थी।

सूक्ष्म विचारधारा

मूर्तियों न बहु का विकल्प उसी प्रकार किया है जिस प्रकार हिन्दू-साधना में इसका विकल्प है। इस्लाम धर्म एक धम्माहक धार्मिक और किसी को बताना नहीं मानता किन्तु सूक्ष्म उम धम्माह की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करते हुए भी उमक 'खीम' (कर्मव्यवस्था) का पर ही अधिक बड़ा प्रकट करते हैं। इस्लाम का एकव्यक्तिमान् धम्माह सूक्ष्ममत्त में निगुल विचारधारा और सर्वव्यक्तिमान् बन गया है।

इस्लाम ने जीव न सम्बन्ध में कोई विशेष बात न कहकर बीज और प्राणा का सम्बन्ध सूक्ष्म-नवक के रूप में व्यक्त कर दिया है। किन्तु सूक्ष्म मत्त भारतीय-ब्रह्मण की तरह बीज और ब्रह्म में कोई धर्म नहीं मानता। वेदान्त का यह सूक्ष्ममत्त में 'धर्म-धर्म-रूप' हो गया है किन्तु इस सम्बन्ध में सूक्ष्म मत्त के प्राचार्यों में कुछ मत भेद है। इस्लाम जीव का सबका बड़ा नहीं मानता। बल्कि यह मानते हैं कि जिस प्रकार प्रमी और प्रिय वेदान्त में एक-दूसरे का पक्ष है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी कहने के लिए एक-दूसरे से पूछते हैं किन्तु ब्रह्मण में एक ही है। जिवी के मतानुसार प्रमी और प्रिय (जीव-ब्रह्म) एक ही धर्म के दो रूप हैं, या दो मिलन शरीरों में रहते हैं।

मूर्तियों के सम्बन्ध में मूर्तियों का मत वेदान्त में भिन्न है। वे मूर्तियों का उपादान कारण 'बहु' को मानते हैं। यह स तात्पर्य उम धर्मव्यवस्था-सम्बन्ध में है, जो-जमें ब्रह्म को धर्मक विचारधारा है। जिस प्रकार मनुष्य की यह ब्रह्म के लिए व्याकृत होता है उसी प्रकार यह मूर्तियों को उमक लिए व्याकृत होती है। यह का सम्बन्ध शरीर में है, बही मूर्तियों में भी है। जिवी का कथन है कि धम्माह न सबस पहिले धरना मत्ता की यह का रूप दिया और उमों से मूर्तियों परितुर्तों और ब्रह्म की उत्पत्ति हुई। उमों में जो कुछ ब्रह्मिण्य होत है वह सब धम्माह का धर्म-साधन है। मूर्तियों के रूप में धम्माह का बरतन होता है। उम रूप में धम्माह का जो प्रतिबन्ध है, बही इस्लाम है।

मोक्ष के सम्बन्ध में मूर्तियों का विश्वास है कि सब व्यवस्था 'यह' का भ्रम त्याग कर मूर्तियों के सौन्दर्य का धम्माह का रूप उमकन मत्त है। उमका अपने शरीर से मोक्ष दूर जाता है और वह धम्माह में मिल जाता है।

भारतीय जनता के धनुमार 'सुधी' का धीर चीज के बीच एक घाबरल हाल देती है। सुधियों के धनुमार यहाँ गठान है। दुःख में भी गैरगम की बलाग की गई है पर सुधिया की शैशव विषयक भावना कुलग की प्रायत से भिन्न है। कुलग बु शानत वा काम इत्यादि का बहुधाकर सुधाई रात में डूर करता है। सुधियों का सगाण पान्नाइ वा मरल धीर पान्नाइ की प्रायपना करमबाको वा परीचर है। सुधिया के इन शैशव वा मय वहाँ है जा हिन्दुओं के सायद वा है।

'धन-धन-दूक' सुधिया को प्रथम प्रायत है। वे इन्ध धीर बीच म काई मय नहीं करते धीर यह मानते है कि धनुमार न इत्यादि का शकता धानमभनत वा प्ररम म ही धपने से भिन्न की है। बर इत्यादि के दुःख ही प्रायपरशन करता है। अब यह धानम बर्यत 'परमाथ इत्यत' में परिग्रह हो जाता है नव धनुमार धीर इत्यादि का धन मित जाता है। अब मायक धपनी प्रायपना द्वारा धपने को इत्यादि धनुमक करम लगता है नव लकी प्रायपना पुत हो जानी धीर वह बर्य में विनील वा जाता है।

सूधी प्रायपना

सूधी-प्रायपना के कय धंग है। नूठे प्रायपना-पूणि क बार प्रायपना ही बहना प्रायपना।

वे है—लरीकठ लरीकठ प्रायपत धीर शकीकण।

शकीकण सूधी प्रायपना का प्रथम सोपाल है। इसमें सायक धपनी नूठि के मित प्रायपताप करला धीर धपने ऐसी नूठे न करने तथा ईश्वर को प्राजा में कान की प्रलिप्रा करला है।

'लरीकठ' की शिक्ति में वह साकारिक कर्मों का शान क मय वाको धीर सुधय छ पविक बगने का प्रथम करला है धीर ऐसा प्रायपना करला है कि जिनमे उने मयैक ईश्वर का ध्यान बना रहे।

'मायकण' की प्रायपना में वह धरीक ईश्वर का धिस्तिकरता रहना धपना बिकुल होकर मय वे इत्यादि की प्रायपना करला धीर धपने धीर 'माय' क बीच के धान को डूर करने का प्रथम करला है। अब मायकण की प्रायपना पुन मयलतापबक वार ही जाती तब इन्ध धीर बीच का संयोग होता है। इसे ही सूधी मनममदी प्रायपत करते है। यह सूधी सायक की अनुभ प्रायपना 'शकीकण' है। सूधी मन की धानपना विचारप्रायपना के धनुमार यह मय बार सप्रदाओं में बिचकत हुआ धिरनी सप्रदाय मोहूदावदी सप्रदाय काही सप्रदाय धीर लक्ष्मीकी सप्रदाय। इन सप्रदायों का प्राधार विचारप्रायपना के शान ही प्रायपना प्रलाती की भिन्नता की प्राय-

भारत में सूधीमत का प्रवेश

सूधी लकीरों का भारत में प्रवेश ७ बी शताब्दी में ही हुआ था धीर वे विध तथा धान में धीरे गये थे। मुस्ताप लकवा मयने बर्य केन्द्र वा बिकु बहाँ इस मन का

प्रकार मुस्लिम-शास्य की स्थापना और बढि के साथ ही हुआ । समयगत गीत शताब्दियों तक पञ्जाब और सिंध पर मुस्लिम का निरन्तर प्रभाव बना रहा । यह मत पश्चिमे में ही भारतीय बेशान्त बौद्धमत तथा भारतीय बेशान्त सं प्रभावित मन्त्रशास्त्रों द्वारा से प्रभावित था । पञ्जाब में यह मन्त्रपरिष्कार ग्रीकशास्त्रों बौद्ध भिक्षुशास्त्र तथा भारतीय बेशान्त के मन्त्रों में प्रायः और सूक्ष्म मन्त्रों द्वारा विचारधारा में परिचित हुए । इन मन्त्रों का भारतीय उपासना-पद्धति से कोई विचार न था । उनका ब्रह्मभवा भी यहाँ के विद्वानों और योगियों द्वारा ही थी । इसमें भारतीयों ने उनका विचारधारा का कोई विचार नहीं किया और यह मत और-गोरे-योगियों-मन्त्र-करण-करता गया ।

इस देश में सूक्ष्मता का प्रवेश पार मन्त्रशास्त्रों के रूप में हुआ किन्तु उत्पन्न पहलु दिशा का पुनः है । य मन्त्रशास्त्र तुर्कीशासन ईरान ईरान और अफगानिस्तान के सूक्ष्म मन्त्रों द्वारा यहाँ आए थे । साम्प्रदाय में इनमें से किसी भी मन्त्रशास्त्र को राजाध्वय प्राप्त न था । इन साम्प्रदायिक विचारकों को अपनी व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता महत्ता और साधना के रूप पर ही अपने विद्वानों का प्रचार करना पन्ना था । उनके जीवन में शुद्धाचारण और साहित्यशास्त्रों को प्रभावित होने के कारण उनका स्वभावतः इतना और भ्रूणो गई । एक और सूक्ष्मों का यह शास्त्र और अहिंसा से गुण समर्पण थी और दूसरी पार समस्त के रूप पर इत्यादि का प्रचार किया जा रहा था ।

सूक्ष्मता के चारों मन्त्रशास्त्र धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से समस्त उद्देश्य से और मूल विद्वानों में प्राप्त समान थे । इनके साक्षात्कारक दृष्टिकोण न ही इन्हें विभिन्न रूप से रूप थे । उदाहरणार्थ बिरुध और काबरे मन्त्रशास्त्र में संगणक का भी स्थान था । इन दोनों मन्त्रशास्त्रों के मतानुसार संगणक और मन्त्रों द्वारा द्विपत्त (ईश्वर) को निम्नतः के लिए साक्षर्यक थे । मन्त्रशास्त्रों और नक्षत्रशास्त्री मन्त्रशास्त्र इन साक्षात्कारक विरोधा थे । इनके मन्त्रशास्त्र में मन्त्री जाति और बर्गों के अन्तर्गत स्थान का मन्त्र थे । एकरूपक की हीन के कारण इत्यादि समस्त विचारों का भी इनमें विरोध न था । यह य किन्तु और मन्त्रशास्त्र शास्त्रों में समान प्रिय थे ।

बिरुधी मन्त्रशास्त्र

इस मन्त्रशास्त्र का प्रथम बर्णना पार पञ्जाब और बिरुधी थे परन्तु मन्त्रशास्त्र का भारत में प्रायः का समय पञ्जाब मन्त्रशास्त्र बिरुधी को ही विरोध १२ वा शतक के अन्तिम वर्षों में मन्त्रशास्त्र का भारत में प्रचार किया । यह मन्त्र ११२२ ई में शह-बुद्धि शास्त्र के साथ भारत में प्राप्त थे । यह मन्त्र उनके मन्त्रशास्त्र का प्रथम बर्णन था । भारत में इसी मन्त्रशास्त्र का अनुपासनों की मन्त्रा सूक्ष्मतापरिष्कारों में मन्त्र धारिक है । मन्त्रशास्त्र में इस मन्त्रशास्त्र को उपासना भी प्राप्त था ।

मुहम्मदवादी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए गर्बप्रथम सिद्ध बलामुद्दीन मुय्याजि सन् ११६६ ई. में अफगानिस्तान में यहाँ थाए थे। सिन्ध, गुजरात और पंजाब इस सम्प्रदाय से विशेष प्रभावित रहे। इस सम्प्रदाय का प्रभाव बिहार और बंगाल तक भी था। राजा और पन्ना गरी इन सम्प्रदाय को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इस सम्प्रदाय के कुछ लोगों को राजपूत तक सम्मान का सम्मान प्राप्त था।

कादर-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय को बग़दाद के शेख अब्दुल कादिर जीलानी सन् ११६६ ई. के लगभग जन्म दिया था। इस सम्प्रदाय में उरदु प्रेम और भावुकता की प्रधानता है। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रवेश सन् १५८२ ई. में शर बन्दगी मुहम्मद गीज द्वारा हुआ था। सिन्ध प्रदेश इसके प्रचार का विषय बन था पर पंजाब और काश्मीर पर भी इसका प्रभाव कम न था।

नवरायणी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवक्तृ शुक्तिस्तान के क्वाजा बहा-उल-दीन-नवरायण थे। इस दौर में इस सम्प्रदाय का प्रचार क्वाजा मुहम्मद काफ़ी गिफ़साद बेरेग द्वारा १६ वीं शताब्दी में हुआ। इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण दुष्टिवादी था जिससे यह सामान्य जन-मानस का अधिक प्रभावित न कर सका।

बाग़लिकोह के मठानुसार हिन्दू-ब्रह्म-वैश्या-और-सूफ़ी में विशय अन्तर नहीं है। दोनों अद्वैतवादी हैं। वे एक ही ब्रह्म का मानते हैं जैसे हिन्दू 'परम' और सूफ़ी 'मूतक' कहते हैं। यह ब्रह्म अस्पष्ट संकल्पार्थ और सर्वात्म्यता है। उसी ब्रह्म से परिचय प्राप्त कर अद्वैत-भावना के सम्बाध प्राप्त जीव ब्रह्म की स्थिति प्राप्त करता है। नामून मलकूत अबरक़ और लाइत ब्रह्म को प्राप्त करने की चार सीढ़ियाँ हैं। हिन्दू क़तल में इन्हीं को अमल बाग़लिकोह, इब्रानिकोह, सुयुष्टि और तुरोप अन्तर्गत कहा है।

बाग़लिकोह के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि साहजिकी के शासन-काल तक हिन्दू धर्म और सूफ़ी-क़तल एक-दुसरे के बहुत समीप आ चुके थे और इन दोनों धर्मों के प्रति भारतीय हिन्दू मुस्लिम जनता का समान अनुदाग था।

सूफ़ियों के मठानुसार ईश्वर प्रेम का भूषण है। उसने सृष्टि के रूप में जो सौन्दर्य प्रमित्यत कर रखा है, मृष्टि में जो सौन्दर्य दृष्टिकोचर होता है वह उसी एक दिव्य गुणा के लोभ्य है। ब्रह्म प्रेम्ही है और जीव प्रमी। ब्रह्म सोम्यतुता है और जीव प्रमयुष। ब्रह्म और जीव की एकता ही साधना का ध्येय है। यह साधना साधारण ईश्वर और कर्मों के

रथाग से हो सकती है । सूफी कब्रिया में इसी तात्त्विक विचारधारा का प्रचार करने के लिए मसजिदों-काब्रियों की रचना की थी । हम आसानी तथा अल्प प्रयत्नसे काब्रियों के काब्रिया में सूक्ष्ममत की विचारधारा पुनः प्रोत्थित मिलती है ।

सूफी साधक

मसूदी सन् (१०४५) मुईनुद्दीन चिरती (११४२) कुतुबुद्दीन नाफी (११४३) निजामुद्दीन औसिया (१२३५) तुसरा (१२५३) अहिया मुनीरी (१२६३) शेख चिरती (१२६१) बरहानुद्दीन गरीब (१३३७) अमी कसंवर (१३४३) आदि प्रसिद्ध सूफी साधक हैं जिन्होंने अपने काल में भारत में सूफी विचारधारा का प्रचार किया । इन सूफी साधकों में हिन्दुओं से मिलती-जुलती एक 'हिन्दवी' भाषा का अपने प्रचार का माध्यम बनाया था । भारतीय भाषाओं की तरह इनमें भी शिष्य-परम्परा थी । इस परम्परा में प्रसिद्ध मुफ्तिया द्वारा उत्तर तथा दक्षिण भारत में भी अपने मत का प्रचार किया गया था । सूफी मत के भारत में प्रवेश करने के पूर्व से ही इन मत का साहित्य लिखा जाना जाता था । यह साहित्य-रचना का कार्य भारत में जो चलता रहा जिससे सूफी साधकों को अपने प्रचार में बड़ी सहायता मिली ।



हिन्दी का सूफी फ़ाख्य-साहित्य

सूफा काव्य का काम

जब एक जाति का बुरा बेश में प्रबल हान पर बहू को धर जातिवा म मन्त्रक हाता है तब शनों काति-सुभुशायों के साधार विचारों धीर सीति-मोति का बनिमम कुछ इन प्रकार हाते समयता है कि बाता जातिवा की मून मन्वता धीर संस्कृति म मा एक मपुत्र परिवर्तन दुष्टिगेकर होने सवता है । यदि वाता जातिवा की धरनी धरनी गम्यता धीर संस्कृति पपतिन विकसित हो ता बातो के एक साथ रहन पर उनम बिराय परिवर्तन नहीं होता । भारत म मुसलमाना क प्रबल के परभाव क हिन्दुवा के मन्त्र म पाय । धारम के मुसलमाना म विजय-नाम ने उन्हें हिन्दुवा मे मन्त्र म हात दिया किन्तु यह स्थिति धरित दिनों तक न रह सकी एक-दुसर म बुर रहन के कारण बाता जातिवा की सामाजिक प्रवृति सम्भव न थी । मुस्लिम शासक वर्माश्रिता क मन म बुर रहे पर सामान्य मुस्लिम जनता हिन्दुओं के समीप जाने को स्वयं ही उठी । हिन्दू मुस्लिम एव की इन बहनी हुई प्रवृति को कबार की बाणी से प्रोत्साहन मिला । 'कबीर-द्राघ प्रचारित सामान्य धर्म' ने दोनों जातियों को एक मंच पर एकत्र होने का पथसार दिया । कुछ समय के पश्चात् एक ऐसा समूह भारत के पितृव पर धरताम्य हुआ जिसका लक्ष्य व्यावहारिक जीवन को एवता की स्थापना के माध ही प्रेम पर धारणित सक्ति-माग का प्रचार करना था । यह समुदाय सूफी धर्मों का था ।

सक्तियों का प्रेम लौकिक नहीं पारलौकिक का हिन्दु उनक उत्कृष्ट प्रेम धीर उबार हृदय भावना क कारण सूफी सम्प्रदाय में भी प्रथमक परोक्ष-सत्ता का एक सीमा तक स्वतंत्र स्वल्प प्राप्त हुआ धीर उन्होंने भारतीय सक्ति-माग से प्रभावित हो ब्रह्म का स्वतंत्र धीर प्रथमक रूप स्वीकार किया । सूफी उस ब्रह्म के उपासक से जो निर्गुण धीर निराकार होने के साथ ही धरता प्रेम का उबार भी है । उग्रान ब्रह्म की प्रसिका के रूप में धीर सापक की प्रमी क रूप में बहता की । ई एरेबर बाबी इस्लामी प्रभाव धीर समीची परम्परा क कारण धरने उपास्य के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप में कुछ भी कहन मे असमर्थ थे धर उन्होंने धरने सिद्धान्ता के प्रचार के लिए प्रमाख्याओं का साधन लिखा धीर इनके माध्यम से ईरवर प्रेम की धमिध्वजता की । उन्होंने इन प्रमाख्याओं की रचना भारतीय कथामका के साधार पर ही की जिससे भारतीय हिन्दुवा का इन धमिध्वजों की धीर ध कथित होना स्वाभाविक हो गया । इनकी ईरवर प्रेम की धमिध्वजता साकेतिक थी । यही कारण है कि इनकी बाणी

निर्गुण-भक्ति काव्य के प्रणेता सन्त कवियों की बाणी से अधिक व्यवस्थित शृंगार बढ़ तथा अधिक प्राञ्जल भाषा में होने पर भी सामान्य जनता को सग्न बाणी की तरह प्रभावित न कर सकी ।

प्रेममार्गी काव्य का प्रवाह

हिन्दी में प्रेममार्गी साहित्य का प्रवाह दो चरणों में थाया है । हम इनमें से एक को हिन्दी और दूसरी को 'धरती काव्य यात्रा' कह सकते हैं । हम प्रेममार्गी साहित्य को सबप्रथम जिन जिनकी न पाते हैं उसका मूल उद्य सामान्य भाषा' में है जिसका निर्माता गुन काम (सं २७६ १२५ बि) में उत्तर भारत में प्रचलित शौर सेनी मागधी महाराष्ट्री प्रांति साहित्यिक भाषाभाषा के सामान्य रूपों को लेकर हुआ था । यानका और प्रायः शताब्दी में इस भाषा का राजपूत-गुजर शासक द्वारा विशेष प्रोत्साहन मिला और यह उनके द्वारा प्राप्त बनता की व्यावहारिक भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगा । इसमें उनकी अपनी मातृभाषा की कुछ खनिया का भी समावेश हो गया । धर-धीरे यह भाषा उत्तर भाषा से दक्षिण भारत के कोकण प्रदेश तक की जनता की परस्पर के व्यवहार की भाषा बन गई । मुस्लिम धामन में पूर तक यह बोलचाल की भाषा बनी रही । इन देश की जनता धरबी-धरमी से प्रभावित भी प्रथम मुसलमानों ने इसी बोलचाल की भाषा को अपने धर्म-प्रचार के माध्यमिक रूप में स्वीकार किया । धर इसमें धरबी-धरमी के कुछ शब्द भी मिलान लगे और इनका काव्य रचना में होन लगी ।

हिन्दी का सुफा-साहित्य

हिन्दी में काव्य रचना करनेवाले कवियों का हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं । प्रथम श्रेणी में वे कवि हैं जो वास्तव में धरमी या काव्य कृत थे । पर कभी-कभी कुछ हिन्दी में भी लिख लेते थे । मसूद और गुनरी ऐसे ही कवियों में से हैं । दिनाय खेरो में फरीद शहरगरी जैसे गुफा कवि हैं । शृतीय श्रेणी में वे कवि हैं जिनका उद्देश्य ही इस्लाम धर्म का प्रचार था । शैय्य मुहम्मद गैसालख ऐसे कवियों में से एक हैं । माझीर दिन्नी और मुतदान इन तीनों श्रेणियों के कवियों के प्रमुख कर्ता थे । साथ धर्मियों-द्वारा प्रयाजित हिन्दी और उत्तरी हिन्दवी में अधिक धरमी न था । इनकी हिन्दी में धरबी धरमी के शब्दों का भी प्रयोग था जब कि नासर्धियों की हिन्दी में इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता । इन्होंने भी धरमी रचना में भारतीय परम्परा के धर्मकारों और धर्मों का प्रयोग किया है । धरबी-धरमी के शब्द भी तबतक रूप में ही व्यवहृत हैं । योग बेगम धारि से सम्बन्धित शब्द मुस संस्कृत के हैं । फरीद शहरगरी की कुछ रचनाएँ 'धरि धर्य' में भी समूहित हैं । शैय्य

महम्मद वीमबराज (सं १३०३ से १४०५) का हिन्दवी में लिखा एक ग्रन्थ 'मैराजुम पारशीन' उपलब्ध है। मगर का भा एक कविता-सङ्ग्रह (बीबान) बतलाया जाता है पर वह उपलब्ध नहीं है।

इस कवियों न बहिष्कारा रचनाएँ स्फुट पर्वों बाहों धीर यज्ञता म ही की है। इन्होंने कुछ मसमबा भी लिखी है पर वे भारतीय परम्परा से प्रभावित नहीं है। मुहम्मद तुगलक की बहिष्कृत-भाषा के साथ उच्च भारत का सूफी-साहित्य बहिष्कृत से पहुँचा धीर बहिष्कृत भारत में सूफी मन का प्रचार प्रारंभ हुआ। 'सुतनाम धीर 'सुरताज' हिन्दवी प्रथवा बरबी भाषा में लिखे प्रमाण्य है। यद्यपि इन भाषा का सूफी-साहित्य धार्मिक लोकप्रिय न ही सका तथापि हिंदी भाषा धीर साहित्य के विकास की दृष्टि से इस साहित्य का भी महत्व कम नहीं है। मन्वत् १६२७ वि तक इस भाषा में त्रिम साहित्य का निर्माण हुआ वह कमल धार्मिक है। इस साहित्य की रचना बघ धीर पद्य दोनों में हुई है। प्रमोतुरीन घामा म १६४६ से १७३२ वि) इस धार्मिक साहित्य के विशेष उल्लेखनीय रचयिता है। इनके धार्मिक साहित्य शाहीराज लमजुल उरताक शाहजुल्लाह मुहम्मद कुतो कुतुबशाह धारि हिन्दवी के ग्रन्थ कवि है।

अधर्षी का सूफी-साहित्य

अधर्षी में प्रथम महम्मदपुत्र प्रमाख्यानों की रचना हुई है। प्रथम सूफी प्रमाख्याल के रचयिता मुस्ताशाऊर है। इन्होंने नूरक धीर खंदर का प्रमाख्याल म १३७२ वि० के लगभग लिखा था। इनके परचात् लिख जानेवाले प्रमाख्यालों में पद्यालत मुयाबती मधुमाजती प्रमा बती धारि विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से पद्यालत मुयाबती धीर मधुमाजती ही उपलब्ध है। यद्यपि प्रमाख्यालों की लेखन-परम्परा मुस्ताशाऊर के बाद प्रारंभ हुई थी तथापि इनका विकास आयधी लिखित पद्माबत के साथ ही हुआ। आयधी से प्रोस्ताहन पाकर उनके परचात् भा कुछ प्रमाख्याल लिखे गये। उसमान की 'बिबाबती' लेख नहीं का 'आजिलशाह का प्रेरतल' इसी कास के प्रमाख्याल है। इनके धार्मिक प्रामात्र लिखित 'माबदानस काम खंदला धीर मिहार लिखित 'सुनुक कुलका मी सूफी साहित्य की उल्लेखनीय काव्य रचनाएँ हैं। शही धीर भाषा की दृष्टि से इन काव्यों में बहुत धाम्य है धीर से सभी भारतीय काव्य-परम्परा से प्रभावित है। इनक शत्रु बर्देन धीरध्व बिनख धारि मजी म भारतीय परम्परा का अनुकरण किया गया है। पूछ साहित्य त्रेम की लगभग से पूछ है। इनमे त्रेम के प्रायः सभी कथा का चित्रण मिल जाता है। यद्यपि हिन्दवी का सूफी-साहित्य अरब से विकसित सूफीमत की साहित्य-प्रसिद्धता है तथापि इसका दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय है। इस सूफी प्रथवा प्रमायरी कवियों ने प्रम ना बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उदारवाच नूर मुहम्मद की से वक्तव्य बलिष्—

‘जाना वहिऊ प्रेम महुँ हीया ।
मरै न कहहुँ सा परजीया ॥
प्रेम सेत ई यह दुनियाई ।
प्रेमी पुण्य करत पाबाई ॥
जीवन आग प्रेम को कइई ।
सोवन माधु ओ प्रेमा बहइ ॥

यदि हम सूक्ष्म-काव्य में निहित आध्यात्म भावना का पथ बतें तो हम उनका प्रम-
नित्यत्व भाग्य परम्परा में मिला जाम पढ़गा । प्रेमिका के मौल्य की बस्यता में ही
प्रेमी का मूर्च्छित हो जाना मार्गीय परम्परा की बात नहीं है पर सूक्ष्मता के अनुसार
साधक अपनी प्रेमिका (ब्रह्म) के मौल्य की बस्यता में भी मूर्च्छित हो सकता है । सूक्ष्म
भावकों का प्रेम ईश्वरोग्गुण है लौकिक नहीं । उनमें आध्यात्मिक तत्व निहित है ।
वास्तव में आध्यात्म-भावना ही उनके प्रेम की आत्मा है । उन्होंने नायिका का विचल
चिन्मय मत्ता के प्रतीक के रूप में लिया है और प्रेमी (जीव) को उसके विरह की घनि
में रहम हाथ बनसाया है ।

सूक्ष्म प्रमास्यान आध्यात्म की भावना और ब्रह्म की रहस्यवाणिता का संकर बन
वे पर घन तत्त्व उनका यह रूप न रह सका । मज्जिम सुहम्म आसपी के परचात् इन
प्रेमावधानों में-आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट होगा मया और उनके स्थान में लौकिकता
की वृद्धि होती है । ‘पुमुठ जुनगा’ (सं १८७६ वि०) तक आते-आते सूक्ष्मता के
प्रतिपारक प्रेमावधान केवल प्रेमास्यान ही रह गये । परिणामस्वरूप उनका महत्व भी
घट गया । ये सूक्ष्मता की सीमा में पुपक हो बोधी कथाओं के चर में पहुँच गये ।

सूक्ष्म भावकों का ‘विरह’ भी उनका प्रेम की तरह ही ईश्वरोग्गुण और व्यापक है ।
बहि मंथन कहते हैं —

‘विरह अथपि अथगाह अपारा ।
कोटि माहि एक पर न पारा ॥
विरह का जगत अविग्धा जाई ।
विरह रूप यह सृष्टि मचाइ ॥
नयन विरह अजन जिन मारा ।
विरह रूप रूपन मसारा ॥
काटि माहि विरला जग फाइ ।
जाहि सर्गार परछ दुख दाइ ॥’

बहि-द्वारा बिरिन यह विरह प्रेम-प्रेमिका अथवा त.प.व.नायिका का विरह नहीं है,
यह ब्रह्म और जीव का विरह है । जब जब ब्रह्म के विरह में लड़न-लड़न कर प्राण धाई

दा है तभी वह बड़ा को प्राप्त होता है। संस्कृत के नारी-गीत-वचन की म
पक्षिणी भी वरानीय है। इनमें कवि ने नारी-गीत-मं परमात्मशक्ति का
स्थापना की है—

‘एही रूप दुत अछ छिपाना ।
एही रूप मय गृष्टि ममाना ।।
एही रूप मरुती औ सीऊ ।
एही रूप त्रिमुवन पर त्रीऊ ॥’

इस धारा के प्रमुख कवि

गूढो कवियों की परम्परा स्पष्ट रूप में कुतबन में धारण होती है जिन्होंने त्रिजरी
संस्कृत ६०६ में मुवावती नामक मित्रा का। इसमें अग्रमकर के रा कुमार तथा
वचनमकर की राजकुमारी मुवावती का प्रेमसाधा है। कुतबन में प्रेमसाधा के वृत्त तथा
स्वाय धारि का बखान करत हुए अज्ञान की प्राप्ति की साधना का सामान दिया है।
प्रेमसाधा त्रिगतवान कवि का नाम में मनिष मुहम्मद जायसी का प्रमुख स्थान है जिनके
पद्मावत और अग्ररावत नामक काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पद्मावत में मानव-हृदय के उन
सामान्य भावा के चित्रण में बड़ी ही उदारता और सहानुभूति का परिचय दिया गया है
जिनका वैध और कानि की संकीर्णताओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। प्राकृतिक वृष्टियों के
बखान में कवि इनका तन्मय हो जाता है कि वह अखिल वृत्त-अपत् को एक निरंतर
प्योति में आभासित पाना और धान्वातिरेक के कारण उसके साथ आत्मन का
अनुभव करता है।

जायसी-काव्य का साहित्यिक महत्त्व

जायसी की काव्य-रचना को घनक वृष्टि से साहित्यिक महत्त्व प्राप्त है। यद्यपि जायसी के
पूज भी कुछ प्रेम-साधकों की रचना हुई थी तथापि हिन्दी में प्रेमसाधा का विकसित
रूप सबप्रथम जायसी ने ही प्रस्तुत किया। इस वृष्टि से वे हिन्दी प्रेम गाथा के प्रथम
साधार्य बने जा सकते हैं। दूसरे जिस सबधी की काव्य रचना का सूत्रपाठ धमीर तुसरो
ने किया उसका पूरा विकास हमें जायसी के काव्य में ही मिलता है जिसके अनुकरण
पर आगे चलकर बोस्वामी तुमसीदास ने अथवा ‘रामचरित मानस की रचना की।
बोस्वामी तुमसीदास केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं पर बोहा-बीपार की रचना-
प्रणाली में भी जायसी के श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार केवल प्रेमसाधा की ही नहीं पर
नवीन काव्य-रचना प्रणाली के उपायक के रूप में भी जायसी स्मरण किये जाते रहते।
बीपार-बोहा को रचना प्रणाली यादि काल के कुछ बड़े मित्त कवियों में भी वर्तमान की
पर उनमें इस प्रणाली का बड़ा विकास नहीं मिलता जो जायसी से मिलता है।

जायसी न शृंगार क राना पद-संयोग कोर विपाय की धीने वाक्य म जा बिलन प्रमिष्यवना की है बह नी शिरी साहित्य क गोरख का बन्पु है। पद श्रुतु बगल जायसी की संयोग शृंगार निरूपण रचना का उबलन प्रमाण है। इस बर्तन म बिलन कोर ब्यापकता क माप ही वाक्य-भोजन भी जन दशनीय मही है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ देखिये—

पदूमिनि गयन ह्म गय दूरी। कुत्र म्जाज मल मिर धूरा ॥
 यदन दय पति पद समाना। म्मन दस्ति के वानु लज्जाना ॥
 अजन छप दगि फ नना। फाकिल छपी मुनन मधु घन ॥
 पदुपति छपा कयन-धीनारी। जय छपा कजला हान यारा ॥

जायसी क वियोग रंग म हृदय की तार बरना धार माननाप का धनुनि हम तिम प्रार रूप में मिलना है बह मूक क प्रति वन शिरी क मय किगा बरि का रचना में वाचिन् ही निप। यथा—

आस्वर जराह न फाहू सूसा।
 नय दुय दाय्य चला लइ सूसा ॥
 जहि पंखा फ नियर हाहू, कहु विरठ फ पाव।
 माई पथी जाइ जरि, तरिबर हाहि निपाव ॥

मात्रपथ धार कमापत ही कव्य क मय का छ । जायसी क पद-बन का दगदग यह बहा जा बरना है नि बरि म म्म वाक्य प्रथ म न्म बाना पदा का बनी मुग्गता कोर मरुतना के माप निरति किया है। बरि नाका का प्रमिष्यवना में ही गहराद ठक परका वृष्टिगावर जगता है। प्रेमनिष्यवना पदावन का प्रथम विषय है। जायसी न पद प्रमिष्यवना धरने वाक्य क धनेक स्वया में धनक माप्यमों में की है। कुछ रचन बा ए है यहाँ हमें जायसा भाव-प्रमिष्यवना की पगावाहा पर पजेब रिखा देते हैं। उदाहरणार्थ म पंक्तियाँ देखिये—

सुर्मद विनगा प्रेम क मुनि महि गगन डेराट।
 धनि विरहा औ धनि हिया, जट प्रम अगिनि समाड।

कमापत की दृष्टि म उपर्युक्त भाषा का प्रमिष्यवना के लिए मुन हू उपयुक्त रचना का प्रनाय वाक्य-भोजनवचन के लिए उपर्युक्त धनकार-बोधना रसाद्रक के उपयुक्त मापनों का संघर कोर मुगति पाया का प्रयोग जायसी क कमापत की बिरूपणार्थ है। इस प्रकार हम जायसी के वाक्य का भाव कसा कोरव प्रमिष्यवना धनकार-विपाय भावा धारि गभी दृष्टि में उच्चकोटि का पाव है।

सूक्ति बरिया म जायसा क परवात् गबने अधिप्र प्रमिषि ममन का प्रप्य है। य शिवा-वाक्य-साहित्य में अधुमागनी के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध है। ममन न इसकी रचना म १६ ० दि के लगभग की थी। वाक्य की दृष्टि में इसकी रचना

भगवती की घनेछाँ घर्षिक उत्कृष्ट है। माध्यामिक प्रेम भावना की व्यंजना के लिए कवि ने इस रंज में मुख्य प्राकृतिक दूरियों को स्थान दिया है। कवि का बिरह-निरूपण प्रसंगनीय है।

संभ्रम की वास्तविक भावनाएँ अत्यन्त उच्च हैं। उन्हें घपने काव्य में नायक को एक बोधी की पृष्ठभूमि पर साकार गढ़ा कर दिया है। वह घपने माध्य को पात के लिए अपार ब्रष्ट सहन करता है। उमरी वियोग भावना की उग्रता में निरव-वियोग समाया-सा दिग्राई देता है। इसी प्रकार उग्रता हम गाथा की नायिका 'प्रेमा' का बिरह-निरूपण भी अपूर्व है। वह काव्य में ही प्रेम की साकार प्रतिमा है।

साहित्य की दृष्टि से भी 'मधुमासती' एक उच्च कोटि की रचना है। यह विषय निरूपण माया मोक्षप्राप्तिमन्त्रित भावाभिव्यंजना-गीती असंकर-विमान धारि सभी दृष्टि में महान् है। कवि की गल-तिल-बसल की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

तेहि पर कच बिपधर यिय सारा ।
छाटहि सेज सहज सहकारी ॥
निसि अजोर जो पदन देखारै ।
निसि अँधर जो कच मुकरारै ॥
कच न हारि बिरहा दुख सारा ।
भयो जाळ मध सीस सिंगारा ॥

इस बरान में कवि की दृष्टि किन्तो सूत्रम धीर वैनी है। सहजते इच्छ केतों का श्वेत मुक्त-महदस से संयोग अपूर्व है। कच धीर अघर्षुति के विधान ने इन पंक्तियों में अनुपम सीम्य भर दिया है। बिबावती उद्यमान की प्राप्त रचना है जो श्रीजगमोहन बर्मा द्वारा सम्पादित हो नाबरो प्रचारिणी सगा काशी द्वारा प्रकाशित हुई है। इस प्रेम-भावा की रचना पृच्छत चापसी के पयावत क अनुकरण पर हुई बात पढ़ती है। कवि ने उन सभी विषयों का अपनी पाशा में समावेश किया है, जो पयावत के विषय है। रचना का कबानक कवि-कल्पित है, वैसे कि उसमें निम्नांकित पंक्तियों में क्या है—

‘कथा एक में हिये उपाई ।
कहत मीठ औ मुनत सोहाई ।

कबानक उक्था कल्पित है, पर हमें कवि ने बड़े कीटल से सूखी साधना का साध्यात्मिक स्वल्प रस बिबा है। राजकुमार मुजान एक सायक है, जो एक मन्त्री धीर अत्यन्त कष्टदायक साधना के पश्चात् अपनी प्रमीठ वस्तु बिबावती को प्राप्त करता है। इसमें उद्यमान ने नगर समुद्र माया बिरह धारि का बड़ा सुन्दर धीर सजीव निरूपण किया है। काव्य-कला की दृष्टि से 'बिबावती का महारव पयावत' से किन्ती प्रकार

मो म्यून नहीं है । बिरह-बखन के प्रथमपद हमें बड़ा मुखर ऋतु-बखन मिलता है ।
दमन ऋतु-बखन को वृद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

“ऋतु वसन्त मौतन मन फूला ।
जह वह और कुसुम-रग भूला ॥
आहि कहाँ सो भवर हमारा ।
जेहि बिनु बसत यमत उजारा ॥
रात परन पुनि देखि न जाई ।
मानहुँ दवा दहूँ दिसि छाई ॥
रतिपति-दुरद ऋतुपति बली ।
कानन-वेह आह दलमली ॥”

चित्रावली में सूफी भावना

चित्रावली का नायक बरमजान मोदी है । सूफ़ी साधना में बेहोशी का महत्वपूर्ण स्थान है । चित्रावली का नायक भी नायिका के रूप-रत्न से मूर्च्छित हो जाता है । वह अपना चित्र चित्रावली के चित्र के समीप रखते ही निद्राग्रस्त हो जाता है । मूर्च्छितों में निद्रावस्था को माया का प्रभाव माना है । उन्होंने निद्रा को उतना ही बुरा कहा है जितना कुछ कि कबीर घाँसि रहस्यवादी कवियों ने माया को कहा है । उदाहरण कहते हैं —

जो जग माहि नाइ बस छाई ।
इहै बाध भग सखस स्तोह ॥

कवि ने निम्न पंक्तियों में बड़ी वृद्धमत्ता से नायिका-रत्न के माध्यम में ब्रह्म दर्शन की बात कह दी है —

कहा कहाँ कहुँ कही न जाई
दिय सौरत धुंधि आइ हगई ॥
कहत न यनेँ कहुँ मैं दला ।
गूँ क सपन भयो मार लेखा ॥

उदाहरण में भी बहुर-रत्न के लिए कबीर को तरह पुनः का माध्यम सावरण्य माना है । व कहे हैं—

जा कहूँ गुरू न पथ इराया ।
मो अंधा पारिहुँ दिमि घाया ॥

उन्होंने बहुर को प्रथम धगाप और मूरुप कह कर बिना उमड़ी मोड़ के शीघ्र को निस्मार बडभाया है—

चतुर्गुणन पदि चारों पद ।
 रहा खोज पर पाय न भेद ॥
 फीन मो ठाठे जहाँ सुख नाही ।
 हम चख भोगि न दरहि काही ॥
 पाये खोज तुम्हारा मो, अहि खिलरावहु पथ ।
 कहा होइ जोगी भय श्री यहु पड़े गरब ॥

मूर्खी साधना न भी प्रेम गर्वोपरि है । उसमान प्रेम की महानता के गान गाते हुए करते हैं—

ज्ञात ध्यान मद्धिम सचै जप तप सयम नेम ।
 "मान" जो उत्तम जगत जम, जो प्रतिपार प्रेम ॥

कवि की दृष्टि में बहो बिरहिली पश्य है जो अपनी पीर को बिना प्रवट दिवे ही सहनी खी है—

"मान" जगत परगट अरै, पाषक विरह सररी ।
 धन विरहिन श्री धन दिया, गुणस सई चा पीर ॥

उसमान न परचाह मूर मुहम्मद क साहित्य का स्थान है । इत्यादि इनकी स० १८ १ कि में रचित प्रेम-काम्य कृति है । इसमें कापिबर के राजकुमार राजकुमार और अजमपुर की राजकुमारी इत्यादी की प्रेम-बहानी है । इनकी द्वितीय कृति 'मनुराग बामुरी' है । इसकी भाषा अरबी पर लिपि कारनी है । इसके अनेक स्थान में 'इश्क' क लसम शब्द एवं प्रेम-भाषा के शब्द भी मिल जाते हैं ।

सूक्तियों की भारतीयता

प्रेमभाषी सूक्तियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है उस पर भारतीय शैली का पर्याप्त प्रभाव है । भारतीय प्रथा के अनुसार नायक की अपनी नायिका अधिक प्रेमोन्मुख होती है पर आसदी ने फारस की परम्परा के अनुसार नायक का ही अधिक प्रेमोन्मुख बतलाया है । इसका एक कारण यह भी है कि इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था । इन्होंने अपने प्रियतम ईश्वर की कस्यता प्रियिका के रूप में की है जबकि कुछ भारतीय कवियों ने अपने को नायिका के स्थान में रखकर ईश्वर को अपना प्रियतम माना है । भारतीय परम्परा में व्यक्त मोक्तियों के प्रेम का अन्तर्गत प्रभाव था इसीलिए फारस में उन्होंने नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर उपसंहार में नायिका के प्रेमोत्कथ को भी विवक्षित है । भारतीय मूर्खी कवियों ने इस देश की प्रेम-परम्परा का तिरस्कार किया । उनका प्रेम बहुत कुछ लोक-व्यवहार के परे है, तिर भी अचंचल नहीं है । आसदी ने तो पद्यबद्ध में नायिका के सतीत्व

धीरे-धीरे पतिप्रेम दिखाकर अपनी विचारधारा पूरा भारतीय होने का ही प्रमाण दिया है। इसके प्रतिरक्ति प्रेम-वर्णनों में धरसोस दूरियों से भरसक बचाकर धीरे-धीरे प्रकृति के मुरम्व रूपों को चित्रित कर इन प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्य को भारतीय बनाकर उसके बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार अंत में धारणा परमात्मा में मिल जाती है। इसलिए इनके काव्य दुःखान्त ही है पर धारणा बसकर भारतीय परम्परा के प्रभाव से उन्होंने नायक-नायिका के भोग विभास धीरे-धीरे जीवित क साध ही अपने अन्वेषों की समाप्ति की है।

सूफ़ीकाव्य पर एक प्रकाश

सूफी प्रेममार्गी कवियों के अन्वेष अधिकतर प्रकृति-सीमा में ही मिल गये हैं अतः उनमें कथानक की रमणीयता धीरे-धीरे सम्भव-निर्वाह की धार व्याप्त हो गयी है। उन्होंने कथा के भीतर क्लिप्त प्रेम सत्ता की व्यंजना की है इसीलिए बस्तु ही नहीं पर समस्त कथानक का भाव। उनकी दृष्टि में वहीं तक महत्त्व था जहाँ तक उनके इस अन्वेष के अभिव्यंजन में वह सहायक हो। मही कारण है कि उनकी रचनाओं में बस्तु की रमणीयता नहीं पायी। यहाँ कथा-प्रवेश के बीच मत्वाय कष्ट धीरे-धीरे ईश्वरीय चिह्न-मिलन धारिक संभव है वहीं बस्तुओं का बखन या संभव कर दिया गया है।

दूसरी बात भाव-व्यंजना की है। भारतीय काव्य-समीक्षा में रति शोक उदात्त कोष धारिनी ही स्थायी भाव मान गये हैं धीरे-धीरे पुष्ट करनेवाले अनुशासन गद्य बोधा धारि संघारी भावों की कल्पना की गई है। कवि की दृष्टि जितनी व्यापक होगी वह उतनी ही अधिक विस्तारता तथा उत्कृष्टपुण्य रंग में भावों की व्यंजना करेगा। सूफी कवियों की दृष्टि बहुत व्यापक धीरे-धीरे थी। वहीं-वहीं से बहुत ही गुरम भावों तक अपनी पहुँच दिखाते हैं। उनके रति शोक धारि भावों के बखन बहुत ही साधपूर्ण हुए हैं। पर जीवन की व्यापक रीति से देखकर विविध भावों का अभिव्यंजन करने में कवि उतने सफल नहीं हुए, जितने गहन मूक, तुमसी धारि हुए। फिर भी हमें संदिग्ध नहीं कि इनकी भाव-व्यंजना उत्कृष्ट स्थाय का अभिव्यंजिकी है।

यद्यपि सूफी भाव धारण मन का समस्त अनुशासन से ही कल्प से पर उदात्त प्रवृत्त मूर्च्छा की मूर्च्छा के परवान् दूसरी या तीसरी शलाघी में हुआ था। इस मन के विकास में बाह्य प्रभाव सहायक हुए उनमें भारतीय दर्शनवाद भी एक प्रमुख था। धारण म यह मन समसमान भाव की एक साधारण शायमात्र ही पर कुछ समय के परवान् हमें चिंतनशीलता बढ़ी धीरे-धीरे अनुभावी ईश्वर के सम्भव म उदात्त का अनुमान करने मग। वे मुगलमाना एकेस्वरवाद से उठे उठे धीरे-धीरे जीवन तथा अन्वेष का भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। धारणा धीरे-धीरे परमात्मा का अन्वेष प्रतिष्ठित हुआ। कष्टर मुगल माना में इन "कुष्ठ" ब्रह्म धीरे-धीरे मूर्च्छा मूर्च्छा का अन्वेष सहायता हुआ शलाघी पर चढ़ गया। मुगलमानों का गुदा लक्षणितमान् हाता हुआ भी निराधार ही बना

रहा सूफियों के नबीन सम्प्रदाय में प्रेम की इतनी प्रयाणता हुई कि सूफि के रोम रोम में उन्हें धार्मिक की भजन रिपार्ड देने लगी ।

यह सूफीमत पहिले-महल सिन्ध में फैला फिर क्रमशः देश के राज्य भाषा म भी इसका प्रचार हो गया । जब इरा देश में बौद्ध धर्म की सहर बही तब सूफियों पर भी उसका प्रभाव पड़ा । प्रमथुष बौद्ध धर्म शाक्यों और शैवों के बिरुद का धीर उसका धार्मिक पर अधिक जोर था । सूफियों ने भी बौद्ध धर्म से सिन्धा ग्रहण की धीर वे भी धार्मिकवादी बन गये । उन्होने उपनिषदों के भी कुछ बात स्वीकार किए ये । प्रतिबिम्बबाह के अनुसार नाम-रूपारमक अणु ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है । ब्रह्म बिम्ब है धीर जबत उसका प्रतिबिम्ब है । बायसी ने पद्मावत के कई स्वामी पर प्रतिबिम्बबाह से अपना मतसाम्य दिखलाया है । भारतीय पंचमूर्ता में म भी सूफियों ने चार भूत साम्य लिये है । पतंजलि के द्वारा निरूपित मान को क्रियाया को इत्ययोगियों ने जो अपने मतानुसार बिकसित किया था उन्हें भी सूफियों ने ग्रहण किया है । इस प्रकार सूफीमत को उत्पत्ति अनेक प्रकार के गिद्यन्तः के मिश्रण से हुई है । उन्होंने अनेक सम्प्रदायों की अनेक बातें ग्रहण की धीर उनसे अपने प्रेमसाग की पुष्टि की ।

छन्द अक्षर

सूफि कवियों के छन्द दोहे धीर चौपाई तक ही सीमित है धीर अक्षर कही भी मात्र या आठवर नहीं बन । इन्होंने चौपाई म चार के स्थान पर दो ही पर स्वीकार किए है धीर दोहों के बीच में चौपाईया की गहना सम नहीं है । इन्होंने अर्थात्कारों को ही अपना काव्य में स्थान दिया है । सादुरमूलक उपमा रूपक उद्योबा धारि इनके प्रमुख अक्षर है । बायसी को हैसुरमेबा सबसे अधिक प्रिय है ।

भाषा

इनकी भाषा अरबी है । सूफियों ने भाषा में बसैसा सुन्दर सुचार किया बसैसा पहिले कभी नहीं हुआ था । बायसी ने बड़ी परिभाषित भाषा का प्रयोग किया है । यद्यपि कही कहीं अरबी-फारसी के शब्द भी घाये है धीर अरबी भाषा में तोड़-भरोड़ भी है पर अधिकारा कवियों ने शुद्ध अरबी का ही प्रयोग किया है धीर उसमें शोकभाषा का माधुर्य है । अत सूफियों की भाषा को बोलचाल की परिभाषित अरबी भाषा ही कहना चाहिए । प्रेममार्गी साहित्य की विशेषताएँ

प्रेममार्गी साहित्य की निर्माकित को विशेषताएँ है —

१ प्रेममार्गी कवियों की प्रेम-वाक्याँ भारतीय चरित्र-सीरी में म होकर फारसी की ममकवियों के अंग थी है । इनकी वाक्याँ का प्रारंभ ईश्वर-कर्मना पैमन्वर-स्तुति अथवा बादशाह की प्रशस्ति से होता है ।

२ ये वाक्याँ प्रायः शिष्ट-जीवन से सम्बन्धित है धीर इनमें धार्मिक प्रेम के द्वारा ईश्वरी प्रेम का प्रतिपादन किया गया है ।

स्थिति में पत्नीराज राजा के परचात् हिन्दू सेवकों-द्वारा “राजप्रतिष्ठापन” ही एक मात्र महाकाव्य लिखा जा सका बस वैशेष की “राजप्रतिष्ठा” भी है पर वह महाकाव्य की कसौटी पर पूर्णरूपेण खरी नहीं उतरती। मूर का “मूरसागर” विस्तृत पुस्तक है पर वह महाकाव्य नहीं समझा जा सकता। इसके परचात् हिन्दी कवि नायिका मेरु के बचकर में पड़ मय और उनकी प्रवृत्ति शृंगार की ओर झुक गई।

जिन मुसलमान कवियों ने हिन्दी में ‘घाफ़ान काव्य’ लिखे उनमें जायसी का स्थान सर्वोच्च है। जायसी के पूरे स्वप्नावली मुग्धावली मनुमावली और प्रभावती नामक घाफ़ाना क-पद्यक-सिल जाने का पता मयता है पर इनमें न केवल मुग्धावली और मनुमावली ही प्राप्त हैं। जायसी के परचात् धूलम, जगमान, रोत नबी कामिस, नूर मुहम्मद फ़ख़िरशाह आदि ने भी जायसी के अनुकरण पर घाफ़ान-काव्य लिखे। इनमें से उत्तम की “विशाली” और नूरमुहम्मद की “अश्वती” अधिक प्रसिद्ध हैं।

जायसी की जानकारी

डा. प्रियसंग के मतानुसार जायसी ने जायसुल आदर वहाँ के पंडितों से संस्कृत भाषा सीखी थी पर उनके काव्य से यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। यदि वे संस्कृत जानते होते तो कुछ संस्कृत शब्दों का प्रयोग तो उनकी रचना में अवश्य होता। दूसरे उन्होंने “बह” को स्त्रीलिख लिखा है जो संस्कृत का ज्ञाता नहीं लिख सकता। तीसरे यदि उन्हें संस्कृत-क-ज्ञान होता तो उनका रत्न-संसार इतना सीमित न होता जितना हम उनके काव्य में देखते हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने सर्वांग से-सुगता-रत्न-संसार अपने काम के योग्य बड़ा लिया था वे बहुमत से और उन्होंने किसी ज्ञाता से हिंदी भाषा की कव्य-परम्परा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी रचना से स्पष्ट है कि उन्हें संवत्सरात्म और नख-रिख आदि का सामान्य ज्ञान था। उनकी भाषा सूखी है और संगत इसीलिए उन्होंने अपने अधिक प्रचलित बोझ और बौनाई शब्दों को अपनाया-है पर संवत्सरात्म की दृष्टि से इनमें भी कई-स्वभाव-पर-पूर्व-है। भाषाओं की स्पृहाविकृता अपने-स्वभावों में देखी जा सकती है। उन्हें हिन्दू धैराधिक कथाओं का भी ज्ञान था पर वह धर्मपूर्ण था। जैसे उन्होंने ‘संसार’ शब्द का उपयोग ‘स्वर्ग’ के अर्थ में किया है। वे मानसरोवर झील में न मानकर सिंधु द्वीप के पास मानते हैं। सात समुद्रों में उन्होंने मानसरोवर और विश्वकिमा लिखा है, आदि। वे रामायण और महाभारत के पात्रों के नाम-सीख-से अवगत परिचित थे।

जायसी को भारत के विभिन्न भागों का अच्छा ज्ञान था और कि हम ‘पद्मा-वत’ के देखने से मान्य होता है। रत्नसेन की सिंधु-यात्रा का वर्णन भौगोलिक

दृष्टि से छीक है। पद्मावत में हम कहीं-कहीं कुरान का प्रभाव भी मिलता है जिससे उन्हें कुरान का ज्ञान होना प्रकट होता है। कहाँही उन्हें ज्योतिष का भी प्रवृत्ता ज्ञान था। मंजिहान में कवि मसिक मुहम्मद-जायसी बापिक पद-लिखन में पर उन्हें धनक विषया का प्रवृत्ता ज्ञान था। ब माबुत से बहुभुत से घोर प्रतिमा-सम्पन्न क ब था। उन्हें प्रेम की घोर से पद्मावत जैसा मुन्दर प्रत्य रचन को प्रगित किया था।

पद्मावत का निर्माणकाल

इसके निर्माण-काल के विषय में बहुत मतभेद है पर सागरी प्रचारिणी समा द्वारा प्रकाशित "पद्मावत" में जायसी ने लिखा है —

✓ "मन नब मैं मैतालिख सहा। क्या परंम बल कदि कहा।

इससे पद्मावत का रचनाकाल हिजरी मबत १५७ वर्षान् बि० संवत् १५६७ ए.स. है। यही सही भी जान पड़ता है क्योंकि इसमें शेरशाह सूरी की प्रसमा का मर्द है जो उस समय दिल्ली का मुस्तकल था। कृष्ण बिद्वान् इसका रचनाकाल हिजरी मबत् १२७ मानते हैं। उन समय इस्लामी सोरी का शासन था जिसकी कोई-बर्षा जायसी न गढ़ी की जिससे यह समय प्रामाणिक नहीं जान पड़ता।

पद्मावत के कथानक का एतिहासिकता

निषम एक धनि मुंशर देस है। गणपबेसन बरौ का राजा है। पद्मावती उसकी एकमात्र पुत्री है। तब होने पर भी गणपबेसन उसका विवाह नहीं करता तब वह धानो मनीष्यया धान हीरामन तोते में प्रकट करती है। बत कहता है कि यदि धान धाजा दें तो मैं देश बिदेश में जाकर धाफके योग्य बर हूँ। गण मुनेबाले व्यक्ति न यह बत राजा में कह बा। उन्होंने क्रोध में धाफर हीरामन तोते का मार शान्त की धाजा दे दी पर पद्मावती में किसी प्रकार धनुषय-बिषय करके उसे बचाया। एक दिन जब पद्मावती मानगरावर में स्नान करत गई तब हीरामन का बिष्पी न धर लिया। ब प्राण बचाकर भागा पर एक बिहीमार न उसे पकड़ लिया धार बिस्तोर क एक ब्यापारा बाभूग को बेच दिया।

बिस्तोर जाने पर हीरामन तोते की प्रसंगा मुनकर बरौ क राजा रतनमन न उस गरीब दिया। तब दिन रतनमन की रानी मायमती में शृंगार कर शोक में पूछा कि क्या तुममें मेरा जेगा रूप बही देगा ? शुक न बहा तुम निषम को कायियों की जान बना पूछती हो ? मुनकर पट बनी बड हर्द घोर जमने उस मार जानने की धागा दे दी पर धाफ न उस दिया गया। रतनमन न धाफे स लीटने पर शुक को न देन मागमती में बहा कि 'बहु या ना गण माब या स्वयं धान प्राणे दे। रतो बड़ी पबर्ष। धाय न हुन को सा दिया। राजा क पूछने पर शुक न पद्मावती के रूप-गुण की बनी प्रसंगा

की। रतनसेन ने सबसे विवाह करना निश्चित कर लिया और वह हीरामन व साव योपी बनकर सिवाल का पहुँचा। वही सिवली के मंदिर में ठहर गया वही बहुत पंचमी को उमन पद्मावती को बला। वह उस बैलठ ही मूर्च्छित हो गया। मुनि घाने पर वह पद्मावती के लिए बड़ा परचाताप करने लगा और प्राण देने का तैयार हो गया। पावलो द्वारा उसका प्रेम की परीक्षा सेन के परचात् महादेव जी ने उन सिद्धि बुटिका बकर सिवाल मंड म प्रवरा करने की धामा दी। राजा गणधर्मसेन को यह बात होने पर नि वे मागी पद्मावती को चाहते हैं, उमन उन्हें कहे कय सिया। रतनसेन को सुनी देन की प जा हुई।

महादेव जी एक घाट के रूप में गणधर्मसेन से मिले और उमस पद्मावती का विवाह योपी बशाघारी राजा रतनसेन से करन का प्राणह किया पर वह न माना। घंट में मनु प्रारम्भ हा गया। मागियो की घार से दरगागय मुड करन घाये। उनकी शपथनि मुन संघर्षमें ल प्रवरा गया और महादेव जी से जमा प्राचना कर पद्मावती का रतनसेन से विवाह कर दिया। व बुध नि न एक सिपस म ही रहे पर एक पची द्वारा मनामती क शोकाकुल होय का समाचार पाकर से पद्मावती को सेकर बिलौर जान गये। मोरते समय एक राक्षस के उपात से उमनी नाब टूट गई और बेशता बह गये। पद्मावती की समुद्रपुत्री मन्त्री ने और रतनसेन की वाहण के बेठ में समुद्र म रचा की। समुद्र की हृपा से रतनसेन की पद्मावती से भेंट हा गई और उनके बहे हुए साधी भी घा मिले। नागमती से नाहण्य और पद्मावती से कमलसेन का जाम हुआ।

बिलौर म राघव सेन नामक एक पंडित रहता था। उसे घसत त्रिपि बगान पर रतनसेन ने निर्वासित कर दिया। उमन विन्मो में आकर अभाउहीन से पद्मावती व रौन्दय की प्रशंसा की। उमने पद्मावती को पाम के लिए बिलौर पर बवाई कर बो पर घाट बप तक मुड हुते रहन पर भी वह रतनसेन को पराजित न कर सका। ठक उसन मगिप कर ली और राजमहल म उसका सम्मान होने लया। एक दिन उसन चौपड उलते हुए एक बपल में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देख लिया। वह जगे पाने को घातुर हो घटा। उमने राजा से बिया मायी। रतनसेन उसे बाहर तक पहुँचाने गया पर यह के बाहर होते ही अभाउहीन ने उसे कहे कर लिजा और उसे बिस्मी भेज दिया।

घन्ठ म गोरुअमन न पचावती की सहायता की। उसके साथ सोमहन्त्री परमन्त्रियो में चढ़कर सिपाही विन्मी मये और भावशाह से कहा कि पचावता घाई है, बेह रतनसेन से भट करन के परचात् शाही महल म रहने को ठमार है। अभाउहीन ने बन्धीगुह का द्वार खुलवा दिया। रतनसेन ही बेकी काट की गई और सब सिपाहो लड भगाइकर उसे बिलौर से घाए। बिलौर घान पर रतनसेन को मात हुआ कि देवपाल ने पचावती को बहचाने के लिए बूठी भेजी थी। वह क्रोध से साल हो गया। उसने देवपाल पर बवाई कर दी।

मुझ में बिजपास तो मारा गया पर रतनमन को भी मर्माहत चोट पहुँची । उसकी मरपु होने पर दोनों रत्नियी मती हो गई । सन्ताउरीन की मेना बिनीर पत्नी पर पद्यावती के मती होने का समाचार पाकर बहूहाव मन कर रह गया ।

इस कथामक का मूल आधार तो ऐतिहासिक घटना-सवरस है, पर पूरुषि म-सही । बितौर क राजा की रानी पद्यावती क कुरवती हाथ और सन्ताउरीन क उस पान का प्रयत्न करने तथा राजा क मरण पर पद्यावती क मर्ती होने की घटना ही ऐतिहासिक है । गद्यरस म कुछ तो एक दुर्गच्छा पर आधारित है और कवि-रसित । इतिहास म बितौर क राजा का नाम भूमसिंह है रतनमन मती । दूसरे प्राचीन नाम स हीरामन ज्ञाना और पद्यावती की सुहामी मती जाती है । यह कथाही ही जायसी क पद्यावत का मूल आधार मान पता है । सन्ताउरीन क बीपड़ वेतते समय पद्यावती का उपर स भोजिया और उपर म प्रतिरिम्भ पन्ना भी ऐतिहासिक मती है । इतिहास म यह सिता है कि सन्ताउरीन क प्रतिरिम्भ रूपन पर लोट जान की बात कहन पर ही उस प्रतिरिम्भ सिताया गया था । ऐतिहासिक कथानक क अनुगार भीममूल को दुहाकर बितौर भोजन पर हानवान मुझ म गोरा की मृत्यु बतलाई है पर पद्यावत का म्य में रतनमन का गारा-बाइय का मृत्यु के समय बितौर का राज्य गोपना बतसाया है । पद्यावती का मिथम की राजकुमारी शेवा भी ऐतिहासिक सही है । यह सम्भवत बितौर स ५ मील पूव म न्यिन गिगाणी क गहरार का कथा हो जिन जायसी न खिरस बना दिया और समस्त कथानक की गौरव-भूटि क लिए उत्तर क मानसरावर का विपल क समीप रत्न दिया । एन १ रतनमन का विपल म महादर क मन्दिर म रहना महादेव-दाय उसकी सहायता उसका मध्यमन म मुझ देवताओं का उसकी धार म सङ्ग का उखा हुना बिनीरुण बंसा शरम का मधुनी उखाण रतनमन और पद्यावती का समुद्र म बहल और सञ्जा का समुद्र द्वारा उतरा तथा धारि कवि-रसित है है इन घटनाया म किरिन् भी ऐतिहासिक मन्त्र मती है ।

जायसी का भाषा

जायसी क पद्यावत का भाषा धरणी है पर बहु समकालिन मानस की तरह गारिठिन मन्, बरन् बोमबाल की भाषा है । धरणी क दो प्रकार है पूर्वी धरणी और पश्चिमी धरणी । पूर्वी धरणी गोडा और सवाध्या केपाम तथा पश्चिमी धरणी सुतनऊ में कलीज तर बंसी जाता है । जायसी की भाषा पूर्वी धरणी है । इसका अधिकारा नाम जायस म बीता है जा पूर्वी धरणी क धर में है । महिन गंगा और समुद्र-सुन उपरपदा म मागधा और शौरसेनी भाषा बानी जाती था । इन पूर्वी भाग म जायसी और पश्चिमी भाग में शौरसेनी का प्रचार था । इन बाले भाषा के बीच जा भाषा

प्रचलित की वह प्रथमानुषी बहनाती थी। धरती माया का काम इमी धरमागतों माया से हुआ है। जायसी की भाषा प्राचीन धरधी का उत्तराह्वान है।

जायसी ने मुख्यतः पूर्वी धरधी का ही प्रयोग किया है पर 'प्रमागत' पर कही कही धरम मसीखती अर्थममें-का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा धरधी की क्रिया म पुण्य बचन और निज भेद वर्णन म अनुसार होता है। पश्चिमी हिन्दी में भूतकालिक मकमक क्रिया में पुण्य भेद नहीं होता। जायसी ने कई स्थानों म हिन्दी-का इस व्याकरणिक नियम का ही अनुसरण किया है। जैसे—“तिन्ह पावा उत्तम कैलासु, गुम मिरजा यह समुद घपारा” आदि।

जायसी ने कुछ स्थानों में सकमक-भूतकालिक क्रिया म सिंग बचन पश्चिमी हिन्दी की भाँति रखा है। जैसे—बसिउन्ह पाह कही पस बाठा ?

कही-कही साधारण क्रिया का रूप धरधी की भाँति 'ब' कारणात् न होकर मकारात् मिलता है। यथा—निज घावन पुनि प्रपने हाथा।

कही-कही कारक-चिह्न म जगन पर मी पश्चिमी हिन्दी की तरह सज्ञा में बहुवचन का रूप दिखाई देता है। यथा—बोकल नाव दिमोरे लेई।

जायसी ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो ठेठ-अनुषी के हैं। यथा—राप घहक तहुँ घावि।

धरधर और मसकत का म-मम्स-कारक की विभक्ति 'हि' या 'ह' सभी कारकों की विभक्ति का काम देती थी। कुछ समय के पश्चात् केवल कम और सम्प्रदान कारक विभक्ति के रूप में ही उसका प्रयोग किया जाने लगा। जायसी ने पूरे परिपक्वी के अनुसार अनेक कारकों के लिए इस विभक्ति का प्रयोग किया है। यथा—“राई कहु सत कह सूधा” में जायसी ने 'हि' विभक्ति का स्थापनापन 'ए' का प्रयोग ने के बरस किया है।

छन्द

जायसी ने बोहा-बीपाई-खनों का ही प्रयोग किया है पर इसमें भी एक विशेषता है। जायसी के पूर्व के कवियों ने पाँच-बीपाइयो के पश्चात् बोहा लिखा है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने आठ-बीपाइयो के पश्चात् बोहा लिखा है, पर जायसी ने मात्र बीपाइयों के पश्चात् बोहा लिखा है। “बीपाई” शब्द के अर्थ के अनुसार तुलसी की आठ-बीपाइयो वाक्य में चारोंही-बीपाइयो हुईं। ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय धर्मशास्त्र का मान न होने से ही मूलतः कवियों ने आधी-बीपाई को ही पूर्ण बीपाई मान लिया और पाँच अक्षरा सात का काम रखा जो वाक्य में बाई और माये तीन बीपाई ही हुईं।

पद्मावत में सूफीमत

प्रायः सभी मुसलमान धारण्य-सेवक सूफीमत के माननेवाले थे। सूफीमत के अनुसार ईश्वर की कल्पना 'प्रियतम' के रूप में की जाती है। वे अपने ईश्वर (प्रियतम) को धनस्त सीख्य धनस्त शक्ति धोर धनस्त मुषों का धामार मानते हैं। यह मत 'भारतीय पदुबीतवाद' से बहुत मिलता है। प्राफेसर ब्राउन के मतानुसार यह 'भारतीय बेदान्त' का व्यापार है। सूफीधर्म वास्तव में इस्लाम का धार्मिक वस्तु है। इस्लाम धर्म नीतिगत पराधी के उपभोग में ही ध्यान्य मानता है धीर स्वयं में भी वह ये ही वस्तुएं च हता है। धन शक्ति ही सूफिया के मोक्ष का प्रमुख साधन है। वे शृण्वा धीर मोक्ष का धमन भी धारण्यक मानते हैं। वे ईश्वर का सुन्दर रूप समार के समस्त सुन्दर पराधी में देखते हैं। वे सारे समार को ईश्वर के प्रेम की धीर में ध्य-पित देखते हैं। प्रेम के धान्य्य में प्रेम हाता सीख्य्य धीर सहाधार की मन्त्रि पीकर मत्त होमा सूफियों की परधीपाधना है।

जायसी भी सूफी मन्त्रियाय के ये धीर से ही धार्ते मानने से जो ऊपर बननाई गई है। यदि हम 'पद्मावत' का ध्यानपूर्वक पढ़ तो हम उमम इन सूफी विचारों की धर्मिधर्मिका देख सकते हैं। उहोंने जहाँ कहीं भी प्रेम का बखत किया है वहाँ उसे सीकिक पक्ष से उठाकर धर्मिकिक की धीर ले गए हैं। वास्तव में जायसी ने पूरा कथा धर्मोक्ति की भावना में लिखी है। वे स्वयं धन्य में कहत हैं -

“तन चितवर मन राजा कीन्हा ।
 हिय सिषस सुधि पदमिनि कीन्हा ॥
 गुरु मुष्ठा जिहि पय दिस्सावा ।
 यिनु गुरु जगन का निगुन पावा ॥
 नागमनी दुनिया कर धपा ।
 धाधा सोइ न ण्हि चित वचा ॥
 राधध दूत साइ मैतानू ।
 माया असाउरी सुसतानू ॥

हम पद्यामन में ध्यान-ध्यान पर धारण्यधित प्रेम के धरान्य होने हैं। प्राकृतिक बखल करते हुए भी यदि समार को परमेस्वर के प्रेम की धीर में ध्यनित धनुमच बखल सपना है। जायसी में सूफीमत के एक मन्त्र धनुपावी की मन्त्रि पद्यावत में धर्मिधर्मिका धिरह की ध्यन्धना की है। धिरह के ध्यागे मूर जगि बीसा। यगउ दिगग जई धीरि तापा। धर्मिधर्मियों में भी उतनी यही भावना ध्यन्य हूँ है।

म समता चाहते थे इसीलिए उन्होंने सामाजिक विषमता का विरोध किया। समुच्चारी परम्परागत समाज में उदार वृद्धि स्थापित कर उसमें सुधार करना चाहते थे। उपामना के अन्तर्गत "सुम्न" विमुक्तकारियों का मुक्ताचार था। समुच्चारीवादी भी शून्य की मत्ता स्वीकार की है पर वह व्यक्ति रूप में ही वह स्वीकार करते हैं समाज को इन शून्य के समुच्च स्वरूप का ही दहन करने का व्यर्थ है। बोना व वृद्धिफल में यह धर्म प्रथम था पर बोना व विचार में यह धर्म था। समुच्चारीवादी उपामना और विचार का धारणा उनका एकमात्र धारणा ही है उनमें एक ही मुद्रा इस तरह है पर विमुक्तकारी धर्मने धारणा की मत्ता और महत्ता पर विचार करने के साथ ही उस तक की कमी पर परन्तु को भी तन्त्र है। समुच्च उपामना का धारणा भविष्य और विमुक्त उपामना का धारणा प्रथम है।

समुच्चारीवादी का आधिभाष

भारतीय मूलधर्म का धारणा वैश्विकता में होता है। मानव में विचार की विविधता और प्रकृति की विविध सीमाओं को देखकर हम सबसे मूल में विचार प्रकृत और अनुभव मत्ता के हीन की रूपता की धार उभे परममत्ता का प्रथम को मंत्रा में सम्बोधित किया। उनमें उन परममत्ता का प्रथम प्रकृतता में ही धारणा बन्धा है और वह उभे प्रथम करने के माध्यम की ताज में यह हो गया। उसकी धार में उभे को मानव प्रदान किया वही भविष्य धारणा उपामना के नाम में हमारे सामने प्रकृत। वेच हमारा प्राचीनतम धर्म है। अन्तर्गत में 'एक' धर्मिणा बहुधा बन्धि कहकर उभे परम मत्ता की धार प्रकृत किया है।

मानव में प्रकृत की विविध शक्तियों के विविध रूप करते देना और उन शक्तियों के रूप में नियमितता एक निश्चित व्यवस्था और काव्य-मूल्यता रखकर उनके उभे परममत्ता-निर्धारित धार अनुमानित होने की कल्पना की। उसकी उभे कल्पना में मूल धर्म इनमें यह धारि देना की मृष्टि की। वह उभे परममत्ता के साथ ही इनकी शक्ति देवताओं की भी उपामना करने सम्य और इस तरह के प्रथम की उपामना के साथ ही बहुदेवापामना भी धारणा ही गई। इन शक्ति-देवताओं में से किसी ने किसी की धार किसी ने किसी की सर्वाधिक शक्तिधारी क्त्वा और इस मानव-मानव के अनुसार इन देवताओं का महत्त्व मूलानुगत होता गया। इसके अन्तर्गत मानव ने समस्त प्राकृतिक स्थापना के हीन धर्मिणा मान लिए। उसकी इसी माध्यम में प्रकृत धार यह की प्रकृत की किन्तु ये भी प्रकृत की तरह अनुभव धर्मोत्तर और धर्म होने के कारण मानव-मान की अधिक समय तक धारणित न कर सके। धर्मिण मूल धर्म धारि ऐसी शक्तियों से विचार प्रकृत दहन किया जा सकता था। धर्म भारतीय उपामना धर्म दो भागों में विभक्त हो गई। एक धर्म धर्मिण को अनुष्ठान, धर्मोत्तर प्रकृत का प्रतिनिधि मान

यज्ञ-द्वारा इन्द्रोपासना करने लगा और दूसरा ब्रह्म शक्तिवा की उपासना करने लगा । वृष्ट शक्तिवा में मूल सर्वाधिक शक्तिशाली समझा गया और उसकी उपासना का महत्त्व बढ़ गया ।

कुछ समय के पश्चात् यज्ञ में एत्र का और मूल में विष्णु का तादात्म्य हो गया और इस प्रकार एत्र तथा विष्णु की उपासना का मूलपाठ हुआ । अब एक धार उपासना का साथ यज्ञक्रिया भी बसती रही और दूसरी धार मूर्त्योपासना के साथ विष्णुपासना भी विकसित होना लगी । इसी समय शक्य न इस देश में प्रवेश किया । वे शक्ति-विज्ञान के समर्थक थे । उन्होंने भारत की उपासना में प्रभावित हो साधारण शक्ति की कल्पना की और उपासना के विधि-विधानों एवं मन्त्र-गानादि की मूर्ति की । शकों की इस मूर्ति ने भारतीयों को भी प्रभावित किया और परिणाम-स्वरूप उनकी उपासना पद्धति में परिवर्तन वृष्टिपात्र हीन बना ।

इसके पश्चात् पुराण-साहित्य का सञ्जन हुआ । पुराण-साहित्य के निर्माताओं में देवा देवताओं और जनक क्रिया-कर्मों का रूप तो वैदिक साहित्य से ही ग्रहण किया किन्तु उस उपस्थित करने की वृत्तना उनकी अपनी थी । उन्होंने वैदिक देवताओं के कार्यों के आधार पर उनके रूप बहुत घायुष आदि की कल्पना का धार इन कल्पना के आधार पर अपने रूप में उनका चित्र-चित्रण किया । इस प्रकार इन्होंने धारण धाराधर ब्रह्म और उसकी विभिन्न शक्तियों को साधारण और बुद्धिगम्य बनाकर उपासना का माग सुगम कर दिया । अतएव परम सत्ता रूप ब्रह्म मूल ब्रह्म शिव और विष्णु के रूप में कल्पन हुआ । प्रत्येक देवता की उपासना और पूजा-विधि निरिचय हुई और तन्तुमान इन देवा का उपासना प्रारम्भ हो गई । शक-प्रचारित धारण-साहित्य में उनके अन्त-विधान के अन्तर्गत देवी और एत्र का स्थान का ही उन्हें भी यह पौराणिक उपासना-पद्धति स्वीकार करने में बाध आती न हुई । अतः पौराणिक विचारधारा सञ्जात होकर विकसित जान लगी ।

उपयुक्त देवा में शिव (एत्र) और देवी का महत्त्व वैदिककाल में भा कल्पन था । यदुर्वेद की "एत्राष्टाध्याया और "सहस्रग्याम्बिकया" सूत्रा इसका प्रमाण है । किन्तु क्रिया भी देवता की उपासना या उस देवता के महत्त्व पर उद्भूत विचारधारा अब तक स्थायी नहीं रहे सकती अब तक उस विचारधारा को स्थायित्व प्रदान करनेवाला समय उसका मूल्य कल्पना काई महानुत्पन्न न हो । एक बार देवा की शक्ति सर्वाधिक स्वीकार कर उसकी कल्पना "विरव रानी" और "विरव-संहारकारिणी" के रूप में की गई पर शक्तिशाली नरत्त्व के अभाव में उपासना की प्रवणता में उग्रा महत्त्व कम

कर दिया। शीव सम्प्रदाय इसी उद्योगिता पर आधारित है। धार्यों के यज्ञ-युद्ध और धर्मार्थों की समाधि-शिला-युद्ध के समन्वय से "महादेव-युद्ध" को सम्म दिया। इस महादेव-युद्ध धर्म में शिवोपासना का विधान किए शीव सम्प्रदाय कामगुप्त सम्प्रदाय कारमीरो शीव सम्प्रदाय पारतुल्य सम्प्रदाय धारि के रूप में हुआ और भारत का एक बृहत् भाग उद्योगिता की विविध प्रकृतियों से प्रभावित ही गया। इन उद्योगिताओं की प्रवृत्तियों के रूप में भी विष्णुपासना बन ही रही थी। भगवान् कृष्ण के धारिर्भाव से इस उपासना को पञ्चनीयता और पञ्चकर्म प्रदान की।

“कृष्ण” कर्म-कर्मणा की शान्ति पर एक ऐतिहासिक उत्पत्ति है। मनुस्मृत्य संहिता में कुछ शब्दों के रचयिता के रूप में कृष्ण के नाम का उल्लेख है। यजुर्वेद संहिता में करी नाम के राजा के रूप में उल्लेख कृष्ण की रचना मिलती है। ध्यातव्योपनिषद् में भी कृष्ण को पारम्विरस शक्ति का शिष्य बतलाया गया है। पाणिनि और पठनीय से भी अपने ग्रन्थ में “महादेव” और “कर्म कर्म बाहुयस्य” धारि शब्दों का प्रयोग किया है जिसमें कृष्ण का उल्लेख वर्ण होना इंगित होता है। इस प्रकार उनके प्राचीन ग्रन्थ और शिवालयों के रूप में हम कृष्ण का नाम पाते हैं। कृष्ण के धारिर्भाव काम के समन्वय से प्राप्त हो सतमेर हो पर सन्तु ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में सतमेर का कोई स्थान नहीं हो सकता।

“श्रीमद्भक्तकर्मणा” भगवान् कृष्ण की महान् शक्ति है। इससे उन्होंने वैष्णव धर्म के सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या करते हुए एक नवीन दृष्टिकोण व्यक्त किया है। ऐसा जान पड़ता है कि अपने काल में प्रचलित विविध विचारधाराओं और उनके प्रभावों को देखते हुए भगवान् कृष्ण ने वैष्णव धर्म के उत्कृष्टीय स्वरूप में सामयिक परिवर्तन करना पारदर्शक सामग्री और उन्हें अपने रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने शिवा-शास्त्र कर्म और शक्ति की धर्मशास्त्र का ही धार्मिक महत्त्व प्रतिपादित किया है पर न कम और शक्ति की शक्ति की और न अन्य देवी-देवताओं की ही शक्ति की। उन्होंने धर्म देवी-देवताओं में भी शक्ति की (शक्ति का) प्रकार बतलाया और विभिन्न उपासकों की उपासना करने वाला या लोक प्रकार के भक्तों में विभाजित कर दिया। उन्होंने एक शक्ति की उपासना का समर्थन करते हुए भी विविध देवों की उपासना को स्वीकार नहीं किया। उनका यह धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण ही वैष्णव धर्म का मूलधार बन गया। कृष्ण-शास्त्र परिलक्षित यह वैष्णव धर्म उनके परतार्थ में मुश्किल रूप से विकसित होता हुआ भारतीय धर्म का एक-प्रधान और सम्पूर्ण का कारण बना रहा। वैदिक काल-परिचित शिव धर्म-धर्म लक्ष्यकाल में धारक मर्यादाय ही रहा या उस नई शक्ति की शक्ति और यह धर्म-धर्म की शक्ति और शक्ति में समर्थ हुआ।

सगुण उपासना का विकास—

ईश्वर जन्म के प्रमुख भाषार्थ रामानुजाचार्य मध्वाचार्य विष्णुस्वामी निम्बार्काचार्य एवं रामानन्द चैतन्य बस्सभाचार्य आदि के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों से यह स्पष्ट है कि भारतीय भक्ति-भाग के शास्त्रिक सिद्धान्तों में प्रथम चारों प्राचार्यों के मतों में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह केवल उनके दृष्टिकोण का ही अन्तर है। रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति पर बल दिया पर मध्वाचार्य विष्णु स्वामी और निम्बार्क ने विष्णुस्वरूप भगवान् कृष्ण की भक्ति का ही आदर उपस्थित किया। श्री रामानुजाचार्य न भक्ति का जो स्वरूप उपस्थित किया उसी का समर्थन उनसे बहुत समय पहले श्रीमद्भागवद्गीता तथा पुराणग्रंथों में हुआ है। श्रीरामानुजाचार्य के भक्ति-विषयक दृष्टिकोण में चिन्तन और ज्ञान को विशेष स्थान प्राप्त है। श्री रामानन्द ने रामानुजाचार्य के मत के आधार पर ही अपने सम्प्रदाय की उपासना में विष्णु और नारायण के स्थान में राम की प्रतिष्ठा की और उन्हीं की भक्ति पर विशेष बल दिया। रामानन्द को यहो "राम प्रतिष्ठा" औरहकी शताब्दी और उसने परचात् विकसित होनेवाली 'रामभक्ति' का कारण बनी। रामानन्द ने राम के निगुण और सगुण दोनों रूप स्वीकार किए हैं। उनके निगुण राम की भक्ति का बकास हमें कबीर काव्य में और सगुण राम की भक्ति का विकास तुलसी-काव्य में मिलता है। अन्य तीनों प्राचार्यों की भक्ति का आधार श्रीमद्भागवत है। इनके द्वारा निकृष्ट भक्तिभाव में ज्ञान को वह महत्व प्राप्त नहीं है, जो प्रेम को प्राप्त है। इनके द्वारा प्रचारित भक्ति में आत्मचिन्तन या आत्म-व्रतन की अपेक्षा आत्मसमर्पण ही अधिक आवश्यक है। इन तीनों प्राचार्यों ने भगवान् कृष्ण की भक्ति को ही अपने उपासना का अवसर्ग बनाया है। इनके परचात् चैतन्य महाप्रभु और बस्सभाचार्य ने इन प्राचार्यों के अनुकरण पर भगवान् कृष्ण की भक्ति को ही विशेष महत्व दिया पर साथ ही आदिपुस्तक-रूप कृष्ण के साथ आदिपुस्तक-रूप राधा को भी अपनी उपासना का केन्द्र-बिन्दु बना लिया। चैतन्य और बस्सभाचार्य के उपासण की भक्ति का विकास हम सूर-काव्य में मिलता है। वही यह कह देना अत्यन्तिक न होगा कि भगवान् कृष्ण ने ईश्वर भक्ति का जो रूप पीता में प्रकटावित किया है उसमें अवतारवाद की आवश्यकता निहित है। उनकी —

पदा यदा हि धर्मस्य स्तानिभवति मारुत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनायै मम यामि युगे युगे ॥

पवित्रता अवतारवाद को ही अवश्य है। पीता यह और कृष्ण में भिन्नता नहीं जाननी —

२८]

महाः परतरं नायत् किंपिदस्ति धनजय ।
मयि सधमिर्धं प्रोत सूत्रे मखिगण्ठा इव ॥

उपामना के क्षेत्र में प्रवृत्तता का प्रवेश होने पर मयुख मखि-भारा का जन्म हुआ। हमें इसी भारा का प्रतिपादन पीछे महाभारत भागवत तथा कुछ पुराणों में भी मिलता है। यह मयुखमखि-भारा का धारण कृष्ण-काम से ही माना जाना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में हम यह भारा कृष्ण-काम्य और राम राज्य के रूप में मिलती है।

कृष्ण काम्य का सूत्रपात

पहिले आम्बेर संहिता यजुर्वेद संहिता धाम्नायोपनिषद् तथा बीयाकरव पाणिनि एवं पर्ववलि के प्रश्नों में 'कृष्ण' के नाम का उल्लेख होने की बात कही जा चुकी है। इनमें से आम्बेर संहिता और यजुर्वेद संहिता में जिस कृष्ण का उल्लेख है उनके यजुर्वेद-युग कृष्ण होने में बिनाओं को संदेह है। मम्मथ है वे कई दूसरे युग २१ हा पर धाम्नायोपनिषद् में कृष्ण स्पष्टतः बबको-युग के रूप में उपस्थित है। प्रमाणों से वक्तव्य देना—

तत्रैतद् धीर आंगिरसः कृष्णाय बबकी पुत्रायोक्ता
वापाऽपिपास एव स यभूव ।
मोऽन्तबब्यायामंतत्रय प्रातपद्येताहितमस्यभ्युतममि
प्रासमशितमसीति ॥

प्रकरण ३ खंड १७

इसके परचात् 'महाभारत' में कृष्ण का उल्लेख है। व यहाँ जिस रूप में उपस्थित किए गए हैं उनके उस रूप में हमें 'देवत्व' की स्पष्ट प्रतिष्ठा मिलती है। समा-युग में भी हमने उन्हें अत्यन्त प्रकृति धीर सनातन कहकर बड़ा धनवा दिव्य के रूप में स्वीकार किया है—

यथा प्रकृतिरव्यक्ता कृता येव सनातन ।
परब्रह्म सर्वमूलेभ्यः तरमात्पूज्यतमो भ्युतः ॥
महाभारत २८।२५

इतना ही नहीं पर ने उन्हें परब्रह्म तक कहकर सम्बोधित करत है—
पतत्परमक ब्रह्म, पतत्परमक धरा ।
एतद्वद्वरमव्यक्त एतत् वै शश्वत महाः ॥
महा० ११

उपपन्न दोनों उद्धारणों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकाल (सन् ईसवी के २०० वर्ष) पूर्व में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और उस काम के भीष्म जैसे धार्मिकों की दृष्टि में वे समानतः धर्मवत् परब्रह्म के समान ही पृथक् थे। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कृष्ण भगवान् को अवतार ही नहीं पर परब्रह्म के रूप में भी उपस्थित किया है। प्रमाणात् पीता के पीचे और सातवें अध्याय के कुछ श्लोक देखे जा सकते हैं। “नारायणीय” में ब्रह्म की अभिव्यक्ति अतुल्य के रूप में की गई है। बासुदेव संकषण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चार व्युत्पन्न अवतार हैं; बासुदेव रूप में वे धारि ब्रह्म संकषण अथवा प्रकृति प्रद्युम्न रूप में मानस और अनिरुद्ध रूप में प्रकृति हैं। वे अपने इन्हीं चारों रूपों में संसार में जन्म ग्रहण करते हैं। “नारायणीय” में उनके कंस-वध के लिए बासुदेव रूप में अवतरित होने का भी उल्लेख है। हरिश्चंद्र पुराण की रचना तीमरी श्यामी की मानो जाती है। इसमें उनका गोपाल रूप के रूप में उल्लेख किया गया है। इससे यह कहा जा सकता है कि उनको कथा रूप में रचना के पूर्व ही प्रकृतिक भी। इसके अतिरिक्त बासु पुराण वाराह पुराण अथि पुराण भागवत पुराण नृसिंह पुराण धारि में भी कृष्ण का अवतार रूप में निर्देश हुआ है। हरिश्चंद्र पुराण तथा भागवत पुराण में कृष्ण की कुछ सीमाओं का भी उल्लेख है। मेगस्थनीज ने ईसा के ३०० वर्ष पूर्व मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण का पूजा होने का उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सन् ईसवी के कुछ शताब्दियों पूर्व ही कृष्ण को ब्रह्म अवतार विष्णु के रूप में स्वीकार कर विभिन्न धर्मधारियों ने उनके जीवन तथा जीवन-सीमाओं का काश्चित् चित्रण किया है। भागवत पुराण के धनन्तर जिन पुराणों की रचना हुई उनमें कृष्ण के साथ राधा का भी उल्लेख मिलता है। ‘गोपालतापनी उपनिषद्’ ऐसे ग्रन्थों में से एक है, जिसमें राधा का अति-चित्रण कृष्ण की प्रेयसी के रूप में हुआ है। मध्वाचार्य ने अपने मन्त्रदाय की उपासना में राधा को कोई महत्त्व नहीं दिया किन्तु उनका परचात् विष्णु स्वामी और निम्बाक की उपासना में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमें “गोपालतापनी उपनिषद्” की रचना मध्वाचार्य के परचात् और विष्णु स्वामी के धार्मिकों के पूर्व हुई जान पड़ती है। इसी जाल में कृष्ण-काश्य में राधा का स्थान समझ जाना चाहिए। विष्णु स्वामी के अनुकरण पर कश्यमाचार्य ने और निम्बाक के अनुकरण पर जयदेव ने अपनी रचना में राधापुत्र कृष्ण-काश्य को स्थान दिया। इन्हीं दोनों के काश्य का विकास हमें मूरदास और विद्यापति की काश्य-रचना में मिलता है। हिन्दो में कृष्ण-काश्य का धारम विद्यापति से होता है किन्तु जयदेव के “दास-योधिन” से प्रभावित होकर राधापुत्र-कश्यवी पदों की रचना की थी यद्यपि जयदेव का धर्मवृत्ति पाश्चात्तिक की रचना संसृष्ट भाषा में हुई है तथापि उनकी कुछ

मत्तः परस्परं नायत् किञ्चिद्दस्ति धनंशय ।
मयि सर्वमिदं प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥

उपामाना के रूप में व्यवहारभाव का प्रवेश होने पर मणुल मन्त्रिण-धारा का जन्म हुआ। हमें इसी धारा का प्रतिपादन भीना महाभारत काव्यकृत तथा कुछ पुराणों में भी मिलता है। धन उगुलमन्त्रिण-धारा का धारण कृष्ण-काल से ही माना जाता है। हिन्दी-साहित्य में हम यह धारा कृष्ण-काव्य और राम-काव्य के रूप में मिलती हैं।

कृष्ण-काव्य का सूत्रपात

पश्चिम आग्नेय संहिता यजुर्वेद संहिता धाम्नीगोपनिषद् तथा ब्रह्मसंहिता पाणिनि एवं पराशरि के ग्रन्थों में 'कृष्ण' के नाम का उल्लेख होने की बात कही जा चुकी है। इनमें से आग्नेय संहिता और यजुर्वेद संहिता में जिस रूप का उल्लेख है उक्त अनुसन्ध-रूप कृष्ण ही मन्त्रियों को मन्त्रों है। मन्त्रम है ये कर्ण कृष्ण ११ हा पर धाम्नीगोपनिषद् में कृष्ण स्पष्टकाव्य ब्रह्मो-गुण के रूप में उपस्थित है। प्रमाणों में पवित्रता के लिए—

सर्वैतद् धार आगिरमः कृष्णाय देवका पुत्रायोष्ठा
धापाऽपिपास एव स भूम्नः ।
साऽन्तर्ब्रह्मायामेतस्त्रय प्रागपद्योताहितमस्यच्युतमसि
प्राणसहितमसीदि ॥

प्रकरण ३ लं १७

इसके परभाव 'महाभारत' में कृष्ण का उल्लेख है। वे यहाँ जिस रूप में उपस्थित किए गए हैं उनके उस रूप में हमें विश्वास की स्पष्ट प्रतिष्ठा मिलती है। समा-धर्म में भीष्म ने उन्हें धर्मका प्रवृत्ति और मतात्मक कहकर बड़ा प्रशंसा दिव्यु के रूप में स्वीकार किया है—

उद्यः प्रकृतिरज्यन्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परञ्च सर्वमूर्तयः तस्मात्पूज्यतमा च्युता ॥

महाभारत २१।२४

इतना ही नहीं पर वे उन्हें परब्रह्म तक कहकर सम्बोधित करते हैं—
एतत्परमं ब्रह्म, एतत्परमं यथा ।
एतद्व्यंकरमव्यक्त एतत् वै शश्वतं महः ॥

महा० ११।१९

पर उनकी प्रतिक्रिया रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। मूरदास तथा मधुदास के ग्रन्थ समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मीरा का काव्य भी यन्त्र-बद्ध ही है। इनके प्रतिरिक्त हिल हरिश्चंद्र गदाधर भट्ट हरिदास भट्ट आदि न भी सुन्दर पदों की रचना की है।

अलंकार

कृष्ण-काव्य में अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग मूरदास की रचना में हुआ है। इनके परभाव मन्ददास की रचना का जन्म है। कृष्ण-काव्य के ग्रन्थ कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास अलंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण-काव्य के रचयिता पहिले भवत और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य को सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव-जन्य के सम्राट् थे। जो नाक हृदय में धाये अपनी रचना से उतार दिये। इस भावामिष्यक्ति में जो अलंकार अपने आप धा गये वे धा गये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा 'ब्रज भाषा' है। वह भाषा स्वामिष्य ही मधुर है जो कृष्ण के लावण्य रूप-नाभय और उनकी मधुर लीलाओं से समन्वित हो कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अक्षर अक्षर हैं। महाकवि मूर की भाषा में अनेक स्वरों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। मंददास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी-प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य अल्प-प्रधान काव्य है, इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वामिष्य है, पर राजा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राबल्य है। इस चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप वर्तमान हैं। इस रस का इतना अधिक धन बल प्रवाह कृष्ण-काव्य-रचना का पूर्व कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-काव्य का शान्त रस जैसे दब-सा गया है। इनके प्रतिरिक्त अद्भुत हास्य कण्ठ और बीर रस को भी इस काव्य में स्थान मिला है पर इनका स्थान भीष और नरायण-मा ही है। मूर के प्रतिरिक्त और किसी के काव्य में इन रसों का प्रयोग नहीं मिलता।

राम-काव्य धारा

इस उपग्रन्थ "वाम्नीक राजाशय" में रामचरित पाठ है। इसमें राम का चरित्र जिस रूप में चित्रित हुआ है वह एक महानुराग का चरित्र है, विष्णु के अवतार

रचनाएँ हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। ये रचनाएँ गीतगोविन्द की रचना से सबसे मिस्र हैं। इनका मुख्य साहस में समूहीत एक हिन्दी पर इस प्रकार है —

चन्द भस भेदिया नाद सत पूरिया, सूर सत खोड़ सायतु कीया ।
अवलबलु तोड़िया अपल बलु थापिया, अपडु घड़िया तहा अमिर्ब पोया ॥
मन आदि गुठ आदि बठानिया, तेरी दुबिया दृष्टि समानिय ॥
अरधि की अरधिया सरधि की सरधिया, सखिल की सखिलि संमानि पाइया ।
बदलि अयद्व जयद्व की रंमिया, ब्रह्म निबाण सबसोन पाइया ॥

अपदेव की इन प्रकार की रचनाओं से हिन्दी के कृष्ण-काव्य को कोई धारणा नहीं मिलता किन्तु समझे गीतगोविन्द ने निश्चित ही हिन्दी-कवियों का ध्यान कृष्ण-काव्य की रचना की ओर आकर्षित किया है। अपदेव का समय सं १०८२ और ११७ के मध्य माना जाता है। अतः गीतगोविन्द की रचना का समय भी यही माना जायगा। अपदेव के परचाद् विद्यापति ही सर्वप्रथम कृष्ण-काव्य लेकर हिन्दी-संसार के मध्य उपस्थित होते हैं। मुरदास इस काव्यभार के सर्वभूत बन्धि हैं।

कृष्ण-काव्य पर बिहगम दृष्टि

कृष्ण-काव्य के रचयिताओं का मुख्य बय विषय कृष्ण को विभिन्न लीलाओं का चित्रण ही रहा है। इन लीलाओं में मृदार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समन्वय है। इनके इस चरित्र चरचा लीला-चित्रण का प्रमुख धारणा श्रीमद्भक्तवत्सला का बराम स्वरूप है। इस काव्य में रास और भ्रमरपीठों को विशेष स्थान प्राप्त है। केवल मीराबाई ही एक ऐसी ही जिन्होंने अपनी रचना में इन लीलाओं को स्थान न दे कृष्ण के प्रथम स्वरूप का ही चित्रण किया है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य भक्ति-रस से परिष्कारित और सौन्दर्य से समिभूत है। 'पुष्टिमार्ग' कृष्ण-काव्य का मूल स्रोत है जो विभिन्न कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में विभिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ है। रास और कृष्ण के रूप-साधक-चित्रण में नख-तिल-वर्धन और अतु-वर्धन को भी स्थान मिल गया। इसे ही रीति-काल की पूर्वपीठिका कहना चाहिए। अपदेव के अनुकरण पर विद्यापति ने अपनी रचना में 'नख-तिल' को स्थान दिया जिसका विकास हमें मुरदास की रचना में मिलता है। मुर के अनुकरण पर उनके कुछ परवर्ती कवियों ने भी अपने काव्य में 'नख-तिल' और 'अतु-वर्धन' को स्थान दिया है। इसी का अधिक विकास हमें 'रीति-काल' में मिलता है।

अन्त

कृष्ण-काव्य को अधिकतर रचना अन्त-बय नहीं पर पर-बय है। कृष्ण-काव्य-कवियों ने राहा लीलाई, रीता अन्वय, कवित्त और सबैबा में भी काव्य रचना की है,

पर उनकी शक्तिशाली रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। सूरदास तथा बलराम के श्यम समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मोघ का काव्य भी पद-बद्ध ही है। इनके अतिरिक्त हित हरिवंश यदाहर भट्ट हरिदास भट्ट आदि ने भी सुन्दर पदों की रचना की है।

अलंकार

कृष्ण-काव्य में अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग सूरदास की रचना में हुआ है। इनके परभाव नन्ददास की रचना का रूप है। कृष्ण-काव्य के श्यम कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास अलंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण काव्य के रचयिता पहिले मकत और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य को सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव शक्ति के सम्राट् थे। जो भाव हृदय में धार्य अपनी रचना में उतार दिये। इस भावामिष्यक्ति में जो अलंकार अपने प्रायः धा गये वे धा बये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा 'ब्रज भाषा' है। यह भाषा स्वाभाविक ही मधुर है जो कृष्ण के लालस्य रूप-भावों और उनकी मधुर लीलाओं से सम्बन्धित हो कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अन्तर अवश्य है। महाकवि सूर की भाषा में अनेक स्थलों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। नन्ददास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है, इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वाभाविक है पर राजा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राबल्य है। इस चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप वर्तमान हैं। इस रस का इतना अधिक अन्तः प्रवाह कृष्ण-काव्य रचना के पूरव कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-श्यम का शान्त रस वीर्य देव-भाषा है। इनके अतिरिक्त अस्मृत हास्य कण्ठ और कीर रस को भी इस काव्य में स्थान मिलता है, पर इतना स्थान जीव और लक्षण-भा ही है। सूर के अतिरिक्त और किसी के काव्य में इन रसों का प्रवाह नहीं मिलता।

राम-काल्य-धारा

हम सबसे पहले "बाल्मीकि रामायण" में रामचरित पाते हैं। इसमें राम का चरित्र शिशु रूप में चित्रित हुआ है यह एक महापुरुष का चरित्र है, विष्णु के अवतार

रचनाएँ हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। ये रचनाएँ भीतमोबिन्द की रचना से उच्चता भिन्न हैं। इनका गुणधर्म साह्र में समूहीत एक हिन्दी पर इस प्रकार है —

पद सत भेदिया नाद सत पूरिया, सूर सत खोड़ सावतु कीया ।
 अबलबलु तोड़िया अचल बलु धापिया, अपडु पड़िया तहा अमिरे पोया ॥
 मन आदि गुरु आदि बतानिया, तेरी दुबिधा दृष्टि ममानिय ॥
 अरधि कौ अरभिया सरधि कौ सरधिया, सखिल कौ सखलि समानि पाइया ।
 पदति अयदेव अयदेव की रमिया, ब्रह्म निवाय खबखान पाइया ॥

अयदेव की इस प्रकार की रचनाओं से हिन्दी के कृष्ण-काव्य को कोई धारा नहीं मिली किन्तु उनके गीतमोबिन्द ने निश्चित ही हिन्दी-कवियों का ध्यान कृष्ण-काव्य की रचना की ओर आकर्षित किया है। अयदेव का समय सं १८२२ और १९७ के मध्य माना जाता है। परंतु गीतमोबिन्द की रचना का समय भी वही माना जायगा। अयदेव के परभाव विद्यापति ही उद्योगधर्म कृष्ण-काव्य लेकर हिन्दी-संसार के समस्त उपस्थित होते हैं। गुरुवास इस काव्यधारा के सर्वमठ कवि हैं।

कृष्ण-काव्य पर विहंगम दृष्टि

कृष्ण-काव्य के रचयिताओं का मुख्य बर्ण विषय कृष्ण को विविध लीलाओं का विषय ही रहा है। इन लीलाओं में शृंगार के संबोध और विषय दोनों पक्षों का समावेश है। इनके इस चरित्र धरना सीमा-विशेष का प्रमुख धारण भीमवृंदावत का वरतम स्वरूप है। इस काव्य में रास और अमरपीठों को विशेष स्थान प्राप्त है। केवल मीठवाई ही एक ऐसी ही विहंगमे अपनी रचना में इन सीमाओं को स्थान न दे कृष्ण के प्रेममय स्वर्ण का ही विषय किया है। सम्युक्त कृष्ण-काव्य मक्ति-रस से परिष्कारित और सौन्दर्य से अजिभूत है। 'पुष्टिमात्र' कृष्ण-काव्य का मूल कोट है जो विभिन्न कृष्ण-धर कवियों के काव्य में विभिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ है। रास और कृष्ण के रूप-भाव-धर-विषय में लक्ष-सिद्ध-वदल और अनु-वर्धन को भी स्थान मिल गया। इसे ही रीति-काल की पूर्वपीठिका कहना चाहिए। अयदेव के अनुकरण पर विद्यापति ने अपनी रचना में 'लक्ष-सिद्ध' को स्थान दिया जिसका विकास हमें गुरुवास की रचना में मिलता है। गुरु के अनुकरण पर उनके कुछ परवर्ती कवियों ने भी अपने काव्य में 'लक्ष-सिद्ध' और 'अनु-वर्धन' को स्थान दिया है। इसी का अधिक विकास हमें 'रीति-काल' में मिलता है।

सन्दर्भ

कृष्ण-काव्य को अधिकतर रचना लक्ष-वदल नहीं पर पर-वदल है। कृष्ण-काव्य-कवियों ने बोझा भीपाई रीति अल्प कवित और उर्वा में भी काव्य रचना की है,

पर उनकी अधिकतर रचनाएँ संगीतमय पदों में ही उपलब्ध हैं। मूरदास तथा धरुदास के काव्य समस्त कवियों ने पदों में ही काव्य-रचना की है। मीरा का काव्य भी पद-बद्ध ही है। इनके प्रतिरिक्त हित हरिबंस पदाक्षर मट्ट हरिदास मट्ट आदि न भी सुन्दर पदों की रचना की है।

असंकार

कृष्ण-काव्य में असंकारों का सबसे अधिक प्रयोग मूरदास की रचना में हुआ है। इनके परचात् मूरदास की रचना का क्रम है। कृष्ण-काव्य के काव्य कवियों की रचना में हमें उपमा रूपक और अनुप्रास असंकार का ही प्रयोग अधिक मिलता है। कृष्ण काव्य के रचयिता पहिले अक्षर और फिर कवि थे। अतः उनके लिए अपने काव्य की सुन्दर असंकारों से सुसज्जित करना आवश्यक न था। वे भाव-व्यक्त के सम्राट् थे। जो भाव हृदय में धामे अपनी रचना में उतार दिये। इस भावामिष्यक्ति में जो असंकार अपने आप धा मने वे धा पये।

भाषा

कृष्ण-काव्य की एकमात्र भाषा 'ब्रज भाषा' है। यह भाषा स्वाभाविक ही मधुर है, जो कृष्ण के सावय्य रूप-भावुय और उनकी मधुर लीलाओं से समन्वित ही कृष्ण काव्य के कवियों के काव्य में और भी अधिक मधुर हो गई है। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा के रूप में कुछ अक्षर अक्षर हैं। महाकवि मूर की भाषा में अनेक स्वतों पर संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है। मूरदास की ब्रजभाषा में संस्कृत के उद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। मीरा की भाषा राजस्थानी-प्रभावित ब्रज है।

रस

कृष्ण-काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है इसलिये उसमें शान्त रस का प्रवाह स्वाभाविक है पर राजा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में शृंगार रस का ही प्राधान्य है। इस चित्रण में शृंगार रस के दोनों रूप बतमान हैं। इस रस का इतना अधिक धन बरत प्रवाह कृष्ण-काव्य-रचना के पूर कभी नहीं देखा गया। शृंगार की सभी स्थितियाँ कृष्ण-काव्य में उपस्थित हैं। इस रस के उभार में कृष्ण-काव्य का शान्त रस जैसे बह-सा गया है। इनके प्रतिरिक्त अद्भुत हास्य कृष्ण और और रस को भी इस काव्य में स्थान मिलता है, पर इनका स्थान नीच और गदबद-ता ही है। मूर के प्रतिरिक्त और कितो के काव्य में इन रसों का प्रवाह नहीं मिलता।

राम-काव्य-धारा

हम सबप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' में रामचरित पाठे हैं। इसमें राम का चरित जिस रूप में चित्रित हुआ है वह एक महापुरुष का चरित है, विष्णु के अवतार

राम का चरित्र नहीं है। इन चरित्र-चित्रण में कवि का दृष्टिकोण तबचा लोकिक-वास्तविक रामायण का रचनाकाल सन् ईसवी के २ • वर्ष धीरे ४०० वर्ष पूर्व के माना जाता है। इसके परचात् हमें सन् ई • के कोई २०० वर्ष पूर्व महाभारत 'धनुषीठा' के अन्तगत विष्णु के अवतारों का उल्लेख मिलता है किन्तु राम भी अवतार है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि राम को इसके पूर्व देवत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। राम में देवत्व की भावना का पूर्ण विकास हमें सन् ईसवी के ४० वर्ष पर्यन्त निर्मित विष्णु पुराण में मिलता है। इसी की छठी शताब्दी में 'राम-सुर्वता उपनिषद्' और 'राम अस्त-ताफनी उपनिषद्' की रचना के साथ राम को ५० वर्ष से ब्रह्म का अवतार स्वीकार कर लिया गया। इसके परचात् 'धवस्त-सुर्वता संवाद संहिता' में राम में अनेक भौतिक गुणों का समावेश कर उन्हें विदेव महाराज बिया गया। भाये चलकर 'अध्यात्म रामायण' में राम सर्वोच्च धासम पर प्राप्त कर दिए गए। इसके अनंतर प्यारहवीं शताब्दी के प्रथम अरब में रचित 'भाग्य पुराण' में राम का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस प्रकार हम ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक राम के रूप का क्रमिक विकास देखते हैं पर इनकी सति का प्रतिपादन संभवतः एकप्रथम रामानन्द ने ही किया। रामानन्द की बड़ी सगुण रामोपासना की आरा हिन्दी-साहित्य में अपने विकसित रूप में तुलसीदास के 'राम चरित मानस' में प्रकाशित हुई। मोस्वामी तुलसीदास ने अपनी इस अमर रचना में बड़े भक्ति-भाव से राम का चरित्र-चित्रण करते हुए रामानन्द के आरंभिक सिद्धांत, एवं भक्ति के तत्त्वों का भी बड़े सुन्दर ढंग से समावेश किया है। तुलसीदास के ५० हमें अपभ्रंश-कालीन कवि स्वयंभू-दास रचित 'पञ्चचरित' में भी रामचरित्र मिलता है किन्तु नहीं कवि का दृष्टिकोण गोस्वामी तुलसीदास से तबचा भिन्न है। पर हम गोस्वामी को ही सगुण भक्ति-आरा के राम-काव्य का प्रथम स्रष्टा मानना चाहिए। इस आरा के अन्य कवियों में केतवदास अग्रवाल नानादास कृपानिवाण हृदयदास नामदास रामप्रियदासराज कृतानिधि बिरबनाचरिह, लक्ष्मणदास आनकीरास घासि हैं।

राम-काव्य का सिद्धांतलोकन

राम-काव्य के कवियों ने राम की परब्रह्म अथवा विष्णु के अवतार के रूप स्वीकार कर अनेकी भक्ति को अपने काव्य का आधार बनाया और राम की जीवन कथा का अपने-अपने ढंग से अनेक रूपों में निरूपण किया है। इस राम-काव्य को कवि का स्वरूप वास्तविक रामायण और अध्यात्म रामायण के आधार पर स्थिर किया गया है। रामानन्द ने 'विशिष्टादर्श' के समर्पण में विश्वास भक्ति को अग्रम किया। हमें उर्ध्व का विकास राम-काव्य के कवियों की रचनाओं में मिलता है। एकप्रथम गोस्वामी तुलसीदास ने राम काव्य-शास्त्र का नेतृत्व ग्रहण किया और उनके परवर्ती कवियों ने इन्हीं के पत्र-प्रवर्तन में अपने काव्य की रचना की। तुलसी के राम लोच देवना लोच

कल्याण और साक-संघर्ष के प्रतीक हैं। उन्हें एक कमर-सम्पन्न राक्षस में प्रकल्पित होने का मीमांसे प्राप्त था परन्तु सोकनामक ने और उन्हें सोकहित की चिरंतन वृष्टि प्राप्त की। अतः उनका धारंभ स अंत तक का जीवन सामान्य जनता के बीच ही व्यतीत हुआ और वे उसी में बुल भिन्न हुए। तुलसी के द्वारा प्रस्तुत राम का यह रूप सर्वप्रिय बन गया। तुलसी-काम्य की यही विशेषता उसको सर्वप्रियता का कारण है।

राम-कथा का विलसत रूप सबसे प्रथम तुलसीदास जी के द्वारा ही जन भाषा में जनता के सामने आया और उसल समय धर्मोत्तर समझे जाने वाले ब्रह्म के ब्रह्म तुलसी के काव्य में ब्रिमे। गोस्वामी जी के समन्वयकारी वृष्टिकोण ने राम-काव्य का उत्का कीर्त सभी जाति धर्म और सम्प्रदाय ने धारण की वृष्टि से देखा। परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा एक ऐसे काव्य की परम्परा धारंभ हो गई जिसका निर्वाह उनके परचात् के अनेक कवियों-द्वारा समाचार को सशक्तिपूर्वक तक होता रहा।

यहाँ वह स्मरणयोग है कि राम काव्य और कल्याण-काव्य की धाराएँ एक साथ ही प्रवाहित हो रही थीं और यत्ना धाराओं का परस्पर प्रभाव भी बढ़ता जा रहा था। ये दोनों काव्य-धाराएँ समान रूप में लोकप्रिय थीं। कल्याण-काव्य में जो सीध सलित्य और धारण का वह रतिकवनों की वृष्टि में राम काव्य में नहीं था। काव्य-काव्य की नम विश्वता ने रामानन्द सम्प्रदाय के कुछ रामभक्त कवियों का प्रभावित किया और उन्होंने कल्याण-काव्य की धारा पर राम और माता की विशिष्ट सोसाया का विश्लेषण करना धारंभ किया। इनमें से कुछ कवियों का सीधा राम का चरित्र-विश्लेषण पर्याय में राधा-कल्याण चरित्र बन गया। अयोध्या के कुछ कवियों का यह विश्लेषण धरमा-मता की सीमा तक भी पत्रेय गया है।

धृद

राम-काव्य का अधिक रचना आसमी की पंक्ति पर राधा-चौपाइयों में ही हुई है। राम-काव्य की प्रभावमय कथा के विकास के लिए यही जैसी उपयुक्त थी परन्तु राम काव्य में शोभा-चौपाइ के अनिश्चित मोरछा रामा उत्साहा हरीलीलिता कुंडलिया छणय, ठामर, विमगी सबैया पनाचरो धारि का प्रयाग भी पर्याय परिमाण में हुआ है।

भाषा

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित-मानस की भाषा धरपी है जो उनके समकालीन तथा परवर्ती धरिवांश कवियों की काव्य रचना की भाषा बन गई। बराबर राम ने अपनी "रामचरित" ब्रजभाषा में लिखी है। कुछ कवियों ने इनके अनुकरण पर ब्रजभाषा में भी राम-काव्य की रचना की। इन दोनों भाषाओं के साथ दक्षिण-पश्चिमी

मोजपुरी एवं धरबी-झरडी क शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अनेक उत्तम शब्द भी अर्ध-उत्तम धीरे-धीरे उद्भूत रूपों में परिवर्तित होकर राम-काव्य में व्यवहृत हुए हैं। इन भारतीय धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं के शब्दों धीरे-धीरे संस्कृत शब्दों के रूपों के प्रयोग से अनेक धीरे-धीरे विकास में बहुत सहायता मिली है।

रस

राम-काव्य में सभी रसों का प्रयोग हुआ है। राम क जीवन की विविधता को देखते हुए यह स्वभाविक ही था। रामचरित-मानस एक महाकाव्य है, अतः महाकाव्य के स्वभाव के अनुसार इसमें भी रसों का समावेश आवश्यक की बात नहीं है। केवल ही रामचरित-मानस में भी भी रसों की स्थान मिला है। अनेक कवियों की रचना में हमें प्रचलन रूप से शान्त रस के बरत होने के साथ ही कुछ अन्य रसों का भी प्रभाव मिला है। जिसमें रामभक्ति की माधुर्य भावना के कारण शृंगार रस को अधिक स्थान प्राप्त है।

असकार

तुलसी-काव्य के असकारों पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है। वे ही असकार मुख्यतः राम-काव्य के असकार हैं। पर केवल के अतिरिक्त राम-काव्य के अन्य कवि इन सभी असकारों का प्रयोग न कर सके।

विद्यापति का काव्य-भैमव

विद्यापति का साहित्य

विद्यापति की रचनाएँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं—संस्कृत की रचनाएँ, अवहट्ट की रचनाएँ और मैथिली की रचनाएँ ।

इनकी संस्कृत की रचनाओं में शैव सप्तस्वसार प्रमाणभूत पुराण संप्रदाह, मूर्परिक्रमा पुराण पुरीचा, रंगा बाण्वावली बाण बाण्वावली विनाग सार बर्षक्रिया पञ्चमूला-धौर दुर्गामक्ति-शरीरिणी मुख्य हैं । अवहट्ट की रचनाओं में कीर्तिमता धौर कीर्तिपताका का नामोल्लेख किया जाता है । हिन्दी के कुछ विद्वान् इन दोनों रचनाओं का प्राचीन-हिन्दी की ही रचनाएँ मानते हैं । महापंडित पद्मल साहन्स्यायन ऐसे ही विद्वानों में से एक हैं । इनमें से 'कीर्तिमता' महाराज कीर्तिसिंह के समय लिखी गई थी । इसमें विद्यापति ने उनकी बानशीलता और बीरता का बखान किया है । यह उनकी २० आय की अवस्था में रचित रचना कही जाती है । इसका महाराज कीर्तिसिंह और बीरसिंह की पर्य-यात्रा का बखान बड़ा कला और हृदयस्पर्शी है । भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है । यद्यपि इस पर प्राकृत का पर्याप्त प्रमाण-बैधान्त जाता है, पर-इस पूर्वी अवधत की ही रचना कहा जाना चाहिए ।

“कीर्तिपताका” की रचना महाराज कीर्तिसिंह के पुत्र शिवसिंह के समय हुई थी । महाराज शिवसिंह की कीर्ति का गुण्ड ही इस पुस्तक का मूल विषय है । इसमें पद्य के अतिरिक्त-गद्य भी मिलता है जो पूर्वी अवधत के तन्कासीन रूप की समझने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है ।

विद्यापति अपनी जिन काव्य रचना के कारण हिन्दी जगत में 'मैथिल कोविद' का नाम ले-जाते हैं, उनमें-एक कीर्ति 'पद्मवती' है । इसमें कवि-शाय अथवा जीवन काल में समय-समय पर रचित पदों का संग्रहण है । इन्हान इन पदों की रचना कालके दो-पदावली के अनुकरण पर की है । सभी पद-संग्रहण-धौर भाष्यपूर्ण हैं । "मैथिली" शैव ही एक कीमत प्रकृति की माया है जो विद्यापति के हाथों अपने परिष्कृत रूप में अष्टिक कोमल मधुर और प्रभावशाली हो गई है । इनके ये पद इनकी संवीत-कला-नियुक्तता के प्रमाण हैं । ये पद किसी निश्चित श्रुद्धि से प्राप्त नहीं पर कवि के भावोद्भूत कही प्रतीक हैं । इनके पदों में बाल बचस्क बूढ़ नबोडा प्रीडा मकल अमरन रतिक बिरकत सभी की अपनी रचि की बरन विग जाती है इमोक्ति

ये सर्वप्रिय है और इसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है। इसकी काव्य-भाषा पर कुछ हाकर
 वा बाबू सिधमन न लिखा है

Even when the sun of Hindu religion is set when belief
 and faith in Krishna and in that medicine of disease' of
 existence the hymns of Krishna's love is extinc still the love
 born for songs of Vidyapati in which the tells of Krishna
 and Radha will never diminish

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधाकृष्ण के प्रेम ने विद्यापति को और विद्यापति के
 पदों ने राधा कृष्ण को सर्व कं लिए धर बना दिया। न केवल विजिम्मा में वरु
बबनमि और बंगाम में भी विद्यापति के पद कृष्ण मंत्रों की बाणों के मूष बने हुए
 हैं। विद्यापति के ये पद विपुष को दृष्टि में तीन माषों में विभाजित किए जा सकते हैं—
मक्ति-रसात्मक, श्रुति-रसुक्त और सूत्र। मक्ति-रसात्मक पदों के अत्यन्त शिष की
नवारिका एवं मना गीतों और गुर्गा को सुनिर्मो से पूजा पदों का स्वान है। श्रुति-रस
 पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम धरना गायक-नायिकाओं की विभिन्न प्रेम भावनाएँ व्यक्त
 करनेवासे पर हैं। राधाकृष्ण से संबंधित कुछ पद ऐसे भी हैं जो मक्ति-रसात्मक कहे
 जा सकते हैं किन्तु इनमें भी विद्यापति अपनी श्रुति-रसात्मक को पूजक न रख सके
 परत इन पदों को भी इसी विभाजन में स्वान देना उचित होगा। सूत्र पदों में पुजा
शिकनित के राधेश्री का उना बीरता-व्यपक पदों के अतिरिक्त कुछ दृष्टि-पद और
प्रहेलिकाएँ हैं।

काव्य मीमांसा

विद्यापति 'गीतमोक्ति' के रचयिता नरि कृष्ण धरना महाकवि मुरदास की
 तरह मक्ति-काव्य के प्रयोग नहीं कहे जा सकते वे प्रमुख रूप में श्रुति-रस में ही कवि
 ने। इन्होंने कीर्तितवा के धारम में शिष और सरस्वती की तथा 'पदावली' में
 मयनात् कृष्ण की बरता की है किन्तु इन बरनामों में निहित कवि का दृष्टिकोण
 उनका अपना है। उन्होंने शिष की बरना करने-उपाय के रूप में और सरस्वती की
 बरना विद्या को विद्यापति के रूप में की है, किन्तु कव्य-बरना में मक्ति भावना नहीं है
कृष्ण के प्रसिद्ध स्वरूप का ही चित्रण किया है, जो कवि की श्रुति-रस भावना का प्रतीक
 है। विद्यापति का कृष्ण-बरना ना पर इस प्रकार है।

नर के नदन फव्व के तर तर,
 धीरे धीरे मुरली बजाव ।
 समय सकेत निकेतन बइसस
 बेरि बेरि गोत्रि - पठाव ॥

सामरि, तोरा सगि
 अनुपम विच्छल मुरारि ।
 जमुना के तिर उपवन उद्वगल
 फिरि फिरि पतहि निहारि ॥
 गोरस बेचप अतइत आइत
 जन जन पुछ बनयारि ।
 तोहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन,
 पचन सुनहु किछु मोरा ।
 मनइ विद्यापति सुन वरजीवति,
 पदइ नदकिसोरा ॥

हमें पद्यावली की अधिकतर रचनाओं में शृंगार के ही रस हीने हैं। उनके इन पदों में नामक-भाविका के नाम अनुभाव प्राप्तवम विभाव उद्दीपित विभाव संघारी भाव भावि शृंगार के विविध रस विविध हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण को प्रेम-सोमाधी का चित्रण बहुत सुन्दर किया है। इसे देखकर ऐसा लगता है कि यदि म रामा-कृष्ण का नाम लेकर एक उच्छल लल मुक्ती और मुक्क का ही चरित्र-चित्रण किया है। वही वैष्णव लक्ष कवियों ने राधा को ललकनता और अपनी उपास्या के रूप में चित्रित किया है, वही विद्यापति ने उनका चरित्र-चित्रण कही-कहा प्रसीसता का सीमा तक पठना दिया है। उदाहरणाय वे पदियाँ देखी जा सकती हैं—

इरतहि हृदय हनण पचमान ।
 कामिनी करण मनान ॥
 अघर मगइते अघोष कर माथ ।
 सदए न पार पयाधर हाथ ॥

विद्यापति ने अपने लिए एक पृष्ठ ही मृष्टि बना रखा था। उनकी मृष्टि में बसन्त के प्रतिरूप अर्थ कोई धनु कभी प्रवेश करने का साहस ही नहीं कर पाती। उनके लक्ष निरुद्ध में हरिण लक्षित ब्रम-लक्षणा का ही मूर्धन्य पुर्ण और मुमनुर कर्णों से लदे रहने का चित्रण प्राप्त करने और भ्रमर-पुष्प गुंजार करते रहते थे। पारिजात अनुपम सुवर्ण के साथ भूमता रहता निरुद्धों में सब उद्वलित रहता और सरिताएँ पीवन का उल्लास और मान्यता लिए प्रवर्धित होती थीं। उनकी उम मृष्टि में प्रेम और घामर के प्रतिरूप और कुछ न था। उनका प्रेम दो चारों ओर में प्रतिरूप या एक पृष्ठ और दुमरी स्त्री। इन बातों चारों ओर के मिलन में ही प्रेम की पुष्पता थी। काम के बालु चमत् रहने कामना की चली उद्वती रहती और लक्ष की निरुद्धों उनके जावन को घामर-विभोर करनी रहती थी। इस मृष्टि में घामर-विस्मय कवि राधा-कृष्ण के प्रेम मिलन और विविध रूप-नीरव का चित्रण करते हुए कहते हैं—

मायव, को कइव सुन्दरि रूपे ।
 कठेक जवन विहि धानि समारल देवस नयन सरूपे ॥

पल्लव-राज भरन-जुग सोमित,
 गति गजराज क भाने ॥

कनक कदलि पर-सिंह समारल,
 ता पर मेठ समाने ॥

मेठ उपर तुइ कमल फुलावस
 नास बिना रुचि पाइ ।

मनिमय हार धार बहु सुरसरि
 तभो नहि कमल मुलाई ॥

अधर बिष सन, बसन शक्तिम किनु,
 रवि सति लग्यिक पासे ।

राहु वर बस नियरा न-भायधि,—
 त नहि करधि गरासे ॥

सारग मयन बयन पुनि सारग सारंग वसु सम्बाने ।
 सारग उपर लगल वस सारग,

केलि करधि मधु पाने ॥

विद्यापति के इत नख-टिख-बर्छन में रूप-कावित-भोजि और यमक की छटा बरती
 है । कवि ने राजा के बर्छन इस प्रकार किया है—

बाइ सार सये मुल घटना कइ,
 खोजन बकित बकोरे ।

अमित धोय आँचर धनि पाइलि,
 वह दिशि भेख उजारे ॥

विद्यापति ने नायक-गायिका की बेशर्षों का भी सर्जीय विवरण किया है । वीरत
 के घोषण पर मधुसर होयें हुए कृष्ण के मुखर और सुपठित लीर की देवदर
 राजा कइयी है—

“ए सलि पेलसि एक अपरूप,
 सुनइत मानवि सपन सरूप ।

कमल जुगल पर बाइ क माखा,
 तापर उपजल तरुन तमासा ।

तापर बेइलि बिजुरी लता,
 काखिदी-वट धीरे बखि जाता ।

साक्षात्-सिखर सुभाकर पति,
 ताहि नष पखन भरुनक भति ।
 विमल बिषफल जुगल त्रिकास,
 सापर कीर धीर कठ बास ।
 सापर चचल लजन—शोर,
 तापर सापिनि मंगल मार ।
 ए सखि रगिनि कहल निसान;
 हरहत पुनि मार हरल गिधान ।
 कवि विद्यापति यहि रस पान,
 सुपुरुष परम तुहु भेल आन ।

नवयौवना के मातस में उठनेवासी मान-सहृदियाँ और काम-बासनाओं का व्यक्तीकरण कवि की निम्न पंक्तियों में देखिए—

संसप औषन दुहु मिछि गेल,
 लषन क पय तुहु लोषन सेल ।
 वचन क वातुरि लहुलहु हाम
 धरनिए चाइ कपल परगास ॥
 मुकुट छई भव करइ सिगार,
 सखि पूछइ कहस सुरत विहार ।
 निरखन उरज हेरइ कत बेरि
 हसइ स अपन पयोधर हेरि ॥
 पहिल बहरि-मम पुन नषरग,
 दिन दिन अनग अगागल अंग ।
 माधव पखल अपुरुष पाखा,
 संसप औषन दुहि एक सेखा ।
 विद्यापति कह तुहु अगेभानि,
 तुहु एक जोग हइके कह सयानि ।

विद्यापति का जीवन इतना गृहकारिक हो गया था कि वे मान-सहृदियों में भी अपना को हमसे न बचा सके । उनका बर्षा और बरगन अनु-बखन दिव्या के धर्म-कवियों के अनु-बखन से सबका पण्ड है । उनके बरगन-बखन की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अने दखए जाऊ गितु यमन,
 जहाँ कुइ कुमुम कतकि हमत ।
 जहाँ पदा निरमल भमर कार;

जहाँ रमनि उजागर दिन छँपार ।
जहाँ मुगुपति मानिन करय मान

परिपथिहि पेरुए पधवान ।
मनह सरस कथि-कठ-हार,
मधुसूदन राधा बन बिहार ।

बिद्यापति के शृंगार-रस के काव्य के परचासु मनि-रस के काव्य पर भी बिहृ-
वृष्टि काम लेना उचित होगा । वे शैव मतावलंबी थे । उनका राधा कृष्ण-नाम्य जितन
शृंगारमय है तिन न सम्बन्धित काव्य उठता ही मनि-रस है । शृंगार और मनि
ही बिद्यापति के काव्य के दो पक्ष हैं । ब्रह्म-काव्य-रचना में वे परम शृंगारी तथा तिन
काव्य रचना में परम यत्ना हैं । उनके तिन मनि-विषयक पर तिन यत्न स्त्री-पुरुषों की
गिति हैं । उनका एक पर इस प्रकार है—

हरि अनि बिसरय मा ममिता
हम नर अधम परम पतिता ।

तुष सन अधम इपार न दोसर,
हम सन जग नहि पतिता ।

जम के द्वार जवाय कम्मोन देव
असन सुम्ह निज गुनकर बतिया ।

जय तम किकर कोनि पठाएठ
तलन क होत थरहरिया ।

भन बिद्यापति सुकवि पुनिठ मति,
सकर बिपरीठ बानी ।

असरन-सरन-चरन निर नाआल
बसा कठ विभ सूखपानी ।

बिद्यापति ने तिन के प्रतिरिपुष धम्य हैवी-वैवताओं के प्रति भी यत्ना यत्ना की है
और उनकी बलता के पर बाए है । उनके लिनाम्बित पर वे 'हरि-हर' का
समन्वय देखिए—

पख हर पख हरि पख तुष कखा ;
खन पित बसन खनहि बमझखा ।

खन पंचानन खन मुज चारि,
खन शकर खन देव मुरारि ।

खन गोकुल मय चराइष गाप
खन भिकि मागिए बमरु बजाय ।

खन गोबिन्द मूप लिख महादान
 खनहि भ्रमर मह काँक धे कान ।
 एक सरोर लेख दुइ यास
 खन बैकुण्ठ खनहि फेलास
 मनइ विद्यापति विपरात वानि
 ओ नारायण ओ सूखपानि ॥

विद्यापति न कुछ बहुत गुम्बर बुझिष्ट-पद भी लिख है । उग्राहरणाम उनका एक पद इस प्रकार है—

माघष घाग बुझल मुझ भाजे ।
 पय दून दह, दह गुण सप गुन
 से बलइ कान काज ।
 चालिस पारि काटि चौंठाई
 म हमेस पिथा भाग ।
 से निरन्त मुस्य पैयल चौंदिम
 कहम अनम क आरा ।
 माटिहु मह दह विंदु विवरजित
 क पे महत उरहास ।
 हम अपला अर पहुक राममें
 दुइ विंदु करन गरासे ।
 नथ पुदा दम नपय याम कप
 स उर हमर परान ।
 कपटी बालमु हरि न हरप
 कारन के नहि जाने ।
 मनइ विद्यापति सुनु पर जीपति
 ताहि करधि के बाधा ।
 अपन आय दय परक मुकाइय
 नास कमल दुइ आग्रा ।

भ्रमर-याचना

विद्यापति न कनेक प्रकार के भ्रमर-याचों का प्रयोग किया है किन्तु उनका इस प्रकार का उदाहरण यही भावार्थिभ्रमर ही है—कप-जिन्तु की कठका पार करि बुलायिभ्रमरि की तीव्रता का उदाहरण है । उम्मेनि कही ओ भ्रमर-याचों का उदाहरण प्रयोग नहीं किया है । यही विद्यापति न भ्रमर-याचों की विशेषता है । उनके द्वारा प्रयुक्त भ्रमर-याचों

में तुल्यवृत्ति प्रतिशयोक्ति हेतुल्लेख, विभावना, रूपक, उपमा और पर्यायोक्त ऐसे धर्मकार हैं जिनका प्रयोग उन्होंने प्रायः भाषानिबन्धना के लिए ही किया है। रूपक-विषय में रूपकप्रतिशयोक्ति प्रतिशयोक्ति और निरुक्ता धर्मकार का विशेष प्रयोग मिलता है। इनके प्रतिशयन उदाहरणों के लिए मल्लिकार्जुन का प्रयोग भी रूपक-विषय में हुआ है। नायक-नायिका के भावों को तीव्रता दिलाने के लिए मल्लिकार्जुन का प्रयोग भी धर्मकारों के उदाहरणों के साथ ही है। उनके पहले दिए गए उदाहरणों की तरह एक साथ ही देवी का उदाहरण देना समभव नहीं है। उनके पहले दिए गए उदाहरणों की तरह एक साथ ही देवी का उदाहरण देना समभव नहीं है। उनके पहले दिए गए उदाहरणों की तरह एक साथ ही देवी का उदाहरण देना समभव नहीं है।

- ✓ नहि मारा जटाभार चिकुर क बनो
- दुरसर नहि मारा कुममक सेनी ।

भाषा

विद्यापति को 'परावर्तो' की भाषा मैथिली है। उन्होंने 'कीर्तिलता' की प्रस्तावना में कहा है—

देसिल बयना सब जन मिटठा ।
ते तसन अपभ्रंश बबहूटठा ॥

विद्यापति ने इसी शब्दों मधुर लपनेवासी 'देसिल बयना' (देसीभाषा) में परावर्तो की रचना की है। मिथिला बंगाल का सीमावर्ती भाग है, यद्यपि पर बंगाल का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है किन्तु 'मैथिली' की प्रकृति हिन्दी (पूर्वी हिन्दी) से प्रायः साम्य रखती है। यद्यपि गेल सेल दिस उरबेवल धारि पूर्वी धारि हिन्दी के सामान्य मूलकालीन लकारों के प्रयोग धनेक परों में मिलते हैं। इन क्रियाओं का प्रयोग 'स' लक्ष्य से 'गठ रूप का विषय 'र' में परिवर्तित हो गया है जिसका व्यापार 'स' में हुआ है। पूर्वी हिन्दी के वर्तमान काल का यह मैथिली में 'अए' का प्रयोग है कि हम विद्यापति के द्वारा प्रयुक्त कालावय, सुन्दर, बाजए धारि उम्बो में देवते हैं। 'अए' अपने मूल रूप में भी व्यवहृत हुआ है। यथा कएइ पूषह, हेएइ धारि। पूर्वी हिन्दी का हेएइ क्रिया रूप 'अए' विद्यापति के कुछ परों में अपने मूल रूप में ही विद्यमान है। 'शोरन बेचए धरहव जाइव'। इसी प्रकार पूर्वी हिन्दी के विक्रिया के रूप शैल बबहू, सुतनु पर धारि में विद्यापति के परों में अपने मूलरूप ही व्यवहृत है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि विद्यापति-द्वारा रचित परों को संख्या मात्र भी प्रयुक्त है। श्री मन्मथलाल प्ल के संकल में हम २४५ पर मिलते हैं। बाबू चक्रवर्तय-क-द्वारा संयोजित परों को संख्या हमसे कम है। श्री मैथिलीपुरी का संकल इन दोनों

सपत्नों में भी पुत्रक है। मिथिला की स्त्रियाँ विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और मातृत्विक सुधारों के अन्तर्गत पर विद्यापति के कहे जाने वाले जो पर गाठी हैं उनमें कई पर एत है जो संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। बहुत सम्भव है कि विद्यापति के अनेक पर अभी भी अज्ञात हैं। ऐसी स्थिति में हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि विद्यापति के पर गये होने के कारण उनकी मूल भाषा में परिवर्तन होता रहा हो। दूसरे इन परों की रचना मात्र स लगभग पाँच मी रूप पर हुई थी। अतः इस शीर्षावधि में भी विद्यापति द्वारा प्रयुक्त 'मैथिली' का रूप एक ही मीमा तक अन्तर्गत देख सकते हैं। विद्यापति ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह भाषा के अन्वेषण में पूर्ण सहायक और शृंगार रस की अभिव्यक्ति के अनुकूल है। कवि ने अपनी भाषा में मूहाबरो और लोकविद्या का प्रयोग भी अत्यन्त किया है। लौंड मुरस रचिओर त्रिउ कांन सोनुम बरन मिरा धारि ऐसे ही मूहाबरो हैं। विद्यापति द्वारा प्रयुक्त कुछ लोकविद्याओं का प्रकार है —

हाथक काँगन अरमा काज ।
 भमरा मर मजिगि न मांग ।
 रूप न आयण पथिक के आस ।
 रूप क माया दूता भद्र ।
 भेक न पिदाए कुमुम मकरद ।
 धानर फटे की मातिय हार ।

गीतिकाव्य के जनक

भारतीय साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा वैदिक काल में लक्ष्मी आ रही है। 'अय्ये' इस काल का प्रथम गीतिकाव्य-ग्रन्थ है। इसके परचाणु नामक की रचना भी गीतिकाव्य के ही रूप में ही हुई। अतः में यह शैली मभवन उन लोकगीतों में अद्यत की थी जो इनकी रचना के पूर्व तत्कालीन जनभाषा में प्रचलित थे। कुछ समय के परचाणु य पीत कुछ जन-अनुदायी की ही अल्पति बन गए और इनके मात वाले जन-अनुदायी नामक धारि बहुमान लगे। यह वैदिककाल में अत्यन्त होनेवाली गीतिकाव्य-परम्परा बरनक अत्यन्त एत प्रमाणों के अन्तर्गत में कहना कठिन है। हमें इनके स्पष्ट अन्त एक शीर्षावधि के परचाणु अय्ये की रचना में ही होते हैं। इस अर्थ अय्ये के गीत गीतिकाव्य का अत्यधिक महत्व है। अय्ये के अन्तर्गत के प्रथम कवि हैं जिन्होंने मुक्तियों में राधा-अर्पण की शृंगारिक मीमाओं का अत्यन्त में गान किया। वे गीत गीतिकाव्य के अन्तर्गत पर मने हुए हैं और मात्र भी इनमें लक्ष्मी लोच है जो उनके रचना-काल में था।

हिन्दी-साहित्य के आदिमान में हमें बोमनदेव राघो घातहृदय आदि प्रबन्धात्मक गीतों के रूप में मिलते हैं किन्तु वे अवदेव स मुक्तक गीतों से सर्वथा भिन्न हैं। अवदेव के परमात् विद्यापति ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने मुक्तक गीतों में काव्य-रचना की है। इस दृष्टि से विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतकार तथा हिन्दी-साहित्य में घोषिकाव्य की परम्परा को जन्म देनेवाले कहे जा सकते हैं। अजकाम्य के मायक महाकवि सूरदास इसी परम्परा के द्वितीय चिरस्मरणीय गीतकार हैं।

मूर का भक्ति मार्ग

महामारग के शांति पत्र में बतलाया गया है कि सबसे प्रथम भगवान् ने मारव को भक्तिमार्ग का उपदेश दिया था। इनके परबान् इस मार्ग का रहस्य विवस्वान् ने मनु को बतलाया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बतलाया। इसके बहुत समय के परबान् भगवान् ब्रह्म ने ज्ञान सत्ता धनुष को इस भक्तिमार्ग या उपासना-धर्म का उपदेश दिया जो श्रीमद्भगवद्गीता के अनुपम धर्म्याय में देला जा सकता है। भगवद्गीता में ब्रह्म के त्रिसु स्वरूप का ब्यथन है, वह पूर्वनिष्ठा बहुत व्यापक है। वह ऐसा स्वरूप है जिसमें लोक-मयस और लोक-रक्षण की सामर्थ्य है और शक्ति शीघ्र शीघ्र ऐश्वर्य प्राप्ति से विभूषित है। सामर्थ्य में शक्ति ब्रह्म का भी यही स्वरूप है।

महाकवि मूरदास का 'मूरसागर' नामक के पाचार पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इस लिए महाकवि मूरदास ने भी ब्रह्म का वही स्वरूप ग्रहण किया और भगवान् ब्रह्म को अपनी उपासना का केन्द्र बनाकर वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। वास्तव में वेदों की ऋचायामा में वर्णित सिद्धान्त ही वैदिक धर्म के प्रकार्य प्राधान्यों द्वारा प्रचारित हुए हैं। कास और स्थिति के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हुआ आवश्यक है। सबसे प्रथम दृष्टि से भगवान् ब्रह्म ने वैदिक सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन कर मूरदासीन वैष्णव धर्म का शिष्याग्रास किया। पर भगवान् ब्रह्म का ही वैष्णव धर्म का सबसे प्रथम प्राभाव बहुत अनुचित न होगा। धार्मिक और ऐतिहासिक अनुसंधानों के अनुसार वेदों और संहिताओं की रचना मिश्र-मिश्र काल में हुई। उदाहरणार्थ-मनुवेदसंहिता में कृषी नामक राक्षस का ब्रह्म द्वारा बध हुआ का उल्लेख है। इसमें इस संहिता का ब्रह्म धर्म के परबान् सिद्धा जाया प्रमाणित होता है।

श्री मनुभगवद्गीता भगवान् ब्रह्म की विरवमाय्य और स्तुत्य रचना है जिसमें उहाले निष्काम साधना को ही विशेष महत्त्व दिया है। नदरी दृष्टि में मूलि प्राण करण के लिए बर्ष में निरपक बन्तु है। किसी भी ब्रह्म का व्यक्ति मापना और ज्ञान-ब्रह्म के द्वारा मोक्ष का धर्षिकारी हो सकता है। उन्होंने धर्मात्मिक पर जोर देकर अतीतिरु सन्तति की प्राप्ति को ही प्रधानता दी है। ये ही सभी बातें हैं जिससे हम भगवान् ब्रह्म को वैष्णव धर्म का प्रथम आचार्य कहते हैं। मूर के भक्ति मार्ग में भी इसी भाग का उल्लेख है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये—

काहू के बुझ तन न विचारत ।

अविगत की गति कहि न परत, व्याध अज्ञामिज्ञ सारत ।

कौन भी जाति अथ पौति बिदुर की, चाके गृह पग भारत,
मोहन करत तुष्ट धर उनक राममान मंग टारत ।
ऐसे ज्ञान करम के आछे, ओछे ही अनुमारत
पह स्वभाव सूर फं प्रभु का, भक्त बखल प्रत पारत ॥

इस प्रकार निराकार ब्रह्म को साकार का रूप देकर उसकी उपासना का उपदेश देना भक्ति-मार्ग का मुख्य उद्देश्य हो गया । यद्यपि वैदिक साहित्य में वैष्णव धर्म का ऐकात्मिक निरूपण ही किया गया है, तथापि पुराणों और महाभारत की रचना के परभाव वैष्णव धर्म का स्वरूप ग्रहण गया और वह अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया । वैसे कि पद्मपुराण के निम्नांकित श्लोक से मान्य होता है—

रामानुज ओ स्वयंके मध्याधाय विष्णुमुत्तमः ।
आ विष्णुस्वामिन उद्भो निम्बावित्य अतुम्भनः ।

इस श्लोक के अनुसार रामानुज मध्याधाय विष्णुस्वामी निम्बार्क वैष्णव धर्म के साधार्य हैं । प्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने जिस धर्म का प्रचार ब्रह्मण्डल में किया उसी धर्म के सिद्धांतों को किचित् परिवर्तन के साथ वैष्णव धर्म के धर्म साधार्य मध्याधाय विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने स्वीकार कर प्रचार किया । इनमें से निम्बार्काचार्य और विष्णु स्वामी ने मयवातु इन्द्र की उपासना पर ही विशेष बल दिया और उत्तर भारत में इसका प्रचार किया । बल्लभाचार्य विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे । महाकवि सूरदास भी भी इन्हीं के अनुयायी थे । यही कारण है जो उन्होंने बल्लभाचार्य के द्वारा निम्बार्काचार्य और उपदेशों को अपनी रचना का आधार बनाया । इससे स्पष्ट है कि स्वामी रामानुज का भक्तिमार्ग ही सूर का भक्ति-मार्ग था ।

वैष्णव धर्म की भी परम्परा हमारे देश में प्रचलित रही उसमें ज्ञान और भक्ति के पृथक्-पृथक् स्थान रहे । इसीलिये हमारे यहाँ धर्म के अर्थ में ज्ञानी और भक्त भी पृथक्-पृथक् रहे । गीता के शब्दों में उक्त से ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करने वाले ज्ञानी और हृदय-यत्न को लेकर भक्तान् की उपासना, ध्यान भजन करने वाले भक्त कहलाते । रामानुज विष्णु स्वामी निम्बार्काचार्य रामानन्द आदि साधार्य धर्म ही ज्ञानी रहे हों पर उनके अनुयायी तुलसी सूर कबीर आदि भक्त ही थे । इन्होंने ब्रह्मज्ञान के किरी उद्भव का भी उच्चाटन नहीं किया इन्होंने सर्वत्र देव उपासना भक्ति के द्वारा ब्रह्म के मूर्त उपास्य-स्वरूप का ही साक्षात्कार करने

का प्रयत्न किया। मक्त को इसी भक्ति के द्वारा भगवान् का स्वरूप प्रबिक्रमिक स्पष्ट होता है। जब वह इस स्थिति को पहुँच जाता है तब वह 'मक्त' से 'आमी मक्त' हो जाता है। भक्तिमार्ग के अन्त में आमी मक्त स्पष्ट माना गया है। इसका कारण यह है कि आमी भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तो प्राप्त करता है पर वह उस ज्ञान से उत्सव रहता है और आमी मक्त ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करनेवासी एक-एक बात पर मुग्ध होता हुआ भाव बढ़ा जाता है और अंत में उसके स्वरूप में ही आरमभक्त हो जाता है। अपनी मूर्च्छा उता को उसी में डुबा देता है। यही मक्त की सर्वोच्च अवस्था है।

भारतीय भक्तिमार्ग केवल प्रथमार्ग है इससे किसी असीमितता या रहस्य का स्थान नहीं। भागवतकार ने भक्ति के दो विधान बतलाये हैं—

अध्या, कर्त्तन विष्णो, स्मरण, पादसेवनम्
अर्चन, वन्दन, वास्य मन्थ, आरमनिचन्दनम् ।

भारतीय भक्तिमार्ग के कवि मूर तुलसीदादि की भक्ति में भी हम ये ही विधान पाते हैं। संक्षिप्त में भारतीय भक्ति-मार्ग का स्थापना का आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका बलि है और इसकी पद्धति सहज प्रेम-व्यक्ति है।

मूरकालीन भक्ति-मार्ग की दो शाखाएँ थीं। भारतीय समाज का एक भाग भक्ति के प्राचीन सोरु-धर्माधिक स्वरूप का मानता था और समुच्च उपासना का सममन था और दूसरा भाग अज्ञ के सोरु-धर्माधिक स्वरूप से विरक्त उदासीन और उत्कासीन सामाजिक परिस्थिति के प्रतिकूल एक नया मार्ग खोज रहा था। यह भक्ति-मार्ग का द्वितीय विभाग स्थापित हो नहीं था, पर मुसलमानों के विशेष सम्पर्क में बदल गया। यही कारण है कि यह विभाज्य मुस्लिम भक्ति-मार्ग के धारण करने में प्रथम रहा। मुस्लिम अज्ञ-मार्ग से प्रभावित होकर कारण इसके उपदेशकों को जनता की ब्रह्म के उक्त स्वरूप से परिचित न कर सकें जो शक्ति साहस और धारण न मान प्राप्त या उपा या धरवाचारिया के अन्त में समन था।

प्रथम शताब्दी के भक्तिमार्गी निराकार शक्त को उपासना से संतुष्ट होनाबल न था। उनकी भक्ति का आधार बिना हानि पैर, मुँह और धारण वाला ईश्वर नहीं बल्कि ईश्वर का वह स्वरूप था जो जन-सभा, धर्म-सभा और लाज-रंजन के लिए, विश्व में अक्षय होना था। उस समय की सामाजिक स्थिति ही ऐसी थी जिसमें निराकार ब्रह्म और ईश्वर की अर्था करना निराकार और शक्तिबोध भारतीय समाज का और भी अधिक निराकार करना था। विश्व की निराकार और आदर को पाना का बुलबुला

बतमाकर वैराग्य भावना द्वारा समाज को निस्संसाह, अकम्बल और पुंस्वहीन बनाने वाले प्राचीन धर्म भी सड़कों-सड़कों बूमते बुद्धिगोचर होने पर इस प्रकार के विनाशकारी उपदेशों को न उस समय आवश्यकता थी और न आज आवश्यकता है। गुरुवास भी ने भी इस वैराग्यमूसक भक्ति-मार्ग पर वृष्टिपाठ न कर प्रथम शाखा के भक्ति मार्ग को ही अपनाया और अपने भक्तिपूज्य काव्य-ज्ञान द्वारा अथवा भारतीय समाज को हृद-भरा पुष्पित और पस्मभित करने का प्रयत्न किया।

सूर द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित भक्ति-मार्ग इस देश के लिए कोई नया न था। सामवेद में बनेको मंत्र इस मार्ग की प्रवृत्ति में लिखे मिलते हैं। बीड़ बम की महापान शाखा भी इसी भक्ति-मार्ग का अनुकरण करती है। बीड़ बम प्रचारकों ने भी तीर्थंकरों की भक्ति को प्रभावता दी है।

मुसलमानों के लगातार संघर्ष के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों की भक्ति का प्रवाह कुछ समय के परबाध गया और यमुना के संगम की तरह मिस गया। हजरत मोहम्मद ने जिस एकेबरवाद का प्रचार किया वह ईरान के सुप्रसिद्ध मुस्लिम सत हुस्नाब के प्रयत्न से सूफ़ी बम में परिवर्तित हो गया। सूफ़ी बम के सिद्धान्त के अनुसार उप-द्वारा आत्मा की शुद्धि हो जाने पर उपरकी के शरीर में ईश्वर की धारणा प्रवेश करती है और उसके समस्त काम ईश्वर की तरह ही होने लगते हैं। इस अवस्था में भक्त और भक्तान् की निम्नता मिट जाती है।

यह सूफ़ी बम मुसलमानों के धर्म धारण में आया। यद्यपि भारतीय इतिहास के पृष्ठ मुसलमानों के अत्याचारों से भरे पड़े हैं तथापि अभी मुसलमानों को अत्याचारी समझना अनुचित होगा। जिस कुरान में तलवार के बल पर धर्म-प्रचार करने की आज्ञा है उसी में विरह-मीमी का भी आदर्श है। स्पेन के मुसलमानों 'मुरा' का इतिहास हमारे सामने इस्लाम धर्म के त्याग विरह प्रेम और विरह-बन्धन का आदर्श उपस्थित करता है। इन मुरों ने ही यूरोपीय इतिहास में प्रथम-मुग़ल से उस महादेश के कोने से आठि सेद की विनाशकारी भावना का घट कर लाल का आसोक पैसाबा था।

तेरकी सत्ताधी में मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार करने में कुछ सख्त न रखा। पर इसके पश्चात् ही उन्हें मानुस हो गया कि भारत की प्राचीनतम सम्पदा आदर्श और बम को मिटा देना उनकी शक्ति के परे है। अतएव उन्होंने अत्याचार बंद कर हिन्दुओं से स्नेह-संबंध स्थापित करने में ही अपनी सफलता समझी। इस प्रकार ईश्वरी सत्ताधी के अंत तक मुस्लिम अत्याचारों का अंत हो गया और उसके पश्चात् जो औरदरेकी शासनकाय के अतिरिक्त हमें और कभी मो हिंदू

मुस्लिम बुर्जावता बिलाई म नी । इत चीनों काठियो में बीरे-धीरे इनका स्नह बढ़ गया कि उन्होंने अपनी भाषा मध्यता धारि म बिनिमय धारम कर दिया । वो मध्यताओं के सपक म तत्कालीन मध्यता एक नये रूप में परिवर्तित होने लगी है । यही बात १५ वीं शताब्दी के परचाए भी हुई । हिन्दुओं में एकरबराबर और मुसलमानों में सूफ़ी धर्म की प्रवृत्तता दृष्टिगोचर होत ३० भी वे लोफ रखा और लोफ-उत्पन्न के धारसों का धडा की दृष्टि से देखते थे और न्याययुक्त राजमत्ता धोरता और लोफ धनुरंजनकारी पेशव में वे ईरबत की लोफ गन्धिस्त्री शक्ति को देखते और इस रूप म ईरबत की स्तुति भी करते थे ।

बस्मनाचाय, रामानन्द, वैजय महाप्रभु आदि धर्मोपदेशका न मूरदास के बहुत पहिले ही शानि-युग को हिंसाहीन वैष्णव धर्म क प्रभाव से समस्त देश को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था तथापि धर्म शाखा और धर्म मार्गों उनके बिटोषी थे । बिडालों की दृष्टि में शासन और धर्ममार्ग विरिध हिंसावर्ति लक्ष-मत्र आदि धर्म बिगड और त्वाभ्य थे ।

मुसलमानों पर इय प्रम-भक्ति प्रथाय वैष्णव धर्म का धर्म प्रभाव न था, बरन् यों बचना चाहिए कि उनका मूठं धर्म एक प्रकार से बदायत और मस्तिमाय का निषण्य हो था । सूफ़ी धर्म में साधार उपासना की ही प्रथासना थी । वे ईरबत का धर्मत शक्तिशाली और असह्य मुग्धा का धारणा मानत थे । एक समय का जब समस्त इस्लाम सभार में सूफ़ी धर्म का हा बोध-बाला था । मूठ धर्म का बटूर अनुयायी समूर हस्माय शूनी पर बड़ा किया गया पर धनहनक की ध्वनि पूबवत् ही निनादिन होती रही ।

वीरबरो एकरबराबर मोनोवीजम और मुक्तिधों के धर्मवाद "मोनीजम" में बहुत कम धंतर था । हम दूररे शक्य म एकरबराबर को स्पष्ट दखदाद धीन धर्मत त्र को मुग्ध बखबाद बढ़ सकने है । धीर भी मग्ध रहना में बहा जा लजना है कि मष्टि का उत्पन्न करने पालन करत और लय करत की शक्ति मग्ध बाने परमेश्वर को मानना एकरबराबर और दूरय बिदध न धनस्तल म उनके मध्य लय का दृष्टिगोचर करना धर्मवाद है । इमी धारणा क धनुमार मूरिया की मनागति निगुण निराधार बख की धीर प्रवृत्त न धीर उनके म्पन्न भाषाम की धीर प्रवृत्त हुई । एकरबराबर के धनुषाधी शेष ईरबत की प्रवृत्ति को धन-धनक मानने है पर धर्मधारी मूठ शूद्र धाम-उत्प के धनिरिध कुल भा लगी मानत । उनकी दृष्टि म आत्मा धीर है बर में भी को बिदध धंतर नहीं है । धर्मका । धर्म शक्ति म एकरबराबरों की लच्छ किनी धर्मधर्म की मध्यमता धारणक लगी मानने थे । यही

कारण है कि कट्टर मुसलमानों की दृष्टि में एक सूफ़ी और एक शक्ति में कोई अंतर नहीं था। इसी सूफ़ी धर्म में भारतीय भक्ति-भाव पर भी बहुत प्रभाव डाला बल्कि यों कहना चाहिए कि उसने भारतीय भक्तिभाव को भारतीय और प्राचिन धर्म-दृष्टि के आधार पर आधारित रखने हुए अपने रंग में रंग कर एक नय रूप में परिवर्तित कर दिया। यही रूप मुरकामौल भक्तिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है।

जादविग ब्रैस कुछ पारंपारिक उक्तवैतानों की वारसा है कि भक्तिमार्ग का जन्म सबसे पहले ईसाई धर्म में ही हुआ था और आगवत सम्प्रदाय की प्राचीनता प्रमाणात् हा ज्ञान पर भी कुछ मात्र धर्मों तक इसी प्रकार की हठधर्मों का रहे है पर सत्य तो यह है कि भक्तिमार्ग भारतीय धर्म-धर्म का देन है और यही से उसका प्रवाह अगम धर्म दर्शों में प्रवाहित हुआ। पर भक्तिमार्ग की धार्मिकता होने पर भी मानव-मानव के पारंपरिक व्यवहार में धर्मियता होनेवाली तथा भोक रचय और लोक रक्षण का सामर्थ्य रखने वाली शक्ति की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। अतः धर्म का प्रभाव ने निराकार निगुण ब्रह्म को उपासना को सकार ब्रह्म की उपासना के रूप में परिवर्तित कर दिया और इस तरह मुसलमान सत्ता के द्वारा भी भक्तिमार्ग का प्रचार आरम्भ हुआ।

सूफ़ी धार्मिक धर्मों की वारसा मानते हैं—शरीरगत तरीकत मार्फत और हकीकत। इनको हम भारतीय भक्तिमार्ग की दृष्टि से कमकाबल उपासना का एक ज्ञान कथक और सिद्धांतस्वा कह सकते हैं। इस तरह मुरकामौल भारत में सूफ़ी धर्म और भारतीय भक्तिमार्ग दोनों का प्रवाह तथा यमुना की तरह प्रवाहित हो रहा था।

अब देखें कि भक्ति क्या है उसके मुख्य भेद कौन-कौन के हैं और पूर की भक्ति किस प्रकार की भक्ति समझी जानी चाहिए।

‘भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे’ के अनुसार ईश्वर में प्रकृत अनुभाव को भक्ति कहते हैं। यही ईश्वर का मतलब आराध्य समझना चाहिए चाहे फिर वह साकार हा या निराकार। रामचरित-मानस में जोश्यामो तुमसोबास भी ने गढ़वा भक्ति का उन्मेष किया है जो भक्ति के दो मुख्य प्रकार बीबी और रागातुगा के अन्तर्गत था जाती है। बीबी भक्ति शास्त्रीय विधि नियम का अनुसरण करती है किन्तु रागातुगा प्रेम का अनुसरण करती है। महाप्रभु वैष्णव के अन्तर्गत य बीबी भक्ति को, रागिष्ठ रूप, रागातुगा को प्रेम के प्रवाह में स्वर्तवतापूर्वक प्रवाहित होनेवाली निर्बंध भक्ति कहा है।

महाकवि सुरदास भी रागातुगा भक्ति के अनुयायी थे यही कारण है जो हम उन्हें उपास्य के रंग में रंगकर भावना को बाध में निबंध प्रवाहित होते देखते हैं।

जिस प्रकार भक्ति को सर्वोत्कृष्टता पर पहुँचने के पहले प्रथम, फिर छात्रक और इसके परचात् सिद्ध होना पड़ता है उसी प्रकार वैश्व भक्ति के सीमित स्तर में बंध होने के परचात् ही कोई रागानुया भक्ति में प्रवाहित होने में समर्थ हो सकता है।

शास्त्रकारों ने रागानुया भक्ति के भी दो प्रकार बतलाये हैं। प्रथम बामरूपा और द्वितीय सम्बन्धरूपा। जब वासार्थों की मगधान् दृष्ट के प्रति जो भक्ति थी वह बामरूपा भक्ति थी 'किन्तु सूर' की मगधान् में जो भक्ति थी या मगत की अपने उपास्य के प्रति जो भक्ति रहती है वह सम्बन्धरूपा भक्ति है। कुछ वासार्थों के मगधानुसार वैश्व भक्ति प्रेम का मर्यादित स्वरूप और रागानुया उसका अनमर्यादित स्वरूप है।

भक्ति को दो घटाबाण होती है—प्रथम भाव और द्वितीय प्रेम, पर दोनों व्यवस्थाया का परस्पर पलिष्ठ सम्बन्ध है। पलिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं बरन् द्वितीय व्यवस्था का जग ही प्रथम व्यवस्था से हाता है। जिस प्रकार प्रकाश के लिए सूर्य का होना आवश्यक है उसी प्रकार प्रमात्पत्ति के लिए भाव का ज्ञान आवश्यक है। जब भाव की निरंतरता प्रगाढ़ हो जाती है तब बड़ी प्रेम के रूप में बदल जाती है। मुरबान भी इससे सहमत नहीं है। वे प्रेम को भाव से उत्पन्न नहीं बरन् प्रेम ही से उत्पन्न मानते हैं; जैसा कि उनको निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट होता है

‘प्रम प्रेम सौ होय, प्रेम सौ पारहि जैम,
 प्रेम बँध्या संसार, प्रेम रमारथ पैय ।
 एकै निरखय प्रम का, जीवन मुक्ति रसाल,
 साधो निरखय प्रेम को, जिहि नें मिलें गावाक्ष।’

या बरचभावाय ने जिन भक्ति-भाग का मूखवात किया वह पुष्टिभाग के नाम से प्रसिद्ध है। उनका 'पुष्टिभाग से तात्पर्य प्रमभाग से ही था। वे शब्द प्रेम को ही 'पुष्ट पुष्ट' मानते हैं जैसा कि उन्होंने 'पुष्टि प्रवाह मर्दान' की निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है—

पुष्ट्या विमिमा रुचताः प्रयाहण क्रियारता ।
 मयाद्या गुणशास्त्र शुद्धा प्रेमान दुस्तमा ॥’

इसमें स्पष्ट है कि जो बरचभावाय के अनुसार उपास्य के प्रति शुद्ध प्रमाभिन्धन हो पुष्टिभागीय भक्ति व्यवस्था उपासना का माध्यम है। ये गोविन्द को शुद्ध प्रमाभिन्धन का प्रतीक मानते हैं इनलिए उग्टाने गोविन्दों की पुष्टि का अगली मालकर उनकी प्रमाभक्त मायना का ही पुष्टिभागीय

भक्ति का माधन कहा है ।' यही पुष्टिमाय महाकवि मूर का भक्ति-नाम है । विरुद्ध प्रेम भाव-स्वभाव होता है और इस भाव को प्राप्त करन का साधन द्विचारमक विद्यन है । श्री कस्तमभाषाय ने भी गोपियों को हीन धरियों में विभावित कर पुष्टि के हीन प्रकार बतलाए है । उनके मतानुसार कुछ गोपियाँ ऐसी हैं जिन्होंने लोक-मर्त्या का त्याग कर धनन्य भाव से कृष्ण की भक्ति की है वे 'गोपांगना' हैं । इनके भक्ति-नाम को उन्होंने 'पुष्टिमाय' कहा है । यह स्वकीया भाव की सेवा है । मूर ने इस कोटि की भक्ति का बखान इस प्रकार किया है —

“मञ्जि मसि भाव भाषिक बंध ।
 कांति साधन करी कोऊ तठ न पाने सेव ॥
 धूमकेतु कुमार मरिया कौन मारग प्रीत ।
 पुठप तें त्रिय भाव तपस्यो मयै बड्ढी रोति ॥
 बसन भूपन पलटि पहरें भाव मा सजाय ।
 लखति मुद्रा वई अकन बरन सूखे हाय ॥
 बेव बिधि कीनेम नहिं जहा प्रेम की पहचान ।
 प्रजवषू बरन किए मोहन सूर चतुर सुजान ॥

श्री घाषाय ने परकीया भाव से भक्ति करनेवाली गोपियाँ की गोपी प्रकथा कुमारिका कहा है और इनकी भक्ति को 'पुष्टि मर्त्या' कहा है । इस धरणी की भक्ति पर मूर का यह पद देखिए—

‘पलक धोत नहिं होत कन्दाइ ।
 पर गुरुजन बहते बिधि त्रामत छाज करावत स्वाज न भाई ॥
 नैन जहाँ दरसन हरि अयन खबन बके मुनि बचन सुहाई ।
 रमना धीरे कष्ट नहिं भासत, स्वाम स्वाम रट रह जगाई ॥
 बिचत अपख से नहिं मग डाकत, लोक छाज मरजाव मिटाई ।
 मन हरि लियो मूर प्रमु तब हा, तन बपुर की कहा बसाई ॥’

हीन प्रकार की गोपियाँ वे हैं, जिन्होंने दास-भाव से कृष्ण की उपासना की है । इन्हें कस्तमभाषाय ने 'बजांगना' कह जन्हे 'पुष्टि मर्त्या' रूप माना है । इस धरणी की गोपियाँ की भक्ति का बखान मूर की निम्नादिष्ट पंक्तियों में देखिए—

“यनी सहज यह छट हरि केमि गोपिन के सपुने यह कृपा कमला न पावे ।
निगम निघार त्रिपुरारिहु विचारि रह्यो पच रह्यो सेस मडि पार पावे ॥
किन्नरी बहुर अस बहुर गघघनी, पनगनी बिनवन नही मांगु पावे ।
देवि करतार बे लाल गापाल सो, पकरि ब्रज बाल कबि क्यों मचावे ।
कोठ कई ललन लेला मोर फैसे नचें, कोठ कई भ्रमर कैसे गुजारें ।
कोठ कई पौरि खरी दौरि आवहु लाल रीमि मोतिन के हार चारें ॥
जो कहु कई ब्रजबधू सोई माई करन, तोतर यवन बोलत सुराधे ।
रोष परत बस्तु जय भारी न उठ सष शूक सुत जननी उर सौं लगार्ये ॥”

मन्त्र को मन्त्र उपास्य की प्रत्येक बन्धु धीर श्रीश मयूर जान पवती है ।
जो बन्धुभावाय वे धरने ‘मयुराष्टक में लिखा है

‘अधर मयुर वदन मयुर नयनं मयुर ह्राम्त मयुरम् ।
हृदय मयुरं गमनं मयुर मयुराधिपतरन्विक्र मयुरम् ॥”

धरने उपास्य की इस मन्त्रापी और मन्त्रीगण मयुराई पर मूर क द्वारा लिखे
पद हमें मूरमागर क स्व मन्थान पर मिलने है । मूर ने वह माधुर्य-भक्ति बना
धाम तबन्ध भाव से कही सन्ध भाव से कही वाग्मय भ ब म और कहा प्रेम भाव
से व्यक्त की है । उदाहरण य य पन् देखिए

दास्य भाव—

अपना भक्ति द भगवान
कोटि लालष आ त्रिशामहु नाहिने र्षि आन ।
आ दिना से अनमु पायो, वही मेरा राति ,
विषय विष हठि स्वात, नाही हरत हरत अनीति ।
धरु किंकर जूय जम के, टारे टरत न नष्ट ,
नरक रूपनि जाइ जमपुर, पर्यो बार अनक ।
महा माचल मारिषे की, सजुष नाहिने मोहि ,
परयो हौं पन क्षिप दार, लाज पन की मोहि ।
नाहिने साधा कृपानिधि, करो कहा रिमाइ ,
मूर तपहुं न हार छाड़े, डारिही बुकगइ ॥ १ ॥

सत्य भाव —

आत्रि हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै इनही के तुमही मापव, अपुन भरोसे करिहौं ।

हैं तो पतित सात पीढ़ि को पतिते हैं निस्तरिहों ।
भव हों उपरि नभनि नाचत हों, तुम्हें विरह बिनु कगिहों ॥ २ ॥

वास्तव्य भाव —

कहन क्षरो भाहन मैया मैया ।

पिता नंद सौ याबा अरु हलनर सौ मैया ॥
ऊँच खदि खदि कृति असोया ले ले नाम कन्हैया ।
दूर कहूँ अनि आहु लखा रे, मारगा काहु को गैया ॥
गोपी खास करत कौतूहल पर पर लेत बलैया ।
मनि लामन प्रतिबिम्ब बिलो हत, बचन कथर निज पैया ॥
नंद असोयात्री के करतें यह खनि अनत न जया ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरम को चरनन की बलि प्रइया ॥३॥

सम्बन्धका मन्त्र में उपयुक्त तीनों भावों की प्रधानता रहती है पर अब सचारा क सम्बन्ध में वैयर्थ्य उत्पन्न होकर एकमात्र प्राप्य की महानता में भक्त अपने प्राप को बुझा देता है उस शान्त रस का अंग होता है जो अनन्य व्यक्ति का एकमात्र प्रतीक है । उसी शान्त रस में सराबोर होकर 'भक्ति रसमृत सिंधु' का प्रयोग कहता है—

कदा रास द्रुमा प्रयुक्त बितपी काडबसति—
घसाना कौपीन रचित फल-कवारान-रुषिः ।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्वानिव महः ।
विद्वानन्दबधो ताः क्षयमिष हि नेष्यामि रञ्जनीः ।

यद्यपि हम पदों की क्रन्दन से किसी वृक्ष की कोटर में बैठकर कौपीन धारणकर फल-कवार का भोजन कर अपने हृदय में उस मुकुन्द की चिन्तन व्योमि का ध्यान करते हुए रस का दृष्ट को तरह व्यतीत कर देंगे ।

अब मानव-हृदय विश्व की उलझनों से व्यस्त हो जाता और अपने हृदय की शान्ति के लिए विश्व से कोई उपकरण प्रयत्न बाजार नहीं देखता अब वह उस महान् सच्चिदात्मा परमेश्वर को अपने जीवन का एकमात्र आधार बना लेता है और बार-बार अपने द्वारा किए गए अपराधों और पापों के लिए परमात्मा न कर उनसे क्षमा-भाषना करता है । यही भक्त के भगवान् के समीप पहुँचने और उसके स्वरूप के दर्शन की प्रयत्नार्थता है । बार-बार इस प्रकार प्रार्थना करने पर उसे पापों और पुष्कलों से दूरा होने लगती है और उसका हृदय परमात्मा की धर्मि में तप कर

विनुड हो जाता है । मन्नाजबि मूर ने धनेक पर इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर लिखे हैं और उन्हें अपनी बोछा पर याकर धाराध्य को गिन्ने का बार-बार प्रयत्न किया है । मूर की दृष्टि में निगुल का उपासना बु माध्य है और इमी'मण व मगुम ब्रह्म की उपासना करना निश्चित करने है—

“अविगत गनि कथु कहन न थाव ।
 क्या गूंग मोठे फल क रम अन्नरगत हं भाव ॥
 परम स्वाठ मयहा जु निरन्तर अमिन भाप उपजाव ।
 मन याना का अगम अगोचर सो जाने जो ब्याव ॥
 रूप देख गुन जालि जुगुनि विनु निरालस्य मन अकृत पाव ।
 सब विधि अगम विषागहि ताते मूर मगून छीला पद् गाव ॥”

‘गारर मक्ति-मूर क अनुमाग मक्ति के स्यारू प्रकार—धोम् गुछ मन्नाम्य सक्ति, रूपामक्ति पत्र मक्ति स्मरत्वासक्ति दास्यामक्ति सक्तामक्ति कालामक्ति वात्मत्वासक्ति आत्मनिबदनामक्ति तन्मयासक्ति और परम विरह-धामक्ति है । अनुमन्त संहिता में शास्त्र वास्य सब, ब रूपल्य और शृंगार भक्ति के प्रकार बतयाए हैं । हम मूर-माहित्य में मक्ति क शास्त्र वात्मत्वासक्ति सक्तामक्ति वात्तामक्ति धारम-निबे दनामक्ति तन्मयासक्ति और विरहामक्ति क रूप म हाते हैं । पुष्टिमाम में दास्यासक्ति का स्थान नहीं है, पर मूर न धारमनिबन्धन क रूप म जो पर लिय है, उनमें अधिकांश दास्यामक्ति के रूप में हा लिखा देने है । यद्यपि मूर न कथा भी कया उपासना पद्धति का उल्लेख नहा किया है, पर उनके साहित्य क अध्ययन म यह स्पष्ट है कि यी ब्रह्मभाष्य-द्वारा निर्देशन उपासना-पद्धति ही उनकी उपासना-पद्धति है । उन्होंने कहा है कि मनुष्य में काम काव, मर सोम मरम धारि का हाता स्वाभाविक है । इन प्रकृतियों पर अधिकार पाना मनुष्य की शक्ति के पर है अतः केवल भयवान् का अनुग्रह होत ही ये प्रकृतियाँ ईश्वर-मुक्त हा उसकी मक्ति की बाधक न हाकर साधक बन जाती हैं ।”

ऊपर मूर-माहित्य में प्रमुख भावनाओं की त्रिज आयतियों का उल्लेख किया गया है इनके अनिश्चित हम मूर के वाक्य में रूपामक्ति भा देखत हैं । उनका उपासक के रूप बचन के पत्रों में मूर की चोपियाँ और राधा र्थ हृदय के रूप पर हा धारकत है । इसी प्रकार लम्ब दरोगा के प्रेम में वात्मत्वासक्ति योधारण और आत्म-वासना के स्नह-बगुन सक्तासक्ति कोबचन-कारण में पूजाराक्ति और गुण विषय के पत्रों में मूरदास की गुण-माहात्म्यासक्ति मिलती है पर उनका सर्वाधिक प्रिय विषय कात्तामक्ति ही

है। सूरसागर में अग्य विषयों की दृष्टि से कोई कम मने ही न हो। पर भक्ति की दृष्टि से हम उनमें एक क्रमबद्धता व्यवस्था देखते हैं। ऊपर हमने 'गारव भक्ति-सूत्र' के अनुसार भक्ति के जो ग्यारह प्रकार बतलाये हैं वे वास्तव में भक्ति-पथ की विभिन्न सीढ़ियाँ ही हैं। जैसे तो उनमें से किसी भी एक सीढ़ी के परम विकास में भक्त भक्तान् को प्राप्त कर सकता है। पर उक्त सीढ़ियों से क्रमशः भागे बढ़कर भी भक्त भगवान् तक पहुँच सकता है। भक्त बुद्धिमाहात्म्य स्मरण आत्म-निवेदन तपस्यता आदि सोपानों से बढ़ता हुआ परम विद्यासक्ति की धारणा को पहुँचता है। सूरसागर में इन्हीं सोपानों से सूरदास भी प्राप्य बड़े ही धीरे-धीरे में वे योगियों की परम विद्यासक्ति से आश्वासन स्थापित कर अपना अस्तित्व ब्रह्म में विलीन कर देते हैं। यही भक्त का चरम मध्य है।

कबीर की भक्ति-प्रणाली में संयम आवश्यक था और तुमसी को राम भक्ति में सुझाता और वास्तविकता आवश्यक थी पर सूर की उपासना-प्रणाली की कोई भी शक्ति नहीं है। उनकी उपासना-प्रणालि में नीच पतित कमी कुराही वासनासक्त स्वरम ध्वस्वरय सभी स्वाग पा सकते हैं। उनके भक्ति-मार्ग का द्वार सभी के लिए खुला है। ध्यात्मिक में भक्ति की विकास मात्र होनी चाहिए। सूर अपने उपास्य की कभी मित्रते रखते कभी मैत्रीभाव प्रदर्शित करते कभी उनकी क्षमाचुरी का पान करते कभी उनके मुरसीबुल पर लज-मज धारते कभी उनके द्वारा अपने उपास्य को लगे-लगे ही घोर कभी योगियों की विद्व-काठरता से प्रभावित होकर अपने उपास्य को लगे-लगे ही सुनाने सकते हैं पर रखते हैं तथा उनकी ही ओर लिये हुए। यही भक्त की अनन्यता है। सूर की उपासना-प्रणालि की इसी विशेषता ने बहुजन समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।

सूर-द्वारा विकसित भक्ति धामन्वमयी भक्ति है। उसके अंतर्गत में निरय रस का मधुर प्रवाह प्रवाहित होता है। इसका यही प्रवाह बहुमुखी बनता का आकर्षक बन गया। इस उपासना-प्रणालि में लक्ष्मी लमाकर बन में जाने चुनी रमाने योग्य म्मास करने इन्द्रिय-बन्धन की अठोरता दिखाने धरना किसी प्रकार की कृष्णता लाने की आवश्यकता नहीं है। सूर के भक्त-सागर से प्रवाहित करने वाला मनुष्य क्यो-क्यो भीतर प्रवेश करता जाता, त्यो-त्यो अर्थिक माधुर्य प्राप्त करता जाता है और क्यो-क्यो उसमें डूबता जाता त्यो-त्यो वह अपने को अपने उपास्य के अर्थिक निकट अनुभव करता जाता है।

जैसा कि हम पहिले सिद्ध चुके हैं सूर का भक्ति-मार्ग की वस्तुमाध्यम द्वारा

स्थापित पुष्टिमाय पर आधारित है या भ्रम त धोत प्रोत है, भ्रम का सिद्धि का मार्ग बिरह है। यही कारण है कि भक्ति के प्रबन्ध, कीर्तन स्मरण प्रादि सभी साधन बिरहात्मक है। जब भगवान् भक्त को ध्यान बिरह में तड़पता देखते हैं तभी उधे दयालु बेटे हैं। बिना बिरह-बदना के सयोग सुख सम्भव नहीं है। मूर के ये भाव इन पद में देखिए—

‘बिरह बिनु नाहिन प्रीति की खाज ।
 लगे बिनु कही कस आब, इन अँखियन में रोज ?
 जबते दूर भयो नन नन्दन घैरी भयो मनोज ।
 सूरदाम प्रभु निसक जे जन, ते हैं राजा भोज ॥’

पुष्टि भक्ति की तीन प्रवस्थाएँ कही गई हैं स्वरूपासक्ति सीमासक्ति और मायासक्ति। ये तीनों प्रवस्थाएँ मूर के पद्या में देखिए—

स्वरूपासक्ति

“कहु देख्यो माई, श्री गोकुल की वासी ?
 तनिक सो चौसुरी बजाइ बॉस की लै गया प्र न निहासा ॥
 देख्यौ होय ती विस्वास सखीरा, अँखियों रूप की प्यासी ।
 सूरदाम प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, मेरा मरन जग हासा ॥

सीमासक्ति

“बकई रा बलि चरन प्ररोपर, जहाँ नहि प्रेम बियोग ।
 जहाँ भ्रम निसा होत नहि, सो सायर सुख योग ॥
 सनक से डंम, मीन सिव मुनिजन, नख रधि प्रभा प्रकाम ।
 प्रफुलित कमल मिमिप नहि मसि डर, गुधत निगम सुषाम ॥
 अहि सर सुभग मुक्ति मुछाफल, बिमल सुकृत बल पाये ।
 मो मर लौंकि क्यों कुमुदि विहगम नहों रहे कहा काजे ॥
 लक्ष्मी माहिन नित्य क्रीडत सोमित सूरदाम ।
 अप न मुहाय बिषय रस द्विस्तर, वा ममुद्र का वास ॥

मायामक्ति :—

“भाव बिनु भाज नका नहि पाये ।
 भाव बाज भक्तन को सर्वस भावहि हिरवे प्याये ॥
 भाव मक्ति सया मुभिरन करि पुष्टि पय में धाये ।
 मूर भाव मयही को कारण, भावहि में हरि धाये ॥”

के भक्त थे, पर भक्ति के बाह्यद्वारों में विरवात न करने थे ! उनकी दृष्टि में वाति भेद और वय-भेद का भी भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था । उदाहरणार्थ निम्नोक्त पंक्तिमाँ देखिए—

राम भक्त-वरसल निज जानो ।

जाति गौत कछ नाम गनत नहिं रक होय के रानो ॥

ब्रह्मादिक सिब कौन आति प्रमु हौं अजान नहिं जानौ ।

देता अहाँ, तहाँ प्रमु नाही, त्यो देता क्यों मानो ॥”

सर्वगति भी भक्ति का ही एक रोग है इसलिए मूर ने सर्वगति को बड़ी प्रशंसा की है, पर उनका यह भी मत है कि स्वाभाविक मूल उपदेश यथा वास्तविकि से भी नहीं सुपर सम्झना बीना कि इन पंक्तिमाँ प्रकट है —

‘सखा मन हरि विमुखन का भग ।

जाक सग कुमुदा सपज, परत भजन में भग ॥

कहा हात पय पान कराये, विप नहिं तजत मुजंग ।

कागहि कहा कपूर जुगाव खान नहाय गग ॥’

मूर अपने आश्रम में ईश्वरवाणी से उन समस्त नामों को प्रशंसित करते हैं जिनका निम्न-निम्न उपासक अपने विरवात और सीमित दृष्टिकोश से स्मरण करते हैं । वे पोस्वामी तुलसीदासजी को तरह ‘तुमना मन्त्रक ठव नई जब धनुष बाण सो ह्यब कहकर जिह नही करते बरतु समी नामों को अपने उपास्य के ही परमिवाणी समझते हैं । उदाहरणार्थ वे पंक्तिमाँ देखिए—

“अथ माधव गोविन्द हरि कृपा सिन्धु कल्याण कस अरि ।

प्रद्युतभास केसव कमलापति कृष्ण कमल लोचन अनन्य गति ॥

श्री रामचन्द्र रामजीव नैन पर, सरण साधु श्रीपति सारगबर ।

अन कृष्ण त्रिशिरा शिर खडक चरख चिन्ह इडक मुझ मडन ॥

रघुपति प्रथम पिनाक विभजन अमहित अनक-सुता ममरजन ।

गोकुल पति गिरिधर गुनसागर गोपीरमन रास रात नभग ।

कहणामय कपि कुल हितकारी पाखि विरोध कपट सुगहारी ॥”

वास्तव यह कि मूर का भक्तिमार्ग व्यापक दृष्टिकोश से पूर्ण था । नाम की विनिमयता का उनकी दृष्टि में कोई महत्व न था । अपने आश्रम की निष्कण्ठ धार से समस्त आराधना करना ही उनका उद्देश्य था और यह कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य-पूर्ति में वे पूजकपेक्ष लक्ष्य भी हुए हैं ।

सूर-साहित्य में सौन्दर्य-भाषना

सूर-साहित्य में सौन्दर्य भाषना का बरान करने के पूर सौन्दर्य की परिभाषा स्वरूप तथा उसका साहित्य के विभिन्न धर्मों से संबंध जान लेना अनुपमोक्त न होगा। गार्टेन सौन्दर्य-शास्त्र के बनरु माने जाने हैं। उनके मतानुसार ठाकुरि ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और साधारणरु ज्ञान का लक्ष्य सौन्दर्य है। सुन्दर मौलिक घादिके मत गार्टेन के मत के प्रतिकूल है। वे कृपा का लक्ष्य सौन्दर्य नहीं पर शिव मानते हैं और इतिहास क उसी वस्तु में सौन्दर्य मानते हैं जो शिव-ममन्वित हो। उनके मतानुसार मानव-बोधन का लक्ष्य ममात्र-कस्याय है त्रिमको प्राणि नैतिक भाषनाओं के संस्कार से ही संभव है। सौन्दर्य इमी भाषना को जागृत और संस्कृत करने का कार्य करता है। इनका दुष्कोष सुन्दर शरीर में सुन्दर घात्मा Beautiful soul in beautiful body के विज्ञान का समपक है। बकेममेत समस्त कृपा का विधान और सत्य केवल सौन्दर्य को मानते और सौन्दर्य को क्व-सौन्दर्य विचार-सौन्दर्य तथा घनिष्कृति-सौन्दर्य के रूप में विभाजित करते हैं। जगत विज्ञानों ने सौन्दर्य को एक ऐसी वस्तु समझ आ निबि कल्प रूप से स्थित है, और न्यूनतमिक प्रमाण में शिव-युक्त है। होम सौन्दर्य उमे मानते हैं आ मुक्त हो घन सौन्दर्य की परिभाषा सचि के घनोन है। क्व विज्ञानों का भी यही मत है। जब सैवक बरुन हई के अनुसार सौन्दर्य बहु है, जो घत्यधिक सुन्दर हो और वही वस्तु घत्यधिक सुयशया हातो है, जो घत्यल्प समय में अधिक प्रजात देने की क्षमता रखती हो। काल के मतानुसार सौन्दर्य बहु है जो बिना किमी तर्क या व्यावहारिक साम के सर्वत्र निरिचय रूप में घातक प्रदान करता है। होम के अनुसार ईश्वर घपने का प्रकृति में व्यक्त करता है और सौन्दर्य के रूप में कृपा में घत्यरित हाता है। वे सत्य और सौन्दर्य को घभिन्न मानते हैं। हाटमेत सौन्दर्य बाह्य संसार में नहीं पर कताकार की प्रतीति में मानते हैं। यंगमेत वस्तुओं के हात्यानोन गुण की सौन्दर्य समझते हैं। तेन के अनुसार सौन्दर्य किमी मनुष्यदुर्लभ विचार के प्रतिपाद लक्षण का बुद्धिम प्रकाशन है।

इस प्रकार "सौन्दर्य" के संबंध में पारबाल्य विज्ञानों के विविध मत हैं। सौन्दर्य की परिभाषा के अनुसार उमठ क्व-विभाजन में भी पारबाल्य विज्ञान् एकमत नहीं है। बरिमतन का विभाजन हम ऊार बना चुके हैं। हमारे विज्ञान में से कई सवोंय सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य और इतिहास सौन्दर्य तथा क्व वस्तु-सौन्दर्य कता-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य के रूप में सौन्दर्य का विभाजन करते हैं। कुछ विज्ञान् बाह्य सौन्दर्य और

सांस्कृतिक सौंदर्य के रूप में उसका विभाजन करते हैं। इस संबंध में भारतीय बृहत्कोष पर हम अपने प्रकाश बालने का प्रयत्न करेंगे। हमारा ध्येय है कि यहाँ सौंदर्य-शास्त्र के विभिन्न धर्मों को सीमासा करना नहीं बल्कि सौंदर्य-स्वरूप को समझ कर उसका साहित्य से संबंध जानना ही है।

सौन्दर्य का स्वरूप

काम्य का रसास्वादन ही काम्यान्व है, किन्तु जब तक सौंदर्यानुभूति न हो तब तक कुछ रसास्वादन में कोई धारण नहीं है। सौंदर्यानुभूति को स्थिति जानने के पूरा हमारा सौंदर्य के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक होता है। सौंदर्य शास्त्रियों के मतानुसार सौंदर्य मोग रूप धीरे धीरे अभिव्यक्ति का समन्वय है। जिस तत्व से वस्तु का कसेबरा का निर्माण होता है, वह सौंदर्य-शास्त्रियों के शब्दों में "मोय" तत्व है। यथा जल से नीमिमा जल में पयोत्सा आदि। जिस तत्व से रस कही जाने वाली वस्तु को आकार प्राप्त होता है, "रूप" तत्व कहलाता है। जो तत्व सुन्दर वस्तु के बाह्य कसेबरा धीरे बृष्टि-पराच्छ होने वाले उसके आकार को विविध अनुभूतियों का स्रोत बना देता है वही अभिव्यक्ति तत्व है। वह अभिव्यक्ति जिसकी अधिक धर्मों धीरे धीरे ध्यात्मव्यक्त स्वरूप की होती है, उसी ही अधिक उसमें सौंदर्य की उन्नता होती है।

एक सुन्दर चित्र देखने पर या मधुर गीत सुनने पर उसकी शक्तिमान अपने लेशो तथा ध्वनिधर्मों की शक्तियों के द्वारा हमारे मस्तिष्क तक पहुँचती है। उसका प्रभाव हमारे शरीर के विभिन्न धर्मों पर पड़ता है और उसमें विकार उत्पन्न होता है। इसी विकार को मानव-शास्त्रियों ने भावना की संज्ञा दी है। पहिले विकार होता है फिर तबनुक्रम भावना होती है। इससे यह स्पष्ट है कि "भावना" मानव-मन से सुप्रावस्था धर्मों धर्मोत्पत्त्या में रहने वाली वस्तु नहीं है, बल्कि उसका धर्म हम प्रतिक्षण होनेवाले ज्ञान से होता है। सौंदर्यानुभूति धर्मों काम्यान्व भी इसी प्रकार का एक मानव-मन में उत्पन्न होने वाला विकार है।

सौंदर्य का प्रथमाधार "मोय" तत्व है। मानव-मन इस तत्व के आस्वादन द्वारा ही सौंदर्यानुभूति प्राप्त करता है। अनुभूत्य स्वभावतः सौंदर्य-धर्म होता है, क्योंकि उसमें सौंदर्य भेदना भी स्वाभाविक ही होती है। वह इसी भेदना के द्वारा मोय-तत्व ग्रहण करता है और रसानुभूति प्राप्त करता है। अति धर्म धर्म स्वर्ण धीरे स्वर्ण अपने प्रभाव से धारण की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। साहित्यकार इनके धर्मस्व द्वारा साहित्य का धर्म करता है इसीलिए साहित्य भी मानवधर्म होता है। वह धर्म धर्मों को धर्मों की शक्ति म विवेक उन्हें न केवल माधुर्य बल्कि विविध धर्मों के धर्मोत्पत्त्या की धर्मोत्पत्त्या भी प्रदान करता है। इस प्रकार वह निर्दिष्ट धर्मों को सौंदर्य प्रदान

कर एक ऐसी सृष्टि की रचना करता है, जिसमें हम घनेक दिव्य बर्णों दिव्य रसों दिव्य गंधों और दिव्य रसों की प्रबाहमयी झीझा देखते और कुछ क्षणों तक उसमें खो जाते हैं— धारम-विस्मृत हो जाते हैं। यह धारम-विस्मृति ही काव्यात्मक प्रथवा सौंदर्यानुभूति का चरम विकास है। यासो समाधि-प्रवस्था में यही स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु समाधिस्थ योधी का ज्ञान प्रथवा मन निर्विकल्पक होता है, जब कि काव्य-सौंदर्यानुभूति सविकल्पक होती है। योधी की अनुभूति में प्रकाश और धारम के धैरिक्त घण्य कुछ नहीं होता जब कि काव्य-सौंदर्यानुभूति में उससे संबंधित घनेक वस्तुएँ होती हैं यथा शृंगार रस में रति-भावना तथा मामक-नायिका-भारतंजन उद्यान चन्द्रोदयदि उर्वरीपन और कटाक्ष स्मित रोमांच आदि अनुभाव होते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने इसे सविकल्पक कहा है।

“रूप” से तात्पर्य संयोजन प्रथवा विन्यास से है। ध्वनियों के संयोजन से गीत को रूप प्राप्त होता है पर स्वयं ध्वनियाँ भी प्ररूप नहीं होतीं। यदि वे प्ररूप होतीं तो उनके संयोजन से निर्मित गीत भी प्ररूप ही होता। अपने मत्तत्व का प्रथम विकल्पने के कारण हम कुछ ध्वनियों को निररूप घने हो समझें, पर वास्तव में कोई भी ध्वनि निररूप नहीं होती। ध्वनिया के घनेकत्व का संयोजन ही वास्तव में एक गीत पर प्रथवा वाच्य है। उसमें घनेकत्व का संयोजन होने के कारण ही हम अपनी बुद्धि के प्रयोग से उसमें घनेक प्रथ पाते हैं। यदि भी प्ररूप है, इसलिए उससे नृत्य की अनुभूति होती है। विविध व्यष्टियों के संयोजन से जित समाधि का निर्माण होता है वही बोधन है। यदि “व्यष्टि” जिनके संयोजन से समाधि का निर्माण हुआ है, प्रथम पूर्वक प्रतिरूप में जो सुरर है तो उनका संयोजित स्वरूप “तमष्टि” भी सुरर होगा। वाचन का निर्माण घनेक सुरर और धारम-प्रवायक प्रथवर्णों से हुआ है, यही कारण है कि हम उनमें भी वर्णान्त सौंदर्य और धारम पाते हैं।

हमें जित वस्तु के रस से सुगानुभव होता है उसे हम “सुररूप” और जित वस्तु के रस से हमें सुखानुभव होता है उसे हम “सुखरूप” कहते हैं किन्तु ये सुख या सुखजनक वस्तुओं के सुख नहीं हैं जिनके रस से उनका अनुभव होता है। किसी वस्तु को देखकर हमें सुख या सुखजनक अनुभव होगा हमारी अनुभूतात्मा के सुख पर प्रथवर्णन है। सामान्यतः बाह्यवर्णनी उपकरणों में निर्मित वस्तु से बाह्य और इनके विपरीत उपकरणों से निर्मित वस्तु-रसन विपरीत प्रभाव वाचा होता है, यथा उद्योग मनुष्य माधुर्य शीमता आदि गुणों से समरिक्त ध्वनि का देखकर हम हृद्य और बुद्ध्या निरमता हृद्यता बुद्धीमता आदि धरनुओं में सुखजनक को देखकर हमें पूषा प्रथवा शान्ति का अनुभव होता है। इन सौंदर्य का प्रभाव से स्पष्ट है—बाह्य सौंदर्य और धारम-सौंदर्य। दूसरे शब्दों में हम बाह्य सौंदर्य को रूप-सौंदर्य और धारम-सौंदर्य को भाव-सौंदर्य कह सकते हैं। सुर-साहित्य में हमें ये दोनों प्रकार में सौंदर्य मिलते हैं। तथा और रूप के रूप-विधान में “धर-सौंदर्य” और धारम-सुख परों में “भाव-सौंदर्य” भी प्रपानता है।

सूर-शाप धर्मिण्यक्त भववान् कृष्ण का जीवन परमोदात्त सौन्दर्य की उत्कृष्ट कल्पना है । उनके अनुपम रूप में प्रेम लावण्य मूल्य संघोत प्रीत्याय शीघ्र विलम्बता सक्रम्य बलवत्तया दया कन्दलासीसता पाणि का अद्भुत सामंजस्य है । इसीलिए भागवतकार ने इन्हें भववान् का सोलह कम्पापूर्वक भवदार स्वीकार किया है और इनमें लोकरथा के बरतन किए हैं । जहाँ वह सौन्दर्य का भागार है, वहाँ उसके हृदय में प्रेम का सुविद्याल शगर भी बह रहा है । एक घाट वह इतना कोमल और निर्बल है कि वह अपनी पूर्वशक्ति भगवते पर भी गाठा बरोदा के बल्लन से मुक्ति पाने में समर्थ नहीं हो पाता और दूसरे घोर इतना शक्तिशाली है कि अपनी कर्षणुक्ति पर ही पूर्वगोचर्यन पर्वत की बारह कर समस्त जनवासियों की बेबाबिबेब इन्द्र के प्रकोप से रक्षा कर लेता है । उनके सौन्दर्य में 'बरात' का धार्मिक योग दिखाई देता है । पापाय-हृदय को भी कसा देनेवाली कोपियों की बिखर-कातरता और यदुर्बल का सवनाश भी उन्हें विचलित न कर सका । उनके इसी परमोदात्त सौन्दर्य का हमारे देश के विभिन्न भाषा-भाषी कवियों कलाकारों और वादिकों ने विविध नाम्नों द्वारा रसास्वादन करने का प्रयास किया है ।

सौन्दर्य के दो रूप हैं—पारिब और धार्म्यात्मिक किन्तु वे दोनों रूप इतने परिमल्ट हैं कि एक के धमाक में दूसरे को सत्ता अपने आप ही विलीन हो जाती है । सौन्दर्य-नुमुति में सौन्दर्य के इन दोनों रूपों का धनिष्ठ और परस्परालम्बित सम्बन्ध है । एक यदि ससका धन्य शरीर है ही दूसरा उसको चेतन धाम्मा है । बिना प्रकार चेतन धातना के धमाक में शरीर का कोई मूल्य नहीं और शरीर के धमाक में धातना की स्थिति नहीं उसी प्रकार सौन्दर्य के धार्म्यात्मिक स्वरूप बिना ससका पारिब रूप धर्म्य और उसके पारिब रूप के धमाक में धार्म्यात्मिक रूप धरितत्वहीन है । उसका पारिब रूप एक गुन्वर पुष्प है और धार्म्यात्मिक रूप उस पुष्प का शीरम है । यह देखते हुए सूर के सौन्दर्य-निरूपण का विवायन निरिषत सीमा-रेखाओं द्वारा सम्भव नहीं है । अतः हम यहाँ स्पष्टता की दृष्टि से सौन्दर्य के दोनों रूप पारिब और धार्म्यात्मिक के धाधार पर सूर-साहित्य की सौन्दर्य-जायना का विवायन भी 'रूप-सौन्दर्य' और 'भाव-सौन्दर्य' अथवा धार्म्यात्मिक सौन्दर्य के रूप में ही करने ।

रूप-सौन्दर्य

'सूर सावर' सौन्दर्य का पाठधार है । उसके धर्मिकारण पदों में सौन्दर्य कूट कूट कर धरा हुआ है । रूप-सौन्दर्य वास्तव में पारिब सौन्दर्य है । उदाहरण के रूप-विषय में सौन्दर्य का पारिब रूप धर्मिक प्रस्तुतित हुआ है । बाणकृष्ण-धर्म का विषय करते हुए महाकवि सूर कहते हैं—

“साधन हौं या छवि ऊपर बारी ।

पाख गोपाल लागी इन नयननि, राग बलाह तुम्हारी ॥
 लट खटकनि, मोहन भसि-बिबुका-विलक माख मुखकारी ।
 मनौ कमल दल छावक पेखत, उदत मधुप छवि न्यारी ॥
 खोपन खलित, कपोलनि काजर, छवि उपजवि अधिकारी ।
 मुख में मुख आरे वाइठ, अष हँसत देत फिलकारी ॥
 अलप दसन कलवल करि बोलनि, युधि नहि परत बिचारी ।
 विकसित ज्योति अमर-विष मानौ, बिधु-मधि विभु उम्पारी ॥
 सुन्दरता को पार न पावति, रूप देखि महतारी ।
 “सूर” सिंधु की धूब मई मिलि, मति गति दृष्टि हमारी ॥

बालकूप्य की यह छवि निरस्त उसपर कौन बलिहार न जाएगी ? कवि इस रूप शौच्य चित्रण में अपने भावको प्रथमर्ष वा ‘शौच्य’ के सागर में एक बूँद बन जाना कहकर मौन ही बाठा है ।

इसी प्रकार सूर-द्वारा ‘लेखत नन्द प्रापम योबिम्ब’ तथा ‘छोमित कर नवनीत सिए’ पद में चित्रित रूप-शौच्य भी बतानीय है । निम्नांकित पंक्तियों पर दृष्टिगत कीजिए और देखिए इनमें सूर की शौच्य भावना कितनी मनोवैज्ञानिक हो गई है—

“निरस्त्रि निरस्त्रि अपनो प्रतिबिम्ब,
 हँसत फिलकत थी—
 पाछे पितै फरि फरि मैया बोले ।
 ज्यो अस्त्रिगन सखित बिमल जलज—
 जलहि धाइ रहे,

फुटिल अलक यदन की छवि, अवना परि छोले ॥”

बालकूप्य प्रपना प्रतिबिम्ब देखकर हँसते जिनकले घोर पोषे फिर-फिर कर “मैया-मैया” कहते हैं । यह हेगारर कमल के भ्रमर स्रष्टि जल में प्रवाहित होने और उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ने की कवि कहना जिनकी सुन्दर है । इसी प्रकार सूर ने “नीद सिए जमुदा नंदनदहि” और “कहनी बरनी सुन्दरारि” पर भी रूप-शौच्य के सुन्दर उदाहरण हैं । इन्हीं की बावनीसार्थों से संबंधित सूर-साहित्य के प्रायः सभी वर्णों में रूप-शौच्य-भावना बड़ी उपलब्धता के साथ अभिव्यक्त हुई है ।

इन्हीं के रूप-साक्ष्य में कितना आधुन कितना आकृष्य और कितना प्रभाव है । इनके रूप-शौच्य ने जोवियों को पागल बना दिया है । एक गोनी कहती है ।

“अप तै आंगन रखत दृष्ट्या, मैं जमुदा की पूत री ।
 तप तै गृह सौं नागो दृष्ट्या, जैसे कौचो सूत री ॥

सूर की सौन्दर्य-भावना बड़ी स्वापक है। पृथ्वी से आकाश तक मनुष्य से पशु-पक्षी और कीट-पतंगों तक और जड़ से अतन्म्य तक उसका विस्तार है। अथवा स्थिति और काल का भेद भी सूर की सौन्दर्य-भावना को रोक न सका। इन्में सूर-साहित्य में सर्वत्र इसकी छाया समान रूप से अर्चिष्ठ मिलती है। यद्यपि सौन्दर्य भू-भार रस की विशेषता है, तथापि हम सूर-साहित्य के अन्ध रसों में भी सौन्दर्य-भावना का प्रभाव नहीं पाते। यशोदा माता आभिनयों से कृष्ण की बिराई और लड़कता की बार-बार शिकनयनों सुनकर रंग हो जाती है। वे लीज में आकर आभिनयों से क्यूटी है—

“ऐसी सिर में जो धरि पाऊ ।
केसे हाथ करौ धरि हरि के, तुमको प्रगट दिखाऊ ॥
सँटिषा सिय हाथ नदरानी, भरभरात रिस गाव ।
भारे बिना भाजु औ छाड़ौ, खागे मेरे गाव ॥”

यशोदा माता के इस श्लोक में भी कितना सौन्दर्य है। लीज में उनका शरीर काँप रहा है और वे हाथ में सँटी लिए कण्ठ का रास्ता देख रही हैं। इसी समय एक आभिनय कण्ठ को पकड़े यशोदा भी के पास घाटी है और उनसे क्यूटी है—

“मछी महरि सूषी सुत बापौ, खोखी हार बनावति ?”

अब क्या बा यशोदा की लीजानि में बूठ पड़ जाता है। वे लीज से जाल होकर कृष्ण की ओर देखती हैं और वे हिलकी दे-देकर रोने लगते हैं। उनके स्वन में भी कम सौन्दर्य नहीं है—

“बेखी माइ कान्हू दिखकियनि रोवै ।
इतनक मुख माखन सपवायो, डरत अंसुबनि धौवै ॥”

यह है कर्म रस-परिपूरित सूर की सौन्दर्य-भावना। अब सूर की हास्यरस की कुछ पंक्तियाँ देखिए। प्रायः इन्में भी वही सौन्दर्य का आनन्द समझता पाएँ—

मुरखी शम्भू मुनि प्रबनारि ।
करत अग सिंगार भूछी, काम गयो धनु मारि ॥
चरन सौं कसि हार बांध्यौ, नैन देखत नहिं ।
कंचुकी कटि साधि, खडंगा भरति हिरण्य भाहि ॥”

कितना सुन्दर चित्र है काम-बाधते योगियों का। कृष्ण के कम-सौन्दर्य ने उनकी मुक्ति हर भी है। वे शूबार कर रही हैं, पर यह भी नहीं देख पाती कि कौन-सी वस्तु कहीं पहिनी बाय। वे लीज में बाधन करने का हार पैर में बाँध लेतीं बच पर चारन करने की कंचुकी कमर से बाँध लेतीं और कमर में पहिने का सडंगा बचस्वम पर चारन कर लेती है।

भाव-सौन्दर्य

हमने रूप-सौन्दर्य के उदाहरण-स्वरूप मूर-माहिर्य के जो पद उद्धृत किए हैं उनमें जो भव-सौन्दर्य की म्यूनता नहीं है। अब यहाँ हम मूर की उन रचनाओं पर विशेष रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे जिनमें रूप-सौन्दर्य होने हुए भी "भाव-सौन्दर्य" की प्रधानता है।

काव्य का वास्तविक सौन्दर्य समझे "रूप" में नहीं पर शब्दों में ही है। किसी शब्द का साधारण अर्थ जैसा "वाक्याय" कहलाता है। जिस शब्द के द्वारा शब्दों का वाक्याय व्यक्त होता है उसे काव्य शास्त्रियों ने 'धर्मिया' की संज्ञा दी है। चन्द्र का वाक्याय आकार में बमकनेवासी एक वस्तु है किन्तु चन्द्र के इस अर्थ का काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। यदि हम इस वाक्याय पर ही रुक जाएँ तो हम न अपने सौन्दर्य का आस्वादन ही कर सकेंगे और न कवि ने 'चन्द्र' शब्द का प्रयोग करने काव्य में जिन सौन्दर्यनिमित्तों से प्रेरित होकर किया है, उसे ही समझ सकेंगे। कवि कवि है वह कोई व्याख्याता नहीं है, हम सब वह काव्य में अपने भाव का सांकेतिक रूप में ही रखता हैं। उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द ही भावों के घोटक होते हैं पद्य जब तक हम शब्दों के वाक्याय में ऊपर उठकर उन शब्दों-द्वारा व्यक्त कवि के मने में जो मर्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करेंगे तब तक हम काव्य की रसानुभूति में बाधित ही रहेंगे। काव्य का रसानुभव करने और उसका आनन्द लेने के लिए हमें शब्द के वाक्याय में ऊपर उठकर उसके अर्थ और प्रकाश लोके में प्रवेश करना पड़ेगा। वही हमारा उन शब्दों की धारणा ही साक्षात्कार होगा और हम उस शब्द के सौन्दर्य प्रकाश में मग्न हो सकेंगे।

इस विवेचन में यह स्पष्ट है कि काव्य का सौन्दर्य हमें और आनन्द कवि के कल्पना प्रचुर भाव-व्यक्त में पलते हैं। काव्य-रसिक अपनी भावना और कल्पना के सहारे कवि के उस भाव-लोक में पहुँचकर काव्य प्रयुक्त शब्दों का अर्थव्यव ग्रहण करना और काव्य-रस प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है।

मूर भाव और कल्पना व्यक्त का उद्देश्य बताना है। उनका सौन्दर्य-विवेचन अत्यन्त भाव-गुण और धन्य है। साहित्यिक सौन्दर्य दो माध्यमों-द्वारा प्राप्त होता है ध्वनि और अर्थ-द्वारा। शब्द साहित्यिक सौन्दर्य का ध्वनि माध्यम और अर्थ उसका अर्थ-माध्यम है। उल्लेख साहित्य में इन दोनों माध्यमों का सामंजस्य होता है। ध्वनि माध्यम ध्वनि को स्वयं प्रकट करता है और अर्थ-माध्यम ध्वनि की सौन्दर्य वृद्धि करता है। मूर-माहिर्य में सौन्दर्य के इन माध्यमों का सामंजस्य बड़ी मरुतता के साथ हुआ है। उदाहरणार्थ एक पद देगिए—

सखि, इन नैनन तें धन हारे ।

धिनही रिनु बरसव निसि बासर, सदा मलिन दोठ ठारे ॥
 ऊरध स्वाम समोर तेज अवि, सुख अपनेक तुम हारे ।
 यदन सबन करि बसे बचन-अंग, तुस पाषस के मार ॥
 डुरि डुरि बंद परति कचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे ।
 मानौ परनकुटी सिब कीन्ही, बियि मूरति धरि म्यारे ॥
 पुमरि पुमरि बरसव अख छाड़व, उर आगत अंधियार ।
 झूठव ब्रह्महिं सूर को राखै, बिनु गिरवरधर प्यारे ॥

इस पद में नेत्रों को ही गई धन की रूपमा कितनी भावपूर्ण है। कहीं धन धीर कहीं बिरह-बिटाड़ित गोपियों के नैन। धन अत्यु प्राप्त पर ही बरसते हैं, पर इन नैनों के बरसने की कोई शक्त नहीं है, म बिना शक्त के ही गण-दिग बरसते रहते हैं। यथाश्चरत से आकाश के तारे मलिन पड़ जाते हैं। गोपियों के मयनाकाश में आच्छादित जनों से मेघ-तारिकाएँ मलिन पड़ गई हैं।

मयनों के मेघ होने का कल्पना कर लेने पर सूर की सौन्दर्य-बुद्धि के सामने मेघाच्छादन-काम का समस्त बलावरण धीर प्राकृतिक जगत् उपस्थित ही जाता है। गोपियों के ऊर्ध्व निरवास ने तीव्र गति से प्रवाहित होनेवाले धमीर का रूप बाण्ड कर लिया जिसकी ऊकड़भोर से मुप के कुछ भूमितापी हो गए हैं। मुँह से सख नहीं निकल पाते वे पाषस के जस से पक्षियों की तरह शरीर बपी बॉसने में जिपे बैठे हैं। सखों को जनों की ही बानेबानी कवि की रूपमा उछकी उत्कृष्ट कल्पना शक्ति की घातक है। उसके इस कल्पना-प्रसूत भाव में कितना सौन्दर्य है। 'नैन' धीर 'धन' साधारण से सख है। उतका बाष्पाप कीर ही सरलता से समझ सकता है, किन्तु उनके अन्तराल में छिपा लक्ष्मण कितना सौन्दर्यपूर्ण है। इसी प्रकार पद की अन्तिम पंक्तियों में गोपियों के धनु-प्रवाह में धन के डूबने धीर बिना 'बिरवरधर' के डूबते धन की रक्षा न होने की कल्पना भी कितनी महान् धीर सुन्दर है। पद की प्रत्येक पंक्ति में अत्यु धीर अत्यु सख धीर धर्म का अनूठ सामंभव्य है। सूर के 'निसि बिन बरसव नैन हमारै' 'नाचन जाठक ज्यों है बसुठ' धारि पर भी इसी प्रकार की सौन्दर्य-भावना से पूर्ण है।

धन सूर के कुछ आध्यात्मिक भावना से पूस पदों पर वृत्तित कीजिए। इन पदों में सूर की सौन्दर्य-भावना भी बरतीय है। उनका यह पद देखिए—

“जनम साहिबी करत गयो ।

काया नगर पड़ी गुंआइस, नार्हिन कछु पन्थौ ।

हरि की नाम, बास खोटे तौ, कनि कनि डारि वयो ।
 त्रिपया गौंष अमल को टाटो, हँसि-हँसि के वमयो ॥
 नैन अमीन अघर्मिनि के वस, जई को तहाँ छयो ।
 दगाबाज कुटवार कामरिपु, सरबस छुटि छयो ॥
 पाप उजोर कइो सोइ मान्यो, धर्म सुबन छुटयो ।
 परणोशक कौं छाड़ि सुधा रस, सुरा पान वचयो ।
 कुमुधि कमान बड़ाइ कोप करि, सुधि सरकस रितयो ।
 सदा सिंकार करत मृगमन कौ, रहस मगन सुरयो ॥
 पेर्यो आइ कुटुम लमकर में, जम अहदी पठयो ।
 सूर नगर चौरासी भ्रमि भ्रमि, पर पर को जु भयो ॥”

कवि ने “काया-नवरी” के तात्पर्य-व्यवस्था का विषय विवक्षित करते हुए एक सुन्दर रूपक की सृष्टि की है। अर्थात् इस रूपक के निर्माण में परमनी प्राकृतिक भावना व्यक्त करने के लिए जिस सुन्दर कल्पना से काम लिया है, वह सबका समाप्ति है।

सूर के विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों में निहित भाव-सौन्दर्य भी धास्वाशन-योग्य है। उनका राम-नाम की महिमा पर रचित एक पद इस प्रकार है—

“अद्भुत राम नाम के अंक ।
 धर्म अक्षर के पावन द्वै इल, मुक्ति यपू घाटक ॥
 मुनिमन-हस पच्छ जुग जाके, बल उकि ऊरध आत ।
 जनम-भरन फाटन कौ फर्तारि तीछन बधु विख्यात ॥
 अघकार अज्ञान हरन कौ, रवि-समि जुगल प्रकाश ।
 बासर निमि बोट करे प्रकासित, महा कुमग अनपाम ॥
 दुई लोक मुख करन, हरन दुख, बेद पुराननि साखि ।
 भक्ति ज्ञान के पथ सूर ये, प्रेम निरतर माखि ॥”

“राम” नाम के दार्ता बर्णों के पद संकुर के दो पवित्र दम और मुक्ति-बधु के दोनों तांक होने की कल्पना किनी अगूत्रे है। प्रागे का पंक्तिमें से राम नाम का प्रभाव प्रकट करनेवाली उनकी भावना भी उनके हृदय के शोष्य की सीतक है।

सूर का प्राकृतिक शोष्य से पूर्ण एक पर और देखिए—

प्रमुर्मी यों कागही दम रमा ।
 यजर भूमि, गांड दर जोते, अस जेती की तेती ॥
 काम शोष दोड पैल पयो मिसि, रज तामम भय कोन्हो ॥
 अति कुमुदि मन हाँछन हारे, माया जूभा दान्हो ॥

इन्द्रिय मूक किसान महादन, अमर्य बीस बर्द ।
 अन्म जन्म की विषय वासना, उपजत झटा नई ॥
 पंच प्रजा अति प्रबल बध्नी मित्रि, मन बिधान औ कीनी ।
 अधिकारी अब लेखा भागे, ताते हौं आपीनी ॥

किन्तु घनूटी है मुर-डाप की जानेबाने खेतो । पर में अकत भावों की उज्जता
 धीर सौन्दर्य बहनीय है । मुर के बिनय-मन्त्रयो परों में भी उनके अतः हृदय की सौन्दर्य-
 भावना बड़ी बम्भीरता के साथ प्रकट हुई है । सदाहरण्य उनके—

“अब में नाथी बहुत मुपान’ ‘मेरी तो बनि पति तुम अनर्थाह्ं बुरु पाऊँ’ ‘मेरो
 मन अतः कष्ट मुन पावे’ ‘जानि हौं अब जाने की बाग’ आदि पर देखे जा सकते हैं ।

मूर-काव्य-साँपुव

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल 'स्वयंकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल का हिन्दी-साहित्य विरह-साहित्य का एक ऐसा भग है जो किरी भी भाषा के साहित्यकार को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता। इस काल के साहित्य के रूप में मूर और तुलसी के समान महान् साधकों ने स्वयं की सुपमा का नूतन म उतारन का प्रयत्न किया है। संसार का कोई ऐसा साहित्य नहीं जिसमें धार्मिक जीवन का इतनी सुन्दरता में मानव-जीवन में समन्वय किया गया हो। इस युग के साहित्य ने कला साहित्य और भक्ति की त्रिवेणी हिन्दी-काव्य-जयन्तु म प्रवाहित कर इस देश के जन जन का हृदय पृथ कर दिया। इस साहित्य में धार्मिक जीवन की दिव्यानुभूति की अभिव्यक्ति इनने सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से हुई है कि कोई भी उसकी महा मठा और पावनता के सामने लजमस्तक हुए बिना नहीं रह सकता। इस साहित्य के वृद्ध में महाकवि मूर का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने इस भक्तिकालीन साहित्य में प्रेम सौन्दर्य और धर्मत्व की एकी त्रिवेणी प्रवाहित की है, जिसको पवित्रता में अभिव्यक्ति हो विरह-वेरना-सङ्घ में सुनमा हृदय धरने को शक्ति की धीर में अनुभव कर सकता है। उन्होंने अपने इष्टदेव राजाकल्प की विविध सीमाओं का विरुद्ध भक्ति-भावना से बखल कर निराकार, प्रगोचर इन्द्र को सुक सापना को प्रेम—वीर्य से मिला कर हरित-सुगन्ध सघन की तरह आकरवमय बना दिया। उनके इस मोला-विषम में शृंगार का घटा भा है पर शृंगार-बला में भी वे यह न भूल सकते कि वे जिसको प्रेम-वीर्या का बखल कर रहे हैं वे अपने धाराध्य हैं। यह महाकवि मूर की एक ऐसी विशेषता है, जिसमें हो उन्हें एक सखे बहि भक्त और बंदनीय कलाकार के साथ भक्ति के उम्माद में भूतना हुआ पाने है। उनके योग बाल्य मालस-नहरी पर विरहने बामा एव संदीप है जो सर्वत्र एक तान और एक लय में पवित्र गति में प्रवाहित हुआ हुआ हमें मन्मथ्य कर देता है। उनकी भक्ति-भासीरयो उनके प्रणवगत् में प्रवर्धित हो बाह्य जगत् को अपने माप्य में परिवर्तित करती है। यही कारण है कि राजा-कल्प प्रायः भी मत्त-वत् भारतीयों के कठ में बलगान करने मुन जाने है। मानव-हृदय की शक्ति ऐसी शरवत भावना मही जो मूर के पदों में सुगरित न हुई हो। उनके विरह-मानस-मानस में उद्भूत वे सुकता है जिसकी बमक शक्ति-धियाँ के जन में भी खोटी नहीं पड़ सकती। वे बिना सौन्दर्यमय और बिना मनामुपवासी है।

सूर-साहित्य

सूर द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या मित्र-मित्र विद्वानों ने मित्र-मित्र बतलाई है। यह ग्रन्थ-संख्या बड़प्पी-बड़प्पी २३ तक पहुँच गई है। इनमें से सूर-सादाबसी और साहित्य बहरी ५ अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ सूरसागर के ही सम्भगत या जन्मे हैं। अतएव सूरसागर, सूरसादाबसी और साहित्य-सहरी ही निश्चित रूप से सूर की कृतिमाँ कहीं या सकती हैं। इनके द्वारा रचित बतसाए मये हरिबंध एकादशी माहात्म्य गन-बमयणी और रामायन को समझी रचना कहना भ्रमपूर्ण है।

सूरसागर

सूरसागर सूरदास की सबसे बड़ी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ का आधार श्रीमद्भागवत है। पूरा ग्रन्थ बारह स्कंधों में विभाजित है। प्रथम नौ स्कंध बहुत छोटे हैं। बसवाँ स्कंध सबसे बड़ा है। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध पर आधारित है। किन्तु श्रीमद्भागवत के इस स्कंध और सूरसागर के स्कंध में कुछ अंतर है। श्रीमद्भागवत में दार्शनिक विचारों को प्रधानता है, पर सूरसागर भक्ति-प्रधान ग्रंथ है। सूरसागर के यमलानुन-शापमुक्ति कामिययमन मोक्षजन-सीमा राससीमा उद्धव-गोपी-संबाध प्रादि ऐसी कथाएँ प्रचरय हैं जो पूरव भागवत पर आधारित हैं किन्तु इनमें भी सूरदास की शैलिकता का प्रभाव नहीं है। सूरसागर में सद्यिष्ठ राधा कृष्ण-मिसन बानसीला राधाकृष्ण-विहार द्विबोला फ्रप प्रादि अनेक ऐसे चित्रण हैं जो सूरदास के अपने हैं। श्रीमद्भागवत में राधा का कोई स्थान नहीं है पर कहा जा सकता है कि सूरसागर की राधा सूरदास की ही सति है। सर्वप्रथम राधा का नाम "दीपाल रापनी उपासिपद्" में मिलता है। ब्रजब बम के प्राचार्यों—रामानुजाचार्य मध्याचार्य विष्णुस्वामी और निम्बार्क में से विष्णुस्वामी ने सबसे पहले राधा-महत्त्व स्वीकार कर उसे अपनी उपासना-पद्धति में स्थान दिया है। बल्लभाचार्य से ही सूरदास ने बीजा प्रहस की थी। अर्जुनि विष्णुस्वामी की राधा को अपनी उपासना में स्थान दिया है, किन्तु सूरदास ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा को भी महत्त्व प्रदान किया वह बल्लभाचार्य ने कभी स्वीकार नहीं किया। सद्यिष्ठ में सूरदासर श्रीमद्भागवत पर आधारित होते हुए भी सूरदास की शैलिक रचना ही कही जा सकती है।

सूरसागर में एक शब्द पर कई जाते हैं किन्तु प्रती तक लगभग अड़दासीस हजार से अधिक पर सूरदासर की किसी भी प्रति में नहीं देखे जा एक।

सूर-साराबसी

जैसा कि रचना के नाम से ही स्पष्ट है यह सूरसागर का अनुक्रमबद्ध ही कही जा सकती है। इसका लेखन-क्रम सूरसागर में नहीं मिलता और इनमें कही गई एक

नास पद की बात भी निरवसरोम नहीं है पर भाषा-शैली धीरे विषय-निरूपण की दृष्टि से यह निरिक्त ही सूरदास के सूरसामर से निम्न एक स्वर्तन कवि जान पड़ती है। इसकी रचना सं० १६०२ वि के समय हुई थी जब कि सूरदास की अपने मृत्यु-काल सं० १६४० तक पद-रचना करते रहे। अतः इसे पुष्प सूरदास का धार धरना अनुक्रमिका नहीं कहा जा सकता।

साहित्य-साहसी

यह सूर के ११० दृष्टिकृष्ट पदों का संग्रह है। इनकी दो टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। सरदार कवि हृष्ट टीका में १०१ पद और बाबू रामवीरसिंह की टीका में १२० पद हैं। इसके १०६ में पद में प्रथम रचना-काल धीरे ११७ में पद में अंशान्ती हो गई है। दोष पदों में नमवान् कृष्ण की विविध भीलाभा का सरस विषय है। जैसा कि पूरा कहा जा है इनका अंशान्ती काल ११० का पद प्रशिष्ट माना जाता है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा इसे विशेष साहित्यिक धीरे श्रु गारपुष्प होने के कारण सूरदास को हृष्ट नहीं मानते किन्तु अन्य विद्वान् डा० वर्मा के मत से सहमत नहीं हैं। वे साहित्य-महर्षि के श्रुतिक पदों को भी पर्याय से नमवान् कृष्ण की मन्त्रि के पद मानते हैं।

कान्य-सौष्ठव

हिन्दी-साहित्य में कल्प-काम्य का आरंभ विद्यापति से होता है। सूर-साहित्य भी पुष्करेण कल्प-काम्य है, पर सूर का दृष्टिक्रम विद्यापति से अथवा निम्न है। सूर के कृष्ण पुष्करा परमेश्वर धीरे राधा जगत् जननी हैं। सूरदास ने इसी भावना से प्रेरित होकर सूरदास की रचना की है। सूर को राधा बड़ी विवेकशील गम्भीर धीरे बाद-परिता है वह विद्यापति को राधा की तरह केवल रम-रंजितो नहीं है। राधा के इस स्वरूप का विना विकृत सूर-साहित्य में मिलता है उतना अथवा सुख है। सूर ने कल्प का अरि-विषय भी बड़े मर्यादित रूप में किया है। जहाँ उम्हने कान्य-कविता पौषियों की रक्षा पर इतिहास हो कल्प पर अर्थ बाव्यों को बर्णों को है वहाँ भी वे यह नहीं भूल पाये कि कल्प उनके उपासक है। सूरदास के अथ अरि-विषयों के विषय में भी सूर बहुत उत्कृष्ट है। अपने अरि-विषय में सूरदास न बड़ी निरुत्तम दिखती है।

सूरदास के दो प्रसंग-कल्प का कान्यो या धीरे अन्तर गोष्ठ एते है अत्रिमें हने कवि को कान्य-प्रतिभा का विकास अरुत माया पर पुँबा जल पड़ता है। इहाँ का प्रसंग ने सूर को महाकवियों के सर्वोच्च धामन पर धामान कर हिन्दी-काम्य-साहित्य में अमर बना दिया है। कल्प को कान्योता का अरुत बादर ने धनुमन है। कान्योता का पुँनों के अथ अन्ता, रंगना उन्ता गिरना विविध अथुओं को धामाना करना

गाधारण चौटी न बड़ने का कारण-निर्देशन मित्रों की शिकायत बहि-भोरत की चौटी गोपियों का उलाहता बालकण्ठ की हार्मिटरबारी धारि सभी का चित्रण कवि ने बड़ी स्वामाबिकता से किया है। सूर के इस विविध चित्रण को पढ़कर बालकण्ठ की उन सीमाओं का एक समीच चित्र हो हमार सामने उपस्थित हो जाता है। कवि के इसी विचित्र बखन में गी रयों के परभाव 'वास्तव्य' को बखरी रत बना दिया है। वास्तव्य रत का ऐसा समीच और सुन्दर प्रवाह चित्र-साहित्य में दुर्लभ है।

“भ्रमरगीत” सूरदास की एक अत्यन्त सुन्दरान्ति मित्रि है। श्रीमद्भक्तवत्सल में श्री भ्रमरगीत का प्रसंग है परसूर का भ्रमरगीत अतुल्य है। भाषण के भ्रमरगीत में न इतना बिकसत है और न इतना भाकर्यक है। सूर के भ्रमरगीत को पढते समय ऐसा लगता है मानों कसबा को एक महान् बेमबती सरिता ही बरबल बारा से हमार सामने प्रवाहित हो रही है और हम गोपियों की बैयना से अमिदिकत हो उस सरिता में प्रवाहित हो रहे हैं। सूर का भ्रमरगीत विप्रलम्भ शृंगार के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। भ्रमरगीत की गोपियाँ कुम्भ-प्रेम में इतनी निमग्न हैं कि उन्हें न अपने-परामे का कोई ध्यान है, न लोक-मर्वाबा की सोमारें ही उन्हें बाँध पाती है। उदब बार-बार साकार कुम्भ को मूककर उनके रूप-सौन्दर्य का धोर से अपनी धाँसे मूँद अमित सौबक-रति निगुण बह्य की धोर उनका ध्यान धाकवित करने का प्रबल करते हैं, पर गोपियों पर उदब की शुष्क निगुण-मीमासा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे त्रिगुण उत्साह से कुम्भ की रूप-भाभुरी पर मुग्ध हो जाने के लिए धातुर होती हैं। अन्त में उदब की ज्ञान-गरिया गोपियों की माधुर्य-मुक्त साकार मक्ति के सामने तडमस्तक हो जाती और निराकार बह्य की उपासना पर अटल विश्वास रखने वाले उदब कुम्भ-रूप साकार बह्य के उपासक होकर बज से मनुष्य लौटते हैं। भ्रमरगीत का एक पर है—

मधुकर हम अमान मति भोरी ।
जाने तेई योग की बारें, जो ई नवल किशोरी ॥
कवन को मृग कबने बस्यो, किन वाँध्यो गहि भोरी ।
बिनही मीत चित्र किन कीनो, किन नम इठकरि घस्यो म्भोरी ॥
कहि धौं मधुप बारि मवि मालन काहि जो भरी कमोरी ॥
कहो कीन पे कदो जाइ कम बहुव सरास पखोरी ॥
मयसे ऊचो ज्ञान तुम्हारो, हम अहिरी मति भोरी ।
सूरज कुम्भचन्द्र को चाहव, अलियाँ तृपित थकोरी ॥

सूर रूप-सौन्दर्य-बर्णन के मानो धाधार ही है। सूर के कुम्भ का रूप-सौन्दर्य सूर साहित्य की इन पंक्तियों में है—

कहीं लीं बरनों सुन्दरताइ ।

खेलत कुंजर कनक आगत में नैन निरस्ति छवि छाइ ॥
 कुलहि लसति सिर स्वाम सुमग अति, बहुविधि सुरग बनाइ ।
 मानों नवधन ऊपर राजठ, मधवा धनुष चढ़ाइ ॥
 अति मुदस मृदु हरत पिकुर मन, मोहन-मुख बगराइ ।
 मानों प्रगट कञ्ज पर मजुञ्ज अलि भबली छिगि आइ ॥
 नल स्वैत पर पीत लाल मनि, लटकनि भाल रनाइ ।
 सनि, गुर अमुर, देव-गुर मिळि मनु, मीम सहित समुदाइ ॥
 दूध-वंत दुठि कडि न जाति अति, अदुसुत इक उपमाइ ।
 किङ्कण इंसत दुरत प्रगटव मनु धन में बिगुनु छपाइ ।
 खंडित बचन वैत पूरनमुख, अर अर अलपाइ ।
 पुदुरन चलत रेनु तन मंडित, सुरदास बलि जाइ ॥

महाकवि सुरदास न 'मूरतामर' में प्रत्येक विषय का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि मानों वे अल्प कवियों के लिए कुछ छोड़ ही नहीं देना चाहते थे । केवल मुरली पर ही उन्होंने आनीस पदों की रचना की है । संभवतः मूर के इसा बदन बिम्बार को देखकर निम्नांकित पंक्तियाँ बहा गई हैं—

“तल्ल-तल्ल मूरा कहीं तुलसी कहा अनूठि ।
 वर्षा सुधा कबिरा कहीं, और कहीं सब मूठि ॥”

सूरदास का मुरली-विषयक एक पद इन प्रकार है—

मुरला तळ गापालहि भावति ।
 मुनि री मखा, अदाप नद-नदहि माना भौति मयावति ॥
 रागरति एक पाय ठाढ़ो करि अति अभिचार अनावति ।
 कामल भग आपु आसा गुर, कटि टड़ा हौ जावति ।
 अनि आधीन मुजान कनौके गिरिधर मारि नवावति ।
 आपुन पीढ़ि अघर-सेइया पर कर सो पद पलुटावति ॥
 भुङ्गी कुलिश फरक नासापुट इम पै कोपि कुरावति ।
 “मूर” प्रसन्न जानि एकौ दिन, अघर मुर्मांम हुजावति ॥

मूर के नाम का साधार अर्थ उमाव है जिसमें नाम्य के दोहा पदों—भावरच और बलापच—का सम्बन्ध है । इन्हें एक दूसरे उद्योग में धनुर्मूनिपच और अनिम्ब-वड-वच कह सकते हैं । मूर के अन्त नाम्य में इन दोनों पद्या का बड़े सुन्दरता और उच्चता के साथ निर्वाह किया है । मूरदास की बीजा स अंशुव सभी गीत भक्तिमूर है ।

उनके विनय-सम्बन्धी मीठों के अतिरिक्त वास्तव्य और प्रमदस से सम्बन्धित गीत भी प्रकृत से ही सम्बन्धित हैं। उनके प्रार्थना-विषयक गीत शान्तरस नाम कौड़ाओं से सम्बन्धित मीठ वास्तव्यरस और प्रेम-सम्बन्धी मीठ शृंगार रस के अकृष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी-काव्य-साहित्य में गूर के बबरीछे होल के पूर्व वास्तव्य रस को कोई स्वतन्त्र स्थान प्राप्त न था वह शान्तरस के घन्तवट ही मान लिया जाता था, किन्तु गूर ने इस रस को अपने काव्य में उतना व्यापक और विस्तृत रूप प्रदान किया है कि काव्य-साहित्यों की वैसे एक स्वतंत्र रस ही मानने को बाध्य होना पड़ा।

गूर के पूर्व भी प्रेमकाव्य का प्रभाव न था। मसिक मुहम्मद बखरी जैसे कवियों ने प्रेम-रस के निरूपण की पराकाष्ठा कर ली थी पर महाकवि गूर ने प्रेम के दोनों पक्षों को लेकर प्रेमकाव्य की इतना विस्तृत और व्यापक रूप प्रदान किया, कि वे वास्तव्य की तरह शृंगार के भी श्रेष्ठ कवि हो गये। इमाम यह कहना प्रत्युक्तिपूर्वक न होना कि शृंगार रस को वास्तव्य में गूर के काव्य में ही 'रसराजत्व' प्राप्त हुआ है। उन्होंने शृंगार चित्रण में अनेक मनोभावनाओं को लेकर जिस सूक्ष्म घन्तवृत्ति और व्यापक मानवीय दृष्टि का परिचय दिया वह अबका इलाक्य और और अनुपमेय है। गूर-साहित्य के शृंगार अबका प्रम-प्रधान होने के दो कारण हैं। एक तो गूर को नीति-काव्य की परम्परा अबदेव और विद्यापति से प्राप्त हुई थी जिसकी रचना का आधार ही प्रेम था और दूसरे उन्होंने बह्यभाषार्थ से उपासना का जो स्वरूप प्राप्त किया था वह भी प्रेम पर ही आधारित था। गूर-आद्य निरूपित प्रेम हम तीन तरीकों में मिलता है— प्रकृत-प्रेम, काम-प्रेम, और शान्तरस प्रेम। इनमें से प्रकृत-प्रेम-विषयक पदों में भी शृंगार के नाम पर बाधना के बजाय करना विवेक-पूर्ण न होना। गूर के ये पद भी कबखोमुह न होने के कारण प्रकृत-भक्ति के ही शोचक हैं। गूर प्रमी और प्रकृत एक साथ ही हैं, पर वे पहले प्रकृत हैं फिर प्रमी। दूसरे शब्दों में हम यह भी प्रमी प्रकृत कह सकते हैं। कि उन्होंने विस्तृत प्रेम विवेक्षण करते हुए भी बिना प्रकृत के मनुष्य को कूकर-सूकर-बैठा माना है। इसके हम उनकी काव्य-रचना का अद्वैत एकमात्र प्रकृत पक्ष ही मान पड़ता है।

भाव—

काव्य के तीन प्रधान अंग हैं—भाव, रूपना और भाषा। इन तीनों अंगों में भाव की ही काव्य का प्राण रहना चाहिए। यदि काव्य में रूपना भी उड़ान बूझ लंबी है और भाषा के शब्दों का चयन भी सुन्दरता से किया गया है, पर यदि अंगों उच्च भावों का समावेश नहीं है तो वह काव्य निर्यात है। भाव रूपना के व्यक्तीकरण का साधन है। बाबू स्वामिनन्दर दास जी के शब्दों में— 'बिना प्रकार निरूपण

के लिए प्रमाद्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रकृति या निवृत्ति के लिए भी कुछ दिग्गों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अन्वेषित होता है। ये ही साहित्य में भाव के नाम से संबोधित किए जाते हैं। यद्यपि भाव को काव्य का प्रधान तथा शेष कल्पना और भाषा को सहायक अंग ही कह सकते हैं। काव्य-रचना में कवि का काव्य के इन्हीं अंगों का आशय लेना पड़ता है। हम बोलते हैं कि भाव प्रयत्न पर मूर को अग्रिम अधिकार प्राप्त है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

जिन नैनन, कमल नयन मोहन मुख हेरयो,
म दत्त से नैन कहत कौन ज्ञान तेरो।
तार्ते मुन मधुकर हम कहा सन जाही
आनें प्रिय प्राणनाथ नन्दनन्दन माही ॥
मोठी कथा बटुक सी लागति, उपजत है उपदेश खटाई,
लक्षट न्याउ मूर क प्रभु का यह आव मागत चतराई ॥

कल्पना

जब कवि का हृदय विरव में वृष्टिगोचर भावबाली वस्तुपाठ से तृप्त नहीं होता तब वह गाव्यर विरव के सुख मोक्ष से अधिक उत्कृष्ट सुख और मौल्य की कल्पना करता है। पर वह कल्पना बराबर उचित है। तब तब हममें गीतज्ञान में दीप्त पड़, कल्पना सबका अग्रज ही प्रमाण हो। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने एसी बुराई कल्पना के ही प्रति ख्याय करने का विचार है— जब किसी भाव के सहारे बेचना की तरी पर सवार होकर अन्ध और अन्धकार के बोध मग्नीम की यात्रा असीम की ओर हागी तामने धार्मिक बर्णन कृष्ण शिवपार्ष्णी की सोक-सोकान्तर और कल्प रत्नान्तर के सजावट अस्त्राद्य में धार्मिक मग्नीम के विरव पर विरव-हृदय की तंत्री के गव्य तार अंतरात्म्य करने सबसे भाव ही धार का लाभन का स्वप्न दूने पर अन्धहास होने समेता तब गृह्यता और भावुकता का कोई और ठिकाना दूगी। यद्यपि यह अर्थ स्वर्गीय आचार्य न कल्पना-मानन में उनी ओर अलग उदाह्र भरने वाले आचार्यारी कवियों के प्रति दिया था, तथापि हम कल्पन से यह स्पष्ट है कि कवि एसी कल्पना न करे, जिससे वह शाब्दिकता ही प्राप्त। 'विश्व्य जगि बाकिरे उरोजन की देणो' जैसी कल्पना में अल्पता और अज्ञान है। हमें मूरदाग की कल्पना में अग्रमति और वृत्तिमा न मिली। मूर की कल्पना इस पर म देणिए—

यमुना अल अर्कल ह नन्दनन्दन।
गावाष्ट्र इमनोहर चहुँदिमि मध्य अरिष्ट निकुञ्ज।
पकर पानि परस्पर अदरकत शिथिल सशिल भुञ्जयधन।

नहीं रखा पर यह शैली विद्यापति के काव्य में जितनी वृष्टगोचर होती है उतनी जितनी हुई जायसो के काव्य में नहीं है। मोस्वामी तुलसीदास के कुछ बाह्य भी इसी शैली में लिखे गये हैं किन्तु इस शैली का सर्वाधिक परिमार्जित रूप हमें मुर-साहित्य में ही दिखाई देता है। मुर की यहो विशेषता है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो कुछ ग्रहण किया उसे उन्होंने अधिक परिमार्जित रूप में अपने व्यक्तित्व की प्राय के साथ प्रस्तुत किया। उनकी बुद्धिभूत पर शैली में भी हम उनकी यह विशेषता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उनकी इस शैली में हमें यमकार के साथ रचनात्मक लीला-रस की होता है जैसा कि हम उनके द्वारा विहित योपमाभाषो की विविध संविभाषो मुद्रायो और रतिव्योभाषो में देखते हैं। इस प्रकार के परों में श्लेष यमक और व्यङ्ग्य-शक्ति यमकारों का अधिक प्रयोग हुआ है।

व्यंग्यात्मक शैली

मुर-द्वारा गृहीत विशेष शैली व्यंग्यात्मक शैली है। उन्होंने इस शैली का प्रयोग विशेष कथात्मक प्रसंगों में ही किया है। वे प्रसंग वीरवृत्तान्त की कथाओं पर ही आधारित हैं। इनके अतिरिक्त मुरदास जो ने कुछ बतोरथा लंकारों तथा कथों के चित्रण में भी व्यंग्यात्मक शैली से काम लिया है किन्तु हमें यह स्वीकार करना ही पड़े कि इस शैली को काव्य रचना में साहित्यिक लीला की बहुत ग्युम्ता है।

व्यंग्यात्मक शैली मुर की अपनी है। उन्होंने जिन विषयों का बखान किया, वे भी अधिक विस्तृत और व्यापक हैं। छोटा-छोटी वस्तुओं के बखान में जोसा पर ललक इन मुर के लघु महाकवि का ही रूप का। बालकृष्ण के चित्र तो मना-वैज्ञानिक विश्लेषण से ही पूर्ण है। उनके 'मैंना कबहि कहेमो चोटी धाई में चन्द्र रिमोमा लोही तू मोही को मारन सोबी' धादि परा में स्वाभाविक बाल गुलम कथाभा और प्रसिद्धिया का चित्रण देखकर मन मुग्ध हो जाता है। मुर प्रेम-निरूपण में अद्वितीय है। उनके इस निरूपण में कल्पित-सहस्रक का आनन्द यमक है पर उसमें प्रेम विह्वल होकर कहीं मोहने कायना के रूप में परिणत हुआ दिखाई नहीं देता। इसमें स्वाभाविकता गंभीरता और पवित्रता के ही अविश्व दृश्य होने हैं।

इसके प्रथम बार यमुनाशय पर प्राप्त पीवना राधा की मुरर स्त्राभूतलों से मुसंभय कन्द-विद्युतों की तरह उज्यसे देखते हैं। म मुर के लक्ष्य में 'मुरर रमाय नोन तू मोर'। मुनकर राधा मुनकर देती है और स्नेहपूर्ण उधाहना देती हुई कहती है -

“काहे का हम हजजन आवति लखति रहति आपनी पोटा।
मुनति रहति बबलमि नैव छोटा करत रहत माकरन बुधि पारा।।

राधा ने खोट कराती थी, पर इच्छा भी एक ही है। वे बड़ी चतुर्गई से राधा को विना सेठ है। वे कहते हैं—

तुम्हारा कहा चारि हम लैहैं ? खेखन खसो सग भिक्षि कोर।

सूरदास प्रभु रसिक सिगोमनि, घातन भुरइ राबिफा भोरी।”

सूर को प्रेम विषयक तथा अन्य रचनाओं के आधार पर भाव तक घनक करियों में अपने काव्य का मूलक किया है किन्तु भाव बचन काव्य-सौष्ठव की दृष्टि में कोई भी उन्हें न पा सकता। सूर की रचना के आधार राधासुख है। राधा इच्छा न तो उन्हें धरम बना ही लिया पर स्वयं के भी कवि की मुमात्सय धरम रचना के विषय बनकर धरम हो गया।

अलंकार-व्याख्यान

वस्तुता के व्यञ्जीकरण में अलंकारों से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। सूर ने भी अपनी काव्य रचना में स्वातन्त्र्य पर धर्मकारों का प्रयोग किया है। अलंकारों का विधान प्रायः सादृश्य के आधार पर किया जाता है। इस सादृश्यमूलक योजना के दो उद्देश्य रहते हैं—१ स्वरूप की उत्कृष्टता और २ भावोत्कृष्टता। यदि प्रायः भावोत्कृष्टता की दृष्टि से ही इसका अधिक प्रयोग करते हैं पर काव्य के कुछ स्वतन्त्र ऐसे भी होते हैं, जहाँ काव्य के बाह्य स्वरूप के प्रयोग तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिए ही सादृश्यमूलक योजना का आशय बना पड़ता है। सूर ने दोनों दृष्टियों से सादृश्य की योजना की है। इसका एक कारण यह भी है कि सूर का साहित्य अति प्रभावशाली साहित्य है और ऐसे साहित्य के निर्माण में भावों की उत्कृष्टता ही प्रधान रहती है पर भावोत्कृष्टता के कारण ही कवि का अर्थ ऐसी वस्तुओं की आत्मता करनी पड़ती है जो स्वरूप की दृष्टि से हृदयगत भावों की संभाव्यता रखती हो। इस प्रकार भावोत्कृष्टता और स्वरूप की स्पष्टता, दोनों दृष्टियों से कवि-सादृश्य की रचना में सादृश्यक प्रतिभा का समावेश होने के कारण स्वरूप की भी प्रतिष्ठा ही आती है और स्वरूप की प्रतिष्ठा होते ही अनेक अर्थों पर आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्टकरण आता रहता है कि भावुर सुख अहम् ही उमका अनुभव कर सेता है।

सदृश वस्तु की वस्तुता में प्रस्तुत वस्तु के कारण आधार, प्रभाव आदि का प्रस्तुत वस्तु के गुण आधार और प्रभाव आदि के समान होना आवश्यक है क्योंकि कवि की सादृश्य-योजना का उद्देश्य अपने पाठकों को विना विरिक्त भाव और रसात्मक अनुभूति कराना रहता है जो बिना आधार और प्रभाव आदि के सादृश्य के सम्भव नहीं है। किन्तु में कुछ ऐसी ही परम्परागत उपायों का प्रयोग आता पा रहा है जो स्वरूप की दृष्टि से बने हो उपयुक्त हैं पर मौख

से उलका कोई महत्व नहीं। वैसे, एक सुन्दर नामिका की कटि को सिंह की कटि की उपमा ब्रजवा बड़के छरोओं को कर्जुक की उपमा देना सौन्दर्य की दृष्टि से बिलकुल अनुपमोक्त बात पड़ता है। इस प्रकार की उपमाओं से प्रस्तुत वस्तु के स्वरूप का किसी सीमा तक प्रवरण बोध हो जाता है पर ब्रजमें साम्प्रत्य के सजीव प्रेम का अनुभवनीय सौन्दर्य इति भी नहीं मिलता। यद्यत् उपमेय को सामने रखकर उपमान की कल्पना करते समय केवल स्वरूप ही नहीं बल्कि मुख व्यापार, सौन्दर्य प्रभाव प्रादि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। महाकवि मूर ने इन दोषों से अपने काव्य की रक्षा करने में बहुत बड़ी सीमा तक सफलता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ में पक्षितयाँ देखिए—

गोरे भाञ्ज बिन्द सेंदुर पर, टीका भरूपा अराऊ,
बदन चन्द्र पर रवि सारागख, माना दक्षिण सुभाऊ।

इन पक्षितयों में चोरा भास प्रस्तुत वस्तु उपमेय है जिसे देखकर कवि ने चन्द्र उपमान की कल्पना की है जो मुख व्यापार सौन्दर्य, प्राकृत्य और प्रभाव में भी उपमेय का सादरब रक्षता है। इस भास पर शोभा देनेवासा उलकवटित टीका देखकर रवि सारागख के स्वाभाविक उदय होने की कल्पना करना सादर्यमूलक मोक्षता का सुन्दर उदाहरण है।

मूर की कविता-कामिनी नवरत्न-वटित प्रसंगों से सुशोभित हो कभी कभी कल्पना कुंज में कभी रमणीय बनसबनी में कभी काकिली-कवित कूल पर भी कभी कल्पना की भास पर कोकिल सी कृकरी दृष्टिगोचर होती है। वैसे ही मूर-साहित्य में अनेक प्रसंगों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, पर उपमा रूपक उत्पत्ति और अनुप्रास उसके सबसे प्रिय बर्तकार है। उन्होंने कही-कही तो एक ही पर में अनेक प्रसंगों का द्वार भूय रखा है। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

माह्न, बदन बिहोकर अखियन उपजत है अनुराग,
सरसि चाप तापित चकोर गति, पियत पीसूप पराग।
साधन मखिन भय राखत रति, पूरम मधुकर भाग
मानहुँ, अखि आनन्द मिले, मकरन्द पिबत रति फाग।
मँवरि भाग माधे पर कुकुम, चन्दन बिबु विभाग,
चातक साम शकभसु पन में, निरन्वत मनु धैराग।
कुंभित कस, मयूर चन्डिका, मंडलत सुभग, सुयाग,
मानहु मदन धनुष सर लीन्है, वरसत है बनराग

अधर त्रिभ विहँमान मनाहर मोहन सुरली राग,
 मानहु सुधा पयोधि घेरि धन, बृज पर परमन लाग ।
 कुडल मफर कपोलनि मजकत धम-सीकर के दाग,
 मानहु मीन मकर मिलि क्रावत, शोभित शरद तडाग ।

मोहन का मुग देखत ही मेरों म प्रम उमर पड़ता है । जो नेत्र मूय के ताप से
 बकाश की तरह माटून से से सब समुत्त रन का पान कर रहे हैं । नराक नैन कौ
 कमल में नया प्रन बिकसित है । धमर के माग्य गुं गमे जान पड़ते हैं । ऐसा मानुस
 होना है मामों धमर मानवित हाकर प्रेम पराग का रगवान कर रहा हो । यहाँ कृपा
 क मुग का कमल की घोर रगक के तर्कों को धमर की उमरा की र । धमर कितना
 भाग्यशाली है । समाज पर कुकुम धोर बरन का टीका लगा है । यह कुकुम घोर
 बरन मुकन मलाए एना मामूम हाता है मानो बरन घोर इन्द्रधनुष खिन बाधम
 में जातर बेटाम्म अनुभव कर रहा हो । कवि न बहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रधनुष
 युग त्रिम राशत म जातर का स्वादि का जल पीने का सामाधि होना चाहिए,
 उमम मयधिक सुन्दरता देखकर वह इस प्रकार आनन्द-विभोर हा जाता है कि
 धमरी इच्छित पन्थु (स्वामी जम) का भी मूल जाता है । मयमान् इच्छ क बुंभरासे
 बागों म मुन मिर पर पगड़ी है जो मयूर खडिका स मुमगित है । यह देखकर एना
 जान पड़ता है मानों कामनेय धनुष बाण मिए उपस्थित है घोर मयत्र प्रम की बर्षा
 हो रही है । बिराकन की तरह साम धमरी पर सुन्दर मुन्दान है घोर मन-भाकर
 राता की बिराकन कामे बाती मुरमी । यह देखकर एना मामूम हाता है मानो धमर
 के समुद्र त उग्रप्र पाशत ब्रज पर विरकर बरगता जात हों । बातों में मकरदहन
 कुंडम है । घोर गलाट पर पगोने की बुँबे कमर रही है । यह एना जान पड़ता है
 मानों शरद अशु के निर्मन गरीबर म मयूर घोर मयनी मितकर अड़ा कर रहे हा ।

एक ही पर में अरु गलाटा घोर धनुषाग का प्रयोग मूरगाग मे बरी सुन्दरता
 क माय दिया है । उत्पत्ता निगान म ओ बहना का गई है यह बहना में
 कवि को मरातु प्रतिमा घोर गुन निरीक्षण तवि की छोटक है । धानप्रातिक व्यक्तता
 घोर उग्रता की महानता मे जा एक एक बाया गया है वह बर्षा का
 मूम वृष्टि की शोभ है ।

रम निरूपण

एना क प्रयाग में गूरगाग निरूपण है । उग्रान मूरगाग के स्वयन्पन पर
 जो चिमि न रग प्रकृति लिए है उमरी मकनता उमरी रम-निरूपण धमरा की
 छोटक है । गूरगाग' म प्राय मभी एमों का स्वात प्राण है किन्तु इन काव्यधन

में वास्तव्य शान्त और शृङ्गार रस का विकास करम मीमा को पहुँचा जान पड़ता है।

छन्द विधान

काव्य-रचना में छन्दों का विशेष महत्व है। प्राचीन धारामों की दृष्टि से यह रचना काव्य नहीं समझे जा सकती जो छन्दबद्ध न हो। श्री मीमांभर मुक्त के मतानुसार छन्द प्रवचन की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से संबंध बनित कर देता है। छन्द विस्मय-श्राव्य बेचना का काम करके मोक्ष निश्च-ती से पाठा है और मुक्ति-कारिता सुख-वृत्ता और स्वयं-शीलता की दृष्टि करता है। छन्द अपनी शक्ति और शक्ति से अर्थ प्रकाशित करता है। यदि अर्थहीन शक्ति हीन हो, तो छन्द उसकी शीलता कम कर देता है और यदि अर्थहीन शक्तिहीन हो तो छन्द उसकी शीलता कम कर देता है। छन्द कविता का आभावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के रागों से युक्त कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रवृत्तित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और श्राव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रकट हो जाती है।

इस उद्देश्य से काव्य में छन्दों का महत्व स्पष्ट है। मात्र हम हिन्दी में बितने छन्द देखते हैं वे या तो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश-द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं या उनके आधार पर बने हैं। मूल साहित्य में संगीत का जो महत्व प्राप्त है वह छन्दों को नहीं है फिर भी यदि हम छन्द-विधान की दृष्टि में मूलसाधार का अध्ययन करें तो हमें उसमें कुछ छन्दों का प्रयोग अत्यन्त मिल सकता है। यद्यपि मूल ने प्रत्येक छन्द को भी राग रागिनियों में ही युक्त किया है। श्री ब्रह्मेश्वर वर्मा ने मूलसाधार द्वारा चौपदा चौपाई दोहा रोसा तथा उसके आधार पर विभिन्न अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है। इनके विधान उचित उपमान और शोभन शोभन रूपमात्रा विद्युत्वर हरिपदा मरती, साद, सावनी कीर, समाप्त छन्द मत्तगवद छन्दों इत्यादि हरिपदा धारि छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

भाषा

मात्र और कल्पना के फलस्वरूप वा की दृष्टि से मूल-साहित्य पर विचार करना आवश्यक है। मूल साहित्य की भाषा सर्वत्र भाषा के समुच्चय रही है और उसके स्वाभाविक माधुर्य के कारण मूल का काव्य अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बन गया है। जनसाधारण की कुछ देसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इस भाषा में उचित काव्य अपने आप ही मधुर और प्रभावशाली बन जाता है। यही कारण है कि मात्र लक्ष्मी-

बोली के विकास-काल में भी हम ब्रह्मभाषा का सीमा सवरख नहीं कर पाते और धात्र भी ब्रह्मभाषा-काव्य में हम आधुनिक काव्य से अधिक रसानुभूति प्राप्त करते हैं। काव्य-रचना करते समय कवि भाषानुरूप भाषा का ही प्रयोग करता है। वह अपने भाषों की अभिव्यक्ति करते समय एक प्रमुख भाषा का आश्रय ग्रहण करते हुए भी कभी समीपस्थ लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग करता कभी भाषा के मूल शब्दों को पुनर्जीवित करता और कभी विभाषी शब्दों को अपनाता है। कभी-कभी उसे मूल शब्दों को कुछ ठाढ़-मरोन्कर भी उगह अपने भाषों के चौपटे में जिठाना होता है। सूर की भाषा में हम य ही सब-कार्यें देखते हैं। उन्होने मूलरूप से ब्रह्मभाषा का ही आश्रय लिया है, पर पीछे कर से स्वामीय और प्रामीण शब्द तक ग्रहण किए हैं। ताकामीन राजभाषा के प्रभाव-रूप छारमी के अनेक शब्द भी उनके काव्य में द्या गये हैं। इस प्रकार सूर ने भाषा की दृष्टि से बड़ा उदारता से काम लिया है।

तुलसी काव्य विमर्श

साहित्य

बाबा बेखीमाप्रसाद ने 'मूल भोगार्थ चरित' में गोस्वामी जी के दोसह ग्रन्थों का सङ्केत किया है। इन ग्रन्थों में कवितावली का उल्लेख नहीं है। इसे मिलाकर गोस्वामीजी की रचनाओं की संख्या ४ होती है। तिरसिंह सोंगर की संख्या धीरे कुछ ग्रन्थ भी इससे मिला है। विदर्शन ने इनके ग्रन्थों की संख्या २१ लिखी है। इनमें सकल भोजन नामहत्याका मुद्रितया रामायण करवा रामायण भूमना रामायण धीरे अथवा रामायण के भी नाम है। पर उन्होंने उनमें से बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने हैं। पर रामचरित मनुष्य भी उनके बारह ग्रन्थ रामचरित मानस बोहावली कवितावली रामायण धीरेवली विनयपत्रिका रामलला गहलू पावगोर्मयल कामगोर्मयल, बरबीरामायण वैराग्य-संशोपनी और रामायण प्रस्तावनी को ही प्रामाणिक मानते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की ये सभी रचनाएँ हिन्दी-काव्य-साहित्य की अमूर्त निर्यात हैं। इनमें से रामचरित मानस तो ऐसी धार कृति है कि क्या-क्यों समय बड़ा जा रहा है उसका महत्त्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है और न केवल हिन्दी-भाषी विद्वानों बरन् अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषा-शास्त्रियों का भी इसका प्रतिपक्ष बढ़ता जा रहा है। अब मण्डली गुजरती संभला धारि भारतीय भाषाओं तथा अरबी, रशियन या विदेशी भाषाओं में भी इस ग्रन्थ का अनुबाह उपलब्ध है।

ग्रन्थ ग्रन्थों में से 'रामलीलावली' में गोस्वामी जी ने राम को बाल्य-कालार्थों का तथा सीताजी का लक्ष-सिखा-सोयम का मनो लक्षारी चित्रण किया है। उष्ण गीतावली में गोपाल की बारहहजममी लीलाओं का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक धीरे इत्यर्थो है। यह गोस्वामी जी की विरुद्ध ब्रह्मभाषा में रचित कृति है। 'गीतावली' का मुखर धीरे भक्तिपरक पर फुल कर सूर का पर्वों का स्मरण हो जाता है। 'बोहावली' भाविपरक धीरे भक्तिपरक बोहों का मुख्यान् संघर्ष है। मक्ति-भाषाओं की दृष्टि से तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' एक अत्यन्त कृति है। इनके पर्वों में मन्वन्मन्वि की जो लम्बता समस-भाषना धान्यवर्द्धन धन-सुख की विज्ञप्ता धीरेता कानरता धीरे दीनता रचित है, यह 'रामचरित मानस' मन्वी तुल्य है।

रचना-शैली

वीरशामी की वे रचना-काल में हिन्दी में मुख्यतः दो प्रकार का साहित्य उत्पन्न हुआ। एक तो धरणी भाषा में सूफी-कवियों की रचना और दूसरा द्वन्द्व भाषा में गुरु का कृष्ण नाथ्य। इनका इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार आज पड़ता है। इनकी अधिकतर रचनाएँ धरणी में हैं पर धरणी भाषा में रचित कृष्णगीतावली और और वीणावली भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

शैलियों की दृष्टि में इनके समय चारण-नाथ्य की छन्दसु शैली, विद्यापति और मुरदास की पर रचना शैली, बहार की बाह्य शैली गण धारि की कविज्ञान आ शैली आरणी की दोहा शैली शैली धारि प्रचलित थी। तुमसीदास जो ध धरणी रचना में इन सभी शैलियों का उचित प्रयोग किया है।

छन्दसु शैलियों में म छन्दसु शैली में उनकी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हैं पर जितनी प्राप्त हैं वे बहुत सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ एक छन्दसु दण्डि—

द्विगत ऊर्ध्व धनि गुर्वि, मध पर्वे समुत्तर ।
 व्यास धरि तद्दि फाल विकल विकृपाल पराचर ।
 दिग्गयद् ऊरस्वरत् परत दम्कंठ मुख्य भर ।
 सुर बिमान हिम भानु भानु मघडित पास्वर ।

चौकि विरधि मकर सहित कोल कमठ अहि कलमस्या ।
 अद्याएह दण्ड किया अष्ट धुनि, अघदि राम शिव धनु गल्यो ॥

विद्यापति धार मुरदास की पर रचना-शैली में तुलना की चिन्तनविका गान्ध-वनी तथा कृष्ण वीणावली के पर देख आ महत् है। कविता मन्त्रियों को शैली में रचित कविताओं में गस्वामी की की इन शैली का प्रयोग का प्रमाण है। आरणी की बाह्य-शैली शैली में पूर्ण शान्ततिमात्रम' ही प्रस्तुत है।

वीरशामी तुमसीदास की क काल्य का अभ्यस्त करत स पर स्पष्ट हो जाता है कि ये एक उच्च कवि और कलाकार थे। इनका धरणी काय्य रचना में जिन बहुमूर्ती प्रतिमा का परिचय दिया है, वह सर्व-अनुकरणीय है। हिन्दी-साहित्य के पूर मध्यकाल में गुरु और तुमसी का लेके महान् साधक और कवि-दृष्टि जिन्होंने हिन्दी-नाथ्य की दो प्रमुख काय्य धाराओं का मुख्यपल बन रूप युग को जन्म दिया। गुरु का उच्च तुमसी की रचना में भी हमें काय्य के स समस्त युग मिलते हैं जो एक महान् क म धरणी है। भाषण और कलापद दाता के व्यक्तिकरण में तुमसी-राज प्रतिष्ठित है। उनका स्वभाव-विचल प्रकृति-मोक्ष-विचल धनु-कृत सभी सुन्दर और अष्ट काय्य-रचना के धार है। स्पष्ट भाषाभिर्भोजना

भावात्मकता भाषा का प्रयोग अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग और विभिन्न रसों का योग्यप्रयोग अतिस प्रकाश तुलसी-काव्य की विशेषताएँ हैं ।

भावपद्य—

तुलसी मान-वर्ण के सन्नाह हैं । भावनिर्मलता पर उनका अप्रतिम प्रतिकार है । कामिक, सामाजिक और बौद्धिक भाषाभ्रमणों के प्रतिरिक्त धर्म विषयों पर भी इन्होंने बड़े सुन्दर और नवन अनुभवपूर्ण भाव प्रदर्शित किए हैं । इनकी कल्पना के रामराज्य का चित्र देखिए—

बयन न करु काहु सैन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥

मख नर करहि परस्पर प्रीता । पलहि स्वधर्म निरिषे छुति नीती ॥

घरनाक्रम निभ निभ घरम निरति वेद-पथ छागे ।

पलहि मया पायहि सुख, भाई मय सोऊ न राग ॥,

बनवासिनी सीता मोले सोख्यं की प्रतीक हैं । उस भावपूर्णमयी सुकुमायी को बन के बीहड़ मार्ग से जाती देख घामीय नारियाँ को उस पर बया प्राणा स्वाभाविक है । उसे देखते ही उनका हृदय बया से हठीभूत हो जाता है । वे कह उठो हैं—

✓ 'पायन तो पनही न, पयोदेहि क्यों पछिई सकुचात दिया रे ।'

कब उन्हें यह मामूम होता है कि राम-नरमण और सीता कैकयी के कारण बन में घासे हैं उह बन धारण्य होता है । वे कहती हैं—

रानी मैं आनी अप्रानी महा, पचि पाहनहु से कठार हिया है ।

राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो छिय का भिन कानु कियो है ॥

तुलसी ने कितने कौशल से इन-व्यक्तियों में मगवान् राम के शील की रक्षा की है—

सुनि सुचि सरल सन्ध सुहोवने धामवेधुन्ह के वैनी ।

तुलसी प्रसु तरु सर पिलह, किय प्रेम कनौक नैन ॥

शीम और मर्वादा का विबाह तुलसी को विशेषता है । शीम-शापना की उच्च मात्र-मूमि पर स्थित उनका यह पद बर्तनीय है—

कबहुंक ही यहि रहनि रहौंगो

भी रघुनाथ कृपालु कृपाते, मठ सुभाष गहौंगो ॥

होम-प्रति-मन्त्रि के समन्वय से पूर्ण तुलसी के भाव-चित्तमे मग्न है—

✓ 'मन करिहौं इति आमुते, राम धार परयो हौं ।

'तू मेरो' यह बिनु कह उठिहौं ज अनम मरि प्रभु की सौं करि निबरयो हौं ॥

प्रकृत कहत औं सकुचिये अपराध मर्यो हौं ॥

तौ मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि कसि बिलोकि हहरयो हौं ॥

— शीत ही मयाचार को प्रेरणाप्रद शक्ति है। इसीलिए तुलसीदास जी ने बार-बार शीत-रूपा पर बस विमा है। वे ऐसी भक्ति को भी शक्ति नहीं मानते जो शीत-संपत्त न हो —

प्रीति रामसों, नाति पय, अक्षिय गग रिसि आवि ।

तुलसा मतन के मते हई मगति का रीति ॥

बिभक्त म राम भरत-सिखाप पर तुलसीदास जी न निहा है

राम वास धल विन्प बिलोफे । उर अनुराग रहत नहिं रोक ॥

कितनी भावकृता है कवि के हृदय में। कवि प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को उपस्थित कर उस स्थिति में पड़े मानव के हृदयत भाव का स्वयं अनुभव करता है। अपनी इसी विशयता के कारण मानस का कवि वास्तविक भाव विशय में पूछ सकत हुआ है। तसमो-नो अर्थात्पूर्व भावकृता हिन्दी के बहुत कम कवियों में देखी जाती है। साक्षात्करण पर राम के हृदय की स्थिति के स्वयं-निर्करण में तुलसीदास पूर्वस्थित उनका प्रतिनिधित्व करते देख सकते हैं—

इ स्मग मृग हे मधुकर भेनी । तुम वृक्षी सीता मृगनेनी ।

खजन सुक फपोत मृग मोना । मधुप-निकर कोकिला प्रवीना ॥

कुद कला दाड़िन दामिना । कमल सरय समि अहिमामिनी ॥

मुन जानका तादि विनु आजू । हरप सकल पाइ जनु राजू ॥

किमि सहि जात अनल तादि माहो । प्रिया भंगि प्रगटसि कम भाहो ॥

किना कस्य विष है राम का बेदना का । दशरथ की मृत्यु पर शोक को कासी पटा छा सई उमरु बखन कवि म इग प्रकार बिया है —

आगति अवष भयायनि भारी । मानहु कालगति अंधियारी ।

घोर अंतु सम पुर नर नाग । डरपहिं एकदि एक निहारी ।

पर समान परिभ्रम जनु भूना । सुत हिन मान मनहुं अमदूवा ।

कवि रसना घोर विष अक्षय दरानीय है । तुलसीदास ने सम्पत्त का शक्ति सपने पर राम का का बिनाश अनिन रिना है उमरु किना स्वाभाविकता घोर भावना है यह इने पनिषों म देखिए—

अथा पत्न्य विनु रग अति शूना । मनि भिनु पनि करिषर कर हाना ॥

अम मम जिवन वाधु चिते ताहा । जो अइदेब जिआये माहा ॥

अइहैं अवष फान सुंदर साइ । नारि हतु प्रिय वाधु गेबाइ ॥

अपहृति—

रवि निज उदय व्याज रघुराया । प्रभु प्रताप सय वृषन दिखाया ।
अनुप्रास
गौर सरीर भूति मलि भ्राजा । भास त्रिसास त्रिपुड विराजा ॥

ससा-दरन तात बनि कहेतु पिता सन जाइ ।
बौ मै राम ती कुल सहित, कहिहि वसामन जाइ ॥

विभाषना—

विनु पग बसे, सुनै विनु काना ।
कर विनु कर्म करै विधि माना ॥

सन्देह—

की मैनाक कि जगपति होई । मम बख जान सहित पति सोई ।
असंगहि—
पाइ सधीबन जागि कहत बों, प्रेम पुखकि बिसराय सरीरै ।

प्याअनिन्दा—

बन्य कीस जे निज प्रभु काजा । जइ वह नाचहि परिहरि छाजा ॥
अतिशयोक्ति—

यहि विधि उपज अचिह्न जब, सुन्दरता सुख मूख ।
तइपि सकाच समेत कवि, कहि साय सम वूख ॥

व्यतिरेक—

सिय मुख सरय कमल जिमि किमि कहि जाइ ।
निसि मखीन बर, निसि दिन यहु विगसाइ ॥

नेहराना—

सिरसि सिखइ सुमन वख, मँहन बाख सुभाय बनाप ।
कास अंकु तनु रत पक बन, मगटव चरित धुराप ॥

भाव—

क्यों सत असजत चरना । दुख-प्रद समय, बीच कछु बरना ॥
बिहुरत एक प्रान हरि सेही । मिळत एक दुख वारुन बेही ॥

उत्तर—

सिय दुय अंग-रंग मिथि अपिक उदोत ।
हार बलि पहिरापी चम्यक होत ॥

रीतिक्रान्तिन हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि

रीति-साहित्य की परम्परा

सपमव संवत् १७७७ से हिन्दी-साहित्य में "रीतिक्रान्त" का धारम्भ होता है। इस नाम में घनेक रीति-ग्रन्थों की रचना हुई इसीलिए हिन्दी-साहित्य का यह "उत्तर मध्य-काल" रीतिक्रान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पूर्व पूर्व-मध्यकाल के अन्तिम चरण में केशवदास 'कविप्रिया' और "रसिकप्रिया" और कृपाराम 'हित-तरंगिणी' की संवदास "रस-मञ्जरी" की और कवि सुन्दर "सुन्दर शृंगार" की रचना कर चुके थे। ये सब रीति-ग्रन्थ ही थे। संस्कृत-साहित्य के लिए 'रीति-ग्रन्थ की रचना' कोई नहीं बसता था। हिन्दी-साहित्य के प्राविर्भाव काल से ही संस्कृत में इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना हो रही थी। विदितराज 'कव्यप्राम' के "रसगंगाधर" की रचना शाहजहाँ के शासन-काल में उस समय हुई जब हिन्दी में राम-काव्य और हनुमन्-काव्य की गंगा-यमुना प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के कवि संस्कृत की पुरा परम्परा तथा-गमकासीन रीतिक्रान्त-उत्थानार्थ में भी प्रभावित हो रहे थे। केशवदास नन्दलाल कृपाराम तथा पति सुन्दर धारि में वा रीति-ग्रन्थ सिद्ध सन पर संस्करण-रीति-ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। केशव की दोशों-कवियों हम सामुद्र और उद्भट के रीति-ग्रन्थों पर आधारित मिलती हैं। उनके विवेचन-प्रस्तावी भी संस्करण के रीति-ग्रन्थों का ही हैं। भामह और उद्भट में रस-रीति-ग्रन्थकार सभी के लिए धर्मज्ञान-शब्द का प्रयोग किया है। उनके ग्रन्थों में धर्मज्ञान और धर्मज्ञान में कोई धर्मज्ञान नहीं मिलता। यहाँ स्पष्टि केन्द्र की "कविप्रिया" की भी है। 'हितादीगिणी' और "सुन्दरशृंगार" रस-मञ्जरी की रचनाएँ हैं। इसी दिना शृंगार-रस पर-मिगा-चरगारा के मादत-नाम-विश्व का 'शृंगार-नागर' ग्रन्थ भी मिलता है। यहाँ कवि 'कर्मवृत्त' की रीति-विषयक-वर्णन-ग्रन्थ धुनिमुक्त और सुपुत्र-ग्रन्थों का उल्लेख भी इन ग्रन्थों में किया जा सकता है। रहीम-रचित 'बर्बे-नायिका-मेर' भी उपलब्ध है। इन अविज्ञातान पूर्व कवियों की कवियों को बनने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के कवियों की अविज्ञान में ही रीति-ग्रन्थों की धारण-कला का अनुभव होने लगा था और उनसे से कुछ नूतन दिशा में प्रयत्न भी धारम्भ कर दिया था। हिन्दी के उपरुक्त रीति-ग्रन्थ उनका इसा प्रयत्न के परिणाम हैं।

भक्त्यर के शासन के पूर्व हिन्दी के कवियों को राजसम्मान प्राप्त न था। कुछ राजाओं ने चारणों को भक्त्यर ही धाम्य दे रखा था पर उनका काम्य-कौशल अपने धाम्यवाता के गुण-गान तक ही सीमित था। सर्वप्रथम भक्त्यर ने ही कुछ कवियों को अपने दरबार में स्थान दिया। इनमें वैतनिक और अवेतनिक सभी प्रकार के कवि थे। कर्नेल होसरस कुम्भन रास व्यास चंद्रमाल चतुर्भुज बास सुरदास मदनमोहन यथाहर कवि मुर हरि वातसेन गंगु आदि के प्रतिरिक्त राजा टोडरमल राजा श्रीबल और धर्मपुरहीन ज्ञानबाला के समान प्रतिष्ठित हिन्दी कवि भी चक्रवर्त से सम्मान प्राप्त करते थे। इनमें से कुछ कवियों ने चारणा को तरह भक्त्यर में पुनर्वास भी किया है पर इन्हीं व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी कम प्राप्त न थी। कुछ धर्म्य राज-वरदारों में भी हिन्दी कवियों को सम्मान प्राप्त था। ऐसे धाम्यवाता राजाओं में रौब-भरत महाराज रामचन्द्र तथा महाराजा जगन्निह राजा धर्मरत्न आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वयं राजा बोरबल हिन्दी कवियों के बहुत बड़े धाम्यवाता और प्रोत्साहनवाता थे। धर्मपुरहीन ज्ञानबाला से भी कवियों को बहुत प्रोत्साहन मिलता था। धर्म्य-राज्य बहुत पहिले ही कवियों को धाम्य देने को परम्परा का निर्वाह करता आ रहा था। इन विभिन्न राज्या के शासकों के धाम्य और प्रोत्साहन ने हिन्दी-कवियों को अपनी प्रतिभा का पूर्ण विकास करने का अवसर दिया। कल्प-काल में भृंगार को विशिष्ट स्वतंत्रता ही। राजाकल्या की सीताओं के विश्व में भृंगार का जो विकास हुआ वह राज-वरदारों में चक्रवर्त वितास-भक्ति है। या और विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का विश्व राजाकल्या मक्ति का आधार छोड़कर 'राज-वितास' पर आधारित हो गया। राजाभित कवियों ने अपने धाम्यवाताओं के मनोरंजन के लिए भी 'नायिका भेद' की रचना धारण कर ली। कवियों की इस प्रवृत्ति से जो रीति-धर्मों की रचना को प्रोत्साहन मिला। किसी ने अपनी प्रमत्ता के लिए और किसी ने अपने धाम्यवाता के लिए रीति-धर्मों की रचना की। कहते हैं किशोरदास ने 'कविप्रिया' की रचना अपनी एक प्रमत्ता के लिए ही की थी। चतुर्भुज बास ने 'विमल चक्रवर्ती' की रचना चक्रवर्त को धाम्य से की थी। इन मक्ति-कालों को रीति-विषयक रचनाओं ने 'रीतिकाल' को पृथग्विधा का निर्माण किया और १६ वीं शताब्दी-प्रारंभ होते-हुते हिन्दी में रीति-धर्मों का निर्माण भी एक बड़े परिमाण में धारण हो गया।

मक्ति-काल में अनेक कवियों ने रीति-धर्मों की रचना की थी उनमें केवलदास धर्म गुरु हैं। इनके रीतिग्रन्थ अपने ही नाम हैं और उनमें बड़े प्राचीन रीतिग्रन्थों की रचनाओं पर आधारित होने के कारण अपूर्ण से लगते हैं किन्तु इनमें जोड़ी चम्पेहन ही हिन्दी के 'कविप्रिया' और 'रीतिक प्रिया' की रचना पर अपने परवर्ती कवियों का

साम्य प्रशस्त किया और संस्कृत का मान न रखकर कवि-समाज की काव्य के विविध सुन्दर परिचित किया। केशव ने रीतिग्रन्थों की जा पुरम्परा धारण की वह उनके परचातु संगमग पंचम रूप तक सुखोबन्धा में पड़ी रही और इसके परचातु ही बिलामणि ने इन परम्परा का आसक्त कर इनका शक्तिशाली बनाया कि वह उनके समकालीन एवं परवर्ती कवियों के लिए भी प्रसन्नकारीय हो गई। यही यह स्वरूपी है कि बिनामणि द्वारा प्रस्तापित रीति-ग्रन्थ-रचना का परंपरा मायक और उन्नत रूप दोनों पर प्राप्ति करके राम की परम्परा पर आधारित नहीं बल्कि संस्कृत के इन रीति धारकों के परवर्ती काव्याचार्यों का रचना-बन्धाकार बुद्धतपानस काव्यप्रकार और मति परंपरा पर ही आधारित है।

रीतिकाल के साहित्य-निर्माण में इस काल का राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का भी कम याव नहीं है। अतः इन पर यहाँ संक्षिप्त रूप में बिचार का लना भी समीचीन होगा।

राजनीतिक स्थिति

भारत अनेक राज्यों में बिनाजिन का पर मभी राज्यों में एकत्रिय रामन का बोधबद्धा था। राजा सभाधिराज होता था। वह प्रमत्त होने पर बड़ा-मे-बड़ा धनराज समा कर देता और महलों उद्ये, जामार धारि पुरस्कार में बनेना था और प्रमत्त होने पर बाह्य जैमा धनराजोय दंड बन-का उद्ये-हा जाता था। अतः केशव राजा को प्रमत्त कर लेने में ही भाग्य पसु-आता था। राजा को प्रमत्त करने के लिये अनेक उपाय थे उनमें से एक धनराजोय दंड-प्रतिमा-का-धनराज भी था। राजा जिस रीति का होता वहि-जो रीति के अनुकूल काव्य-रचना का उद्ये प्रमत्त करने का प्रयत्न करता था। इस प्रवृत्ति के कारण किमी धनीर धनराज सवकाजोपकारी-आद्य का मुक्त प्रमत्त में था। वहि-जो-सौन्दर्य प्रवृत्ति-सौन्दर्य धार्यकारिक धनराज उद्ये-वैश्वानु धारि के द्वारा धने धाव्यद्वारा को प्रमत्त कर लेते थे। राजाओं में बिनामणि बडना जा रही थी, धन-विभाषिता-परिषदिन-सुधार-साहित्य जनका रीति के अनुकूल था। यही कारण है कि रतिनाथ में अनेके शृंगार-साहित्य की रचना हुई उतना धन किमी कालके लिये हुई।

बाबाकरण शास्त्रिणों और राज मुसंगतिन एवं मुसंगिन न थे। कौन-किस उद्ये में पारु और हिन्दीभाषी में परचातु ही आरपना यह समझता वहि-जो था। इस धार-परचातु और धनराजोय की स्थिति में अनुकूल धनराज विषया योग्य होता है या उद्ये-गत प्रमत्त। राजाधिराजोय प्रमत्त स्थिति की धनराजोय धनराजोय को धनराज प्रमत्त होने में ही धनराज माहात्म्य होता है। यह राजनीतिक स्थिति में ही शृंगार-साहित्य का रचना में अनेक प्रमत्तारी थी।

सामाजिक स्थिति

तत्कालीन समाज की स्थिति बड़ी दुःखी थी। एक राजा होता था और उसके अनेक सामन्त होते थे। समस्त राज्याधिकार इन सामन्तों में विभाजित थे। प्रत्येक सामन्त अपने-अपने बंध का शासक होता था। ये सामन्त और समाज के कुछ उच्च शासकीय सेवा प्राप्त व्यक्ति ही सुधी थे, सामान्य जन शोषित मानवों का जीवन व्यतीत कर रहे थे। सामन्तों और धर्मियों का धर्म प्रकाश की सुविधाएँ प्राप्त थीं और अधिकार भी कम न थे। जिनका उपयोग वे अपने जिनसे और वैभवपूर्ण जीवन के साधन जुटाने में करते थे। इस प्रकार मानव-समाज दो कोटियों में विभाजित था। एक कोटि में वे राजा सामन्त और धर्मियों के और दूसरी कोटि में शोषित जनता थी। प्रथम कोटि में कोई ऐसा न होता था जिसके महान में उनकी विभाजिता की पूर्ति के साधन के रूप में एक से अधिक रिक्तियाँ न रहती हों। इनका कार्य अपने को मुख्यतः बन्तुभूषणों से घलंकन कर अपने विभागीय स्वामियों को प्रसन्न करना ही था। इस प्रकार भीतर-बाहर विभाजिता का साम्राज्य था। यह देखकर प्रत्येक सुशिक्षित और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति केन्द्रीय राजाओं के बीच सामन्तों पर या स्वामीय धर्मियों को किसी-न-किसी प्रकार प्रसन्न कर उच्च शासकीय सेवा या सम्मान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। राज्य-कोशल संश्लेषण मुख्य धारि भी इस प्रकार के प्रयत्नों के साधन थे। इस सामाजिक स्थिति में नायक-नायिकाओं की विभिन्न विभाजित भीलाओं को विभक्त करने वाले शूदार-सौहार्द तथा विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के सङ्घ और भाव संगीमा व्यक्त करनेवाले रीति-साहित्य की निर्माण आवश्यक ही था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ उत्तर-सम्यकालीन जति रीति-ग्रन्थों के युक्त को धारण-मण्डला अनुभव करते थे वही देश को राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी इसी प्रकार के साहित्य के प्रयुक्त थी।

नैतिक स्थिति

तत्कालीन और सामाजिक पक्ष की स्थिति में नैतिकता का हास स्वामिक हो जाता है। हिन्दू समाचार पर-प्रतिष्ठ होते धार रहे थे और मुसलमान धार्मिक तथा बाह्य संश्लेषण के अन्तर्गत नैतिक बल को चुके थे। दोनों जातियों में विभाजिता बढ़ रही थी। राजकर्मचारियों की विभाजिता ने उनका ध्यन बड़ा दिया था जिसकी पूर्ति के लिए विरक्त धारणक हो गई थी। यह प्रवृत्ति उच्च-प्रवृत्तियों से निम्न-कर्मचारियों तक समान रूप से देखी जाती थी। बन्तुताह एक परबिक्रम-द्वारा जन प्रवृत्त कर रहे थे। उच्च पक्षों का प्रबोधन देना भी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का एक साधन बन गया था। धीरे-धीरे ही मूल्य के परभाव विस्ती के उक्त पर जितने शासक बैठे वे प्रायः सभी निवृत्त थे। उनकी निवृत्तता ने विवेचितियों को भारत पर प्रामुख्य

करने को प्रेरित किया। ये शासक उनसे मोह जाते में प्रसन्न थे। अतः वे उन प्राक्रमणकारियों को मुंह मीठी बनवाते देकर ही अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ हुए। शाही परिवार ईप्सो डेप छत्र-मुठ और पड़वत्रों के गड बत हुए थे। मुगल शाहजादों ने राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए जिस नृसंघता और नीचता का परिचय दिया वह उत्कालीन राजवंशों के मूलिक पतन का प्रमाण है। इनके इन दुराचारा और नृसंघता का सामाज्य जनता पर प्रभाव पड़ना स्वामाजिक आ। इस प्रभाव से उनकी संस्कृति, नैतिक-युगलता तथा राजनृति का नाश हो गया और उनमें भी स्वार्थ एवं दुराचारा की प्रवृत्ति जागृत हो गई।

शाहजादों और राजाओं की विनाशिता ने उनकी प्रमत्ताओं की शक्ति बढ़ा दी। मुगल शाहजाह जहाँदारशाह की प्रमत्ता साध कुंवर तथा मारबाद के राजा जिनगीसुह की प्रमत्ता पातकनो के लिए राजदरबारियों तथा स्वयं अपने स्वामिया तक का अपमान करना एक साधारण-सा काम था। शाहजादों राजकुमारों तथा पति-पुत्रों का पातन-भोग्य एवं शिक्षा जिस कमपित वातावरण में हो रही थी उससे उनका विनाशी और दुराचारी होना स्वामुक्तिक था। सौम्यसखी नृजिया को प्रमत्ता पर तथा उच्चवर्गीय दुराचारियों को उत्तम संस्कृति रहती थी।

धार्मिक स्थिति

इस समय इस धार्मिक वातावरण में प्रमत्त जनता तीन धर्मियों में विभक्त थी। प्रथम धर्मियों में वे हिन्दू धर्मावलंबी विद्वान् और मुस्लिम मौलवा थे जो परम्परागत धर्म धर्मों के सम्बन्ध में मनु और मनुस्मृतियों में प्रवृत्त थे। वे पूर्णतया कृतिकारी थे। इनके लिए धर्म धर्मधर्मों का धार्मिक ईरबतना और शास्त्रीय धार्मिक-विचार गतात्म-यत्न थे। हिन्दुधर्म के धर्मगत वैदिकधर्म की विविध शाखाओं का दूषण या धर्म में कमपितता का राज्याधिक प्रभावशाली धार-ध्यायक थी। यह शाखा भी धर्म उपशान्तियों में विभाजित थी। वेदों में स्थापित-ध्यान पर इन शाखा उपशान्तियों के धार्मिकों और मठवासीयों की गृहिणी था। इन्होंने ब्रह्मम-मन्त्राचार्य के धर्म धर्म विद्वान्मत्त की के साथ पूजा में मोक्ष-कामधर्म-बाकरीसी भाषण सूरत धर्म और काशी में धर्म गृहिणी स्थापित कर रखा जो हिन्दु धर्म में गोपुत्राचार्य के धर्मधर्म जितनी के भी द्वारा जो महत्वपूर्ण कार्य म हा सका। बासाधर्म में इनका प्रभाव और सम्मान बढ़ गया। बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनमें बीजा सत-मने और इन्होंने धर्म धर्मराशि भेंट करण मने। धर्म इनमें भी बंध और विनाश की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। धर्म धर्म धर्म के धार्मिक स्थापन के ध्यान पर धार्मिक धर्म प्रमत्ता होने लगी।

कुछ समय के पश्चात् इन धर्मधारियों का वैभव इतना अधिक बढ़ गया कि उनके सामने बड़े-बड़े राजा-महाराजा और नवाबों का वैभव भी फीका दिखाई देने लगा । निम्बार्कचार्य वैठस्य, राजावल्लभीय आदि सम्प्रदायों को भी यही स्थिति थी । जिन सम्प्रदायों का धर्म सामान्य जनता में धर्म की जाति के लिए हुआ या उन्हीं के आचार्य धर्म वैभवशासी गहिर्या के अधिकारी बन जनता से दूर हो गये । उनकी साम्प्रदायिक धर्म-धारा देश के विशाल क्षेत्र से विभक्त कर उनकी गहियों की सीमा में ही निरुद्ध हो गई । राजा और कृष्य की भक्ति में विकृति आ गई । उनकी मति की भावना और उच्चता का स्थान शृंगारिकता ने ग्रहण कर लिया और उत्तर भारत के समस्त मठ और मन्दिर कमिनिओ की पायल की भलाकार और देवदासिया के नृत्यों से भूँजन लगे ।

दूसरी वही उन सामान्य जनो की भी जा स्वभावतः अधिभारणी और धमनीत थे । इनका तीर्थयात्रा प्रवृत्ति, मूर्तिपूजा आदि वाङ्मयकारों पर अत्यन्त विश्वास था । साधुओं और पत्नीयों की उदा-भाषना में इस जन का धर्म-युवा से मनुष्य पुत्रक बना बिना था । रामसीता एतसीता कीतन भक्त आदि इस धर्म के हिन्दुओं के तथा उच्च, नरस कर्माभी आदि का गान मुस्लिमों की जन-प्राप्तता के धर्म थे । इस प्रकार इस सामान्य जनता की धर्म भावना भी मनोरंजन की ओर प्रवृत्त होती जा रही थी ।

तृतीय वही में वे शाक के जो कबीर, नानक, बाबू आदि के अनुयायियों के रूप में हिन्दू-मुसलमानों को बाह्य अविश्वस्य से परावृत्त ही निर्गुण धर्म की उपासना का उपदेश दे रहे थे । ये एकेकरवाक की पृष्ठभूमि पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक थे । ये वास्तव में प्रमत्तों उपासक थे । इस विचारधारा के अन्तर्गत धर्म सम्प्रदाय थे । सत्ताधी मानवासी नारायणी आदि सत्ताधी सत्ताधी के प्रमुख सम्प्रदाय हैं । इनके प्रतिरिक्त कर्त्तव्यही वाङ्मयही मानकही आदि भी थे ही । अन्तर्ही सत्ताधी में अन्तर्ही प्रवृत्त आदि की विचारधारा का प्रारम्भ रहा । इनकी विचारधारा के प्रचारकों में अन्तर्ही अन्तर्ही अन्तर्ही अन्तर्ही अन्तर्ही आदि प्रमुख हैं । इनके पश्चात् भीष्मपुत्र अन्तर्ही अन्तर्ही आदि ने अन्तर्ही सत्ताधी तथा निर्गुण भक्ति का प्रचार किया । इनमें सामाजिक विचारधारा और धर्म भाव का अभाव था । कुछ समय के पश्चात् धर्मों का ध्यान भी इनकी ओर आकर्षित हुआ और उनका विचार स्वीकार करने पर इन निर्गुणधारियों की भी गहियाँ स्थापित हो गईं और जनता भी वैभव की भावना पर करने लगी ।

— इन निर्गुण धारणों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रभावित थे पर इनके प्रतिरिक्त मुसलमानों में कुछ सूची सम्प्रदाय भी क्रियाशील थे जिनमें अन्तर्ही अन्तर्ही

काशी सम्प्रदाय, शतार सम्प्रदाय आदि हैं। इनमें चिरंजी सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव था।

बौद्धिक पतन

ऊपर जिन राजनीतिक सामाजिक नैतिक और धार्मिक स्थितियों का मस्तिष्क रूप में बिबबन किया गया है उस स्थिति में बौद्धिक पतन स्वाभाविक था। शताब्दियों की दागूदा और बमरु न हिन्दुओं को निम्न और निर्बीय बना दिया था। वे नैतिक बल के साथ ही बौद्धिक क्षमता भी ग्राह्य-से-न गस्कन आदिन मानप्रदाय हो गया था पर हिन्दी-साहित्य की शिक्षा में भी बहुत बड़ा परिवर्तन होता जा रहा था। नस्ल का स्थान शृंगार में ले लिया था और हृष्य-काव्य के नाम पर शृंगार-काव्य का सज्ज प्रारंभ ही गया था। राम-पत्रिका में शृंगार-भावना का प्रभाव का पर बौद्धिक-पतन न उनका उदरबल अग्नि भी कथिया क लिए शृंगार का विषय बना दिया था। उदयकाव्य जैसे मठाधीन प्रब रामगुप्त-गान छाड़कर "बड़ा-बुद्ध पंचालिका को रचना करन में गौरवानुमूह कर रहे थे। "न प्रकार हिन्दी के काव्य-साहित्य में शृंगार का ही धारा प्रबल बय से प्रबल करनी विस्तार द रही जा।

मुसलमानों की स्थिति भी हिन्दुओं से मिला न थी। धीरे-धीरे की धर्मापना ने मुसलमानों का मस्तिष्क विकृत कर दिया था। प्रकबर के शासनकाल में मुसलमानों में भारत के प्रति जिन धार्मीयता का उदय हुआ था उसका धीरे-धीरे न शासनवास न बस हो गया। मुसलमानों के लिए भारत ही उनका देश बन गया और भारत तथा धारम की-मस्तिष्क ही उनकी मस्तिष्क बन गई। न भारत और भारतीयता में बिरकन हो गये और उनमें धर्म-भाव-भावना। हिन्दु की धार प्रबल होते मुस्लिम बन्धि भी धर धारमी में ही काव्य-रचना करन लग गे। उन्हें पतन की धार बन्धी देश-स्थिति का ज्ञान न रहा और वे भी धपन प्राधम-प्राम्य एवं दरबारियों की तरह शृंगार में निपन जान लग। देश की इसी स्थिति न हिन्दी में रीति-साहित्य और शृंगार-साहित्य को बन्द दिया।

रीति-साधना का आधार

हिन्दी के रीति-साहित्य हमके रचयिताओं के धपन मस्तिष्क की बन लयी है। न पन्था के रचयिताओं ने इनकी रचना में धपनो प्रतिभा का उच्चाय धपन्य किया है पर वे वास्तव में हिन्दी-साहित्य को रीति-साधना की निधि-धर्मादि-कारण में संभूत साहित्य क गुरुका है। साहित्य का "वाग्दाली-उत्पन्न" वा "धरदार साहित्य" रचना का 'मादयसाय दगुहो का वाग्दाली धमरदय का वाग्' न 'नना बनि' वेत्त मिध का धर्नकार शरय' धपन्य दायिण का दूरदाली" ममरुवा' नार प्रारा बमरु का वाग्दाली धमरुधपन का धपन्योत्त निरुधाय का

'साहित्यदर्पण' मानवत्त की रस मंत्रों और 'रस-तरंगिणी' प्रादि संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी के रीति-ग्रन्थों के आधार हैं। हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल में विभिन्न कवियों द्वारा संस्कृत के हुन्दी ग्रन्थों के आधार पर रीति-ग्रन्थों की रचना हुई। ऐसा जान पड़ता है कि कवियों ने स्वयं पढ़कर और किसी ने ग्रन्थों से सुनकर इनमें से अपने काम के ग्रन्थों का परिचय प्राप्त किया था। अपने इस परिचय और ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा के सहारे अपने ग्रन्थों के निर्माण में किया। केवल धनकार पर भिन्ननेवासे कवियों ने 'बन्धालोक' और 'कृष्णप्रदानम्' से ध्वनि पर लिखनेवालों ने 'काव्यप्रकाश' से रस पर पूरा रचना करनेवालों ने 'रसमञ्जरी' 'रस-तरंगिणी' साहित्यदर्पण और 'नाट्यशास्त्र' से सहायता प्राप्त की है। सबही शताब्दी में रचित परिशिष्टग्रन्थ बन्धालोक के 'रस-मंत्राद्यु' से भी रसों पर लिखने में कम सहायता नहीं मिली। रीतिकालीन रचना-परम्परा को देखकर ऐसा लगता है कि इस काम में रीतिविषयक ग्रन्थों की रचना विपुल परिमाण में हुई होगी पर प्रकारान्तर्गत सुदृष्टा के अभाव में न जाने कितने प्रुप काम-कर्मलिप्त हो गये। बहुत सम्भव है कि आज उस युग के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ अनुसन्धान करने पर अभी भी प्राप्त हो सकते हैं।

रीतिकालीन साहित्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है हिन्दी में रीतिकाल के प्रवर्तक केशवदास ने किन्तु इन साहित्य की वास्तविक परम्परा केशव के सगमन पञ्चम-वर्ष परचात् विनामनि से प्रारंभ होती है। विनामनि के समकालीन-वर्ष-वर्षके परचात् के भी कवियों ने इन्हीं की रचना-प्रणाली का अनुकरण किया। केशव की रचना-प्रणाली का नहीं। विपिन भृगारभूषण रस-मञ्जरी और कविशुद्ध-वस्तुधर इनके प्रमुख रीति-ग्रन्थ हैं। इनके परचात् के रीति-ग्रन्थकारों में भूपण और मतिराम का स्थान है। "मिथराज भूपण" मृदंग की इति है और "जनिठ लमाम" मतिराम की इति है। अग्य-रीति-ग्रन्थ-रचना-प्रणाली में कुलपति मिथ सुन्दर देव कानिदास सूरति मिथ भीपति सोमनाथ रघुवंश, इमह, आस प्रताप साहि, निरालीदास बिहारी, पद्याकर प्रादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कवियों के द्वारा जित अनेक रीति-ग्रन्थों की रचना हुई उनमें हिन्दी-काव्य-साहित्य के एक महत्वपूर्ण धंग की पूर्ति ही नहीं हुई बल्कि उनसे हिन्दी-काव्य के कलारमक रूप के विकास में भी मुख्यदान योग प्राप्त हुआ।

रीति-काव्य की प्रवृत्तियों —

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१-रौति विवेचन

रौतिकामिन के कवियों ने सम्प्रत के 'काव्यप्रकाश' अध्याय के "ब्रह्मजीव विरचनाय के "साहित्यवचन" पञ्चतराज आश्रय के "रस-संगीत" एवं मासः पारि के रत्ना के आधार पर हिन्दी में रौति-रसों की रचना की और हिन्दी के पाठकों को काव्य के विविध धर्मों से परिचित किया ।

२-शृंगार-व्यञ्जना

रौतिकामिन कवियों के काव्य में शृंगार के आध्यात्मिक पक्ष को कोई स्थान प्राप्त नहीं है । इन्होंने अपने लौकिक पक्ष की सूक्ष्मताओं का विस्तृत विवेचन किया । इनके इस शृंगार-विशेषण पर अध्याय विद्यापति मुरदास पारि की रचनाओं के प्रतिरूपन संस्कृत के "संगीत-साहित्य और कामशास्त्र का भी प्रमाण है । इन्होंने आनन्द के पौरव साहित्य की विभिन्न श्रेणियों और अनुभूतिया तथा प्रेम की विभिन्न व्यवस्थाओं का सूक्ष्म विवेचन किया है ।

३-प्रकृति-उद्दीपन

रौतिकामिन प्रकृति के विविध उपकरणों का व्यवसंधन उद्दीपन की दृष्टि से हो किया गया है जिससे आनन्द के रूप में प्रकृति-विशेषण का विशेषण हो सका ।

४-कलापत्त का परम विकास

इस काल के कवियों की दृष्टि काव्य के रस अथवा भावात्मिका की परीक्षा काव्य के कलापत्त पर ही अधीन रही है । इससे इस काल की रचनाओं में हमें विनया उक्ति वैविध्य, अलंकार-विज्ञान और शक्तिरूप विशेषण मिलता है उक्त काव्य के भाव-वचन का विकास नहीं मिलता ।

५-साहित्य छन्द-प्रयोग

रौतिकामिन में कवित्त और सर्वज्ञा धर्मों का ही परिचय प्रयोग हुआ है । इनके परचाय "राशि" छन्द का प्रयोग है ।

६-भक्ति और वैराग्य का मिश्रण

इस रौतिकामिन में शृंगार-निरूपण के साथ ही भक्ति और वैराग्य की आवनाया का समावेश भी मिलता है यद्यपि ये आवनाया शृंगार के मार में वर्णन हुई है ।

७-प्रेम का सुवर्ण

रौतिकामिन कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम का भी निरूपण किया है किन्तु उक्त यह निरूपण प्रेम का परिचय और व्यञ्जना से दूर हृदय का आवना-वचन शृंगार के रूप में ही चित्रित हुआ है ।

८ आभयवाताघो की प्रशंसा

इस काल के अधिकार काल्य का निर्माण राजाओं सामन्तों धारीरवारों धारि के आभय-से ही हुआ है जिसमें स्वभावतः आभयवाताघों की प्रशंसा मिलती है। कुछ कवियों में अर्पण अर्पणों के नाम के साथ अर्पण आभयवाताघो के नाम जोड़ दिये और कुछ न आभयवाताघो के अर्थ पर प्रभावित करके काल्य प्रथम काल्य धारि की रचना की। महाभारत-विशाम अमरिणो ब धारि प्रथम प्रकार के और बहीगीर-अस अङ्किका हिममतबहापुर विरदावती धारि दूसरे प्रकार के अर्थ हैं।

९—मुक्त-काल्य-रचना

इस काल के अधिकार कविता में मुक्त काल्य शैली में ही काल्य-रचना की। नरहरि रक्षीम गंग बीतास निरकर टोडरमल बसु बिहारी धारि इन कवियों में प्रमुख हैं।

१०—वीर-काल्य

इस काल में शूद्राधिक रचनाओं के अतिरिक्त भूपल भास मूढस पद्मर अरसेरु धारि में वीर काल्य की रचना भी की।

११—मञ्जुभाषा का प्रयोग

रीतिकाल तक मञ्जुभाषा का काल्य-रूप में पर्याप्त विकास हो चुका था। रीतिकालीन कवियों ने भी अपनी काल्य-रचना में प्रमुखता से इसी भाषा का प्रयोग किया। परिणाम स्वरूप इस भाषा का विकास इन कवियों के हाथों परम सीमा को पहुँच गया।

रीतिकाल की न्यूनताएँ

वायु पुमावधम ने रीति-काल्य की निम्नांकित न्यूनताएँ बतलाई हैं—

- १ काल्यानों के विवेचन के साथ सम्बन्धित का यथोचित विवेचन न हो सका।
- २ द्विती में नाटक के अर्थ-प्रश्न नहीं थे जिससे रीति काल में नाट्यशास्त्र के विवेचन का भी अभाव रहा।
- ३ इन काल में विविध विषयों पर काल्य-रचना न हो सकी। जो काल्य-रचना हुई उसमें विषयों की संख्या अल्प ही रही।
- ४ इस काल के कवि एक परस्पर के नाम प्रभावित हो गये जिससे कव की वैयक्तिक प्रतिभा का प्रकटन न हो सका।
- ५ इस काल के कवि यद्यपि मानव-जीवन को अनेकवृत्त का अर्थ काल्य में स्वान में देखते, तथापि इन्होंने शूद्रा के संकुचित अर्थ में साम्प्रदायिक जीवन को धारण कर उसमें ही अन्वय-वर्तन का प्रयास प्रकट किया।

बिहारी की कव्य-साधना

बिहारी ऐतिहासिक के प्रथम कवि है। ये केवल सात सौ श्लोकें निकलकर ही हिन्दी कव्य साहित्य में घुसने लगे गये यही इनकी कव्य-कृतता का प्रमाण है। इनके द्वारा रचित श्लोकों-में-अपि अनेक 'मुक्तक' हैं। मुक्तक वह रचना कहलाता है जो प्रथम पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में स्वयं समर्थ हो। जा किये हमने अत्र पर-निमर ल रहकर अनुभवहान स्वच्छ पर स्वयं प्रयोजन की समता रखी हो। मुक्तक की रचना निरपेक्ष भाव से की जाती है पर यदि उनमें शोक, का बिज बिरोध घना अंग भरकर ही कुछ कहा जाय तो वह अत्यंत प्रभावशाली हो जाती है। जैसे बिहारी-ज राधा कृष्ण का एत वाहा नहि पराय नहि मपुर मधु — पागे कोन हवास' मिलकर ही श्रु गार के समकल स पुष्य कर दिना। बिहारी में प्रभावोत्पादकता के लिए इन श्लोकों में प्रकृति से एक लक्षित सज्ज उमरी रचना कर बी।

दूसरे मुक्तक में अनुप्रास का निर्वाचन इतना स्पष्ट होता चाहिए कि पाठक उनको पहचान में कर सकें। प्रवेश का मके घोर उद्यमे अनुभव प्राप्त कर सकें। हिन्दी में सुरलाग का सुरलाग — और गुमरीदाम को 'कवितावली' भी-मुक्तक के अन्तर्गत ही रखी जा सकती है क्योंकि उनके अन्तर्गत पर निरपेक्ष घोर स्वयंपूर्ण है। उनमें प्रथम अक्षर-मी रमातुमनि न्यगिए है कि उनका सापार जीवत के-एत बिज है अिनमें-मर्मस्वल्प पर भीषा प्रभाव लपने का शक्ति है। सूत्रियों भी स्वयंपूर्ण घोर हृदय पर प्रभाव उत्पन्न करती हैं। पर उन्हें मुक्तक नहीं कहा जा सकता। सूत्रियों किया रम-या भाव की कर्मता या उद्ये नहीं करना वे केवल कर्मकार विद्यार्थिका होती हैं। दृष्टान्त घाति की वाक्यता में उद्यम आत्मिक कर्मकार भा-जान स कुछ नाय उन्हें मन हा मुक्तक वाक्य-भाव में पर वाक्य की कर्मियों पर वे लगे नहीं उतर सकती। मुक्तक घा सूत्र में अन्तर्गत जान लिए के लिए बिहारी के इन श्लोकों निम्नांकित शीघ्र पर दृष्टान्त कीलिए—

“मटपटाकि-सा-मम्मिमुत्ता, मुस्य सूपट-यदु लकि।

पाषस कर सा कमकि फ, गई कगेत्या ककि ॥”

“कतठ कतठ में मीगुता, मादकजा-अधिकाय।

रहि साये पीगइ इहि, पाय हा पीगइ ॥”

प्रथम दोहे में नायिका की धमिलाप-व्रता का चित्रण है। यह सपककर धरने से नायक को कवि बंध जाती है और कोई उसे बंध न से इसीलिए वह सटपटाती है। इसमें रस के दहन स्पष्ट है। धनुनाओं की सम्मिश्र योजना है संवारी-बास कौड़ा बल्युक्ता धारि भी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इसमें पूर्ण रस-संबंधना है, यद्यपि यह निश्चित रूप से मुक्तक है।

दूसरे दोहे से कवि स्वयं-प्राप्ति से होनेवासी मयान्धता बतलाता है और उस मादकता की व्यञ्जना यह एक मुक्ति के द्वारा करता है। पर इस मुक्ति में कोई विशेष मान नहीं है और न रस की-संबंधना ही है, एक वस्तु को अतुरोई के साथ संबन्धना मान है। इसीलिए यह मुक्ति है मुक्तक नहीं।

बिहारी की अधिकांश मुक्तक रचनाएँ प्रभु से पूर्ण हैं, पर इन्होंने कुछ बँधे हुए प्रसंगों को लेकर ही अपनी काव्य-कला प्रदर्शित की है। इन बँधे हुए प्रसंगों के भीतर इन्होंने जैसे-जैसे संस्कारों-की-संबंधना की है, वह इनकी प्रतिभा और कला की शोचक है। इन्होंने रीतिकाल की परिपाटी का अधिक ध्यान न से प्राचीन काव्य-परम्परा को ही ग्रहण किया है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि ये रीतिकाल की प्रवृत्तियों से सर्वथा अक्षुब्ध हो रहे। नायिका-मेघ और मारी-दान-व्याजों का विश्लेषण रीतिकाल के कवियों का अर्थ ही हो गया था इसीलिए बिहारी को भी उसके अनुकूल बनना पड़ा है। मुक्तकों के अधिक प्रचार का एक कारण तत्कालीन राज-वरचारी की प्रवृत्ति भी थी। लोग अल्प-काल के लिए रस-मग्न तथा अमरकृत होने में कसब्य को पसंदता मानते थे। यही कारण है कि जिन कवि प्रवृत्तियों-काव्यों की ओर कवियों का ध्यान न जा सका। पर मुक्तक को कसब्य का अर्थ नही कहा जा सकता। काव्य की पूर्णता तो प्रवृत्त-काव्य से ही संभव है। प्रवृत्त एक मनोरम वनस्पति है, जो मुक्तक एक सुवासित गुमहस्ता। जो कवि प्रवृत्त-रचना में सफल हो वही रससिद्ध समर्थ का सकता है। यह दूसरी बात है कि मूर, गुनछो जैसे कोई-कोई महान् प्रतिभाशाली कवि मुक्तकों में भी रससिद्धता प्राप्त कर ल।

इन सब बातों की दृष्टि में रखकर बिहारी के मुक्तकों पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इनकी काव्य दृष्टि नहीं वैसी थी और जसकी पहलू बहुत दूर तक थी। प्रवृत्त-विद्या की दृष्टि में नायिका-मेघ के ही वृत्त से सीमित रीतिकाभीन कवियों की अपेक्षा इनका काव्य अधिक दीर्घ-सम्यक्त और मूल्यवान् है।

असकार-योजना और अपस्तुत विधान

कवि-दीर्घ की दृष्टि के लिए असकार आवश्यक है, पर उन्हें काव्य का सुमिश्र धर्म नहीं कहा जा सकता। अंत और प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना बिना असकार

योचना कि मी धार्मिक और प्रभावोत्पादक हो सकती है। धर्मकार शरीर के सामुपदेश को तरह काव्य का बाह्य मीथ्य बहाने में ही सहायक हो सकता है। वे काव्य में भाव या रस उत्पन्न नहीं कर सकने पर फिर भी धर्मकारों को उपेक्षा नहीं का जा सकती। कवि धर्मकार-योचना के द्वारा ही काव्य में धर्मकार होने का प्रयत्न करता है और इसलिए उन्हें काव्य-मीथ्य के साथ ही काव्य धर्मकार उत्पन्न करने के लिए मी धार्मिक ही मानना चाहिए। धर्मकार भावों को व्यक्त करने की एक शक्ति है। धर्मकार-योचना का काव्य के समापन के सम्बन्ध में स्थान है और समापन काव्य के लिए अनिवार्य नहीं, तो धार्मिक धर्मकार है।

धर्मकार के दो मुख्य भेद हैं—राष्ट्रायुक्तर और धर्मकार। राष्ट्रधर्मकार की परवा धर्मकार काव्य के लिए अनिवार्य महत्वक है। मन्वय इमीलिए महर्षि बुध्याम ने धर्मपुत्रा में "धर्मकाररक्षिता विषय मरस्वती" कहा है। पर यह मी धार्मिक है कि काव्य में धर्मकार इनमें मन्वय दिए जावें कि उनके काव्य में मन्वय भाव ही सब भाव। अब हम इन दृष्टि से महाकवि विश्वराम की धर्मकार-याचना पर विचार करें। उनका यह दोहा देखिए—

तो पर वारों उरवसी, मुनि राबिके मुजान।

तू मोहन के पर वसा, हूँ उरवसी ममान ॥”

इसमें 'उरवसी' से कवि न समक धर्मकार का योचना की है पर बाह्य के चारों धर्मों में 'उरवसी शर म धान से धर्मकार-साधन का दृष्टि से यह धर्मकार-योचना मीथ्य हो गई है। हमारे धर्मकार म काव्य का मीथ्य ठा कुछ सोचा मन्वय-मन्वय है पर मन्वय राबिके का मीथ्य-वचन काका-पङ्क गय-है। एक उदाहरण धीरे देखिए—

“पर जीते सर मैन क, एम द्द्व मैन न।

हरिना क नैनानु र्ति, हरि नाके ए नन ॥”

यही मी एसा ममाना है कि मन्वय के मीथ्य धीरे प्रभाव के धर्मकारण की धार कवि का ममान मन्वय है जिनका कि धर्मकार ममान की धीरे। अब विश्वराम के शरु-रूप पर दृष्टिगत कीजिए—

“धिरजायो जोरा मुर, कयो न सनेह मरीर।

का पटि, ए मूपभानुजा, ब हलपर क धीर ॥”

यहां "दुपभानुजा धीरे मन्वय शर म मन्वय है। इस मन्वय-याचना से यह मन्वय-मन्वय का मन्वय उदाहरण बन गया है। अब विश्वराम की मन्वय याचना देखिए—

“रस सिंगार मञ्जु किये, कञ्जु मञ्जु केन ।
मञ्जु रञ्जु हैं बिना सञ्जु गञ्जु केन ॥”

इसमें बिहारी ने धनुषास की सुन्दर छटा निकोर्स की है। बिहारी के कुछ रोड़े ऐसे हैं जिनमें इन्होंने एक साथ तीन-तीन पत्रकारों को स्थापित किया है, पर फिर भी रोड़े का स्वरूप बिहव नहीं हो पाया। उदाहरणार्थ यह रोड़ा देखिए—

✓ ‘रहित भृगु पटापली मरित दान मधु नीठ ।
मद-मद भावत जल्यो कुञ्ज-कुञ्ज समीठ ॥’

इसमें एक साथ ही धनुषास मधु, धीर शीला प्रादि सभ्यकार हैं। हाथी के मस्तानी नाम से धाने धीर कुञ्ज-मयी के बहने को मरकार की धाबाज रोड़े को पत्रों ही मुनाई देने पगनी है। यह कवि के तनुषु पत्रकारों की सुन्दर योजना देखिए—

✓ ‘अधर धरत हरि कं परत आठ लीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रग होति ॥’

पत्रकार-योजना से बाँसुरी का बिज स्पष्ट रूप में उपस्थित हो गया है।

यह बिहारी के धनुषास-विधान पर दृष्टिपात काजिए। किन्ना प्रस्तुत या उपमेय के लिए जो धनुषास या उपमा का विधान किया जाता है, उसमें कभी साधुरम धीर कभी तात्पर्य मान उठता है पर उत्कृष्ट धनुषास विधान नहीं समझा जाता है, जिसमें साधुरम धीर माधुर्य दोनों हो। यह धनुषास विधान-योजना धनीसंज्ञाओं में धाम्यमूर्धक धनुषास के द्वारा होती है। इतम उपमा स्पष्ट धीर उल्लेख मूल्य है। उपमा धीर रूपक में स्पष्ट धीर समन्वित रूपों में धनुषास योजना होती है, पर उल्लेख में धनुषास समन्वित रूप में ही यह योजना की जाती है। इस योजना से बड़ी कवि सफल होता है जिनकी धनुषास शक्ति हीन हो। बिहारी इस योजना में पूण सफल बिसाई है। उदाहरणार्थ बिहारी का निम्नानिद रोड़ा देखिए—

✓ ‘साधत आदे पोठ पडु, स्थाप ससाने ग्राव ।
मनी नाछमनि सैल पर आठपु पन्था प्रमात ॥’

यहाँ धुगरी वलि में स्वरुपोल्लेख की गई है जो पर्याप्त स्पष्ट धीर सुन्दर है। उपमा में साधुरम की साधना धनुषास रूप होती है इगोलिए बिहारी ने यहाँ बड़े धुगरी की प्रकृता समधीयता एवं प्रभाव की दृष्टि में की है, यहाँ ही उदाहने उल्लेख का सहारा दिया है, पर यहाँ रूप-उल्लेख में साधुरम की प्रभावना एती है, यहाँ उपमा धनुषास का ही उपयोग किया गया है। यथा—

“महज सेत रँचतोरिया, पहिरत अति छत्रि होति ।

सख चादर के रूँप लौं, जगमगानि सन खोनि ॥”

यहाँ बचि का सख सावरुय की ओर घबिह है इसलिये इसमें उपमासंकार की याचना ही घबिह उपयुक्त मान पड़ती है। बिहारी ने नीचि-विषयक मनक रोहे अयोपिण के रूप में ही लिख है। उदाहरणार्थ एक रोहा भाविए—

“स्यारथ, सुहनु न, अम घृया, दग्नि सिहगु विचारि ।

बास पराय पानि परि, नू पच्छीनु न मारि॥

बिहारी की अर्थकार-याचना की प्रकीर्णता दिखाने के लिए हमने ही उदाहरण पर्याप्त द्यागे। वैसे तो इनका बहुत ही कम दावे एत है, किन्तु बॉर्न-काई मानसार न हो। इनके कुछ दाहों में अर्थकार इनका स्पष्ट है कि उन्हे मकर अमकार का एव घोग् घृय भी अतन्ता म मिला जा सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्हां अर्थकार-याचना के लिए बाधन रखता वा। अर्थान अमकारा वा बाध्याययोगिता पर बड़ा मनकटा म कृति रता है अंग अर्थकारों की योजना तथा अग्रन्तुओं का विधान कर्त कृष् बाध्य के भाव और अन्तु के रूप गुणि घादि की अन्तर्भूति करने के लिए ही किया है। इस वृत्ति म बिहारी वा कृत्वि अन्त र्णाद्य है। बिहारी म हमें जो प्रतिमा दियाई देती है, वह मुख्यतः निम्न बाने बरारिन् है दा-यक कवियों में निम्न।

प्रेम का संयोग-पक्ष

अम के परिप्राक में अिम एत वा उत्पत्ति होता है उम अमरार कर्त है। इसकी सीमा विम्बुन है। इसका अमपन अतः भावात्ताए वा जाती है। इसका अगुगतमक पक्ष 'अंवाय अंगार' और अुनात्मक पक्ष 'विद्वन्म अंगार' कहा जाता है। इन दोनों अेशों के विषय अंगारमक के लीबिह और 'एवात्म' पक्ष भी मान जाने है। अब अिय और प्रेमी की कृत्तियों ममरुत विरव में निम्नकर अतन हा में अट्ट ही जाती है तब अम की तीन्ता लक म अशरीर हो जाता और उअका एकान्त स्वकन मानन कहा हा जाता है। इस अरार अम में एवात्मता भी अिय ई देनी है और वह लौबिह अंअन के अाय बननेबामा भी कृत्तियोअर होता है। भारतीय मनोभूति लौबिह जीवन के अेद में अतनबामे प्रेम का प्रमुक र्ता है। अम वा एकान्तिर स्वकन अन्वात्तुबायक और अिसाण नगी हा सकता है। बिदेसियों के अमरक में अान पर अनेके अरी के एकान्तिर प्रेम की पद्वि वा भी प्रभाव एत पर पड़ा। अोरुता अर अम वा एत ऐकाद्विह अर में ही मानन आया। अद्वि भारतीय प्रकाय कागों में प्रेम के दोनों स्वन्ता की म्यात मिया है तथानि मुख्यतः-रचना में लौबिह प्रेम वा स्थान अाय नही रह जाता इसलिये

इसमें होने ऐसे ही प्रेम का स्वल्प मिलता है जो प्रिय और प्रेमी के एकान्त जीवन को ही लेकर चलता है और जो धन्य, सुख या बाद के रूप में होता है प्रकाश सम्मीर या विश्र रूप में नहीं ।

महाकवि शूर ने भीष्म के जिस प्रेम को अपने काव्य का आधार बनाया उसमें उनके जीवन का संशय भी था और प्रतिक नहीं तो वह वृथा बनकर रह जाता मधुरा चाहे एक ही धीमित था ही । पर इनके परभाव के कवियों ने केवल साध ही बिधि सम्पन्न करने के लिए वृथा और राधा का नाम भर लिया है । इसीलिए इनके प्रेम का स्वर बहुत ही धीमित रहा और वह प्रिय और प्रेमी तक ही उभरता रहा । उनके काव्य का आधार एक और सादिका-सद या और दूसरी ओर विलास-सुख प्रेम । वे खडिवा की ही उक्ति में उल्टे रहे और उनका प्रेम व्यापक न हो सका । फिर भी इस नाम (सीतिकाव्य) में कुछ ऐसे कवि भी भरपूर हुए—जिनकी रचनाओं में प्रेम के विस्तृत रूप का भी बरत हो जाता है । महाकवि बिहारी ऐसे कवियों में एकमें हैं । हमें बिहारी के काव्य में विभाव-सद का रूप-बखन और धार्मिक सद एवं मुद्रा का विस्तृत बखान मिलता है । बिहारी ने जो वृथा-वर्णन किया है, वह भी संयोग के ही अन्तर्गत है, केवल वर्णन की उक्तिवाँ बियोग-सद म कही जा सकती है । उनका वृथा बखन भी संयोग के ही धारा है । बिहारी के काव्य में जो हमें परम सद समी प्रकार के संयोग का बखन मिल जाता है ।

प्रिय ही प्रतिक बन हम का आत्म बन जाती है । निम्नांकित दोहे में प्रेम के द्वारा उठाई हुई परी प्रेमिका के प्रेम का धार्मिक बन गई है—

‘उड़ी गुड़ी खलि ललन की, अगना अगना माह ।
पौरी छौं पौरी फिरति, सुयति—बचीली छौह ॥

जब कोई किसी मास में निमग्न हो जाता है, किसी के ध्यान में लसीन हो जाता है, तब वह उसी रूप में समा जाता है । कितने ही भक्तों के सम्मुख में इस प्रकार की बात बची गई है । जो रामकृष्ण परमहंस के सम्मुख में ऐसा बैठनाका गया है कि वे कामी को पहनाई जाने वाली मासा ध्यान-सुगतता और लसीनता की स्थिति में स्वयं ही पहिलकर मन हो जाते थे । बिहारी ने निम्न दोहे में प्रेमिका की इसी स्थिति का वर्णन किया है—

✓ ‘प्रिय क ध्यान गहा गहा, रही वही हौं नारि ।
आपु आपु ही आरसी, लखि रीकति रिक्कारि ॥

प्रेमी सर्वत्र प्रिय के साक्षि का समिप्य रहता है । उस कणों की कोई परवाह नहीं होती । उसके पैर में कौटू गड़ बना है । वह सोच रहा है कि प्रिय पाकर उसके पैर से कौटू निकाल रहा है—

‘इहि कटि मो पाइ गढ़ि, खीनी परसि जिबाइ ।
 प्रीति अतायत मोति सौं, मोत ओ काइयो भाइ ॥’

कोटा गढ़ने में वह प्रिय-मिथुन की कल्पना कर रहा है और अपने प्राण बचाने के लिए कटि का ही सहस्रान मानता है ।

बिहारी ने कल्या के वास्तव-जीवन की कुछ सीमाओं पर भी बड़े सुन्दर रोह लिखे हैं, जो भोग्य भू गढ़ क बड़े सुन्दर उदाहरण हैं । रामा दुष्प्र की मुरली छिपा देती है । उनके मिलने पर वह बार-बार देने को कहती है, पर देती नहीं । इसी मिस्र वह अपने प्रिय की बातों की मञ्जरिमा को पाल करती है—

“धतरस खासख खाल की, मुरली धरी लुकाइ ।
 सौह करे, भौहन हसै, देन कहे, नटि जाइ ॥”

प्रेम के धन्यवत् केवल खेदार ही नहीं पाती उचित ही पाती है । भावा की एक संज्ञा कथा में हा हाती है । बिहारी का यह रोह देखिए और कवि की उक्ति का कमाव देखिए—

“बास, कहा खाली मइ, खोहन खोहन भाइ ?
 खाल, तिहारे हगनु की, परी हगनु में द्वाइ ॥”

बिहारी सुन्दर उत्तर है और कितना बड़ियाँ कारण है यहाँ में खाली होन का ।

यह बिहारी के न्य-बखन पर कृष्टिपान कीविए । कप-बखन के धन्यवत् नन्दरिष्य और मुकुटाया धारि की भी-संज्ञा होनी है । नायिका के नैनों की तीरपता का प्रभाव देखिए कितना व्यापक है—

— “हगनु लगन सेधत हियहि, पिछल करत भग खान ।
 ए तरे सयतें पियम, ईदन तौदन खान ॥”

कप-बखन में कवि ने विविध धर्म प्रसंगों-कप-बखने किया है और उन धर्मों का धामुग्यों का भी । केवल नत्रों पर हा उम्मेनि धनेक बोहे विगो है ।

प्रेम में संवात-व्यथ के इस मीठिल विवचन में स्पष्ट है कि इत्याह इस पद्य की रामा विरागधारे धन्य छोड़-धाते शोनों-द्वारा उतार कर रख की है । मगसिख धारि क बगनु में परपरा का निर्वाह करते हुए भी वे एक स्वतन्त्र मदन को सेते बन हैं और जोशय से इहोंन उम मदन को पुनि को है । बिहारी ने गात्र धो-धोहे विगत करवा दिया कि कवि धीर-बाध को उमक गुनों के कारण मोरक प्राण हाता है, बहनु परिमाण से नहीं । बिहारी में वह प्रीतिमा भी देनी जाती है, जो कम क वास्तविक हसने की संज्ञा करने में-प्राप्य है । इस दृष्टि में बिहारी मध्ययुग के एक मन्मानमय कवि है । मुरक रचना में वे अपने-आप के मन्मोह-कवि हैं ।

बाम्बैरम्य और उच्छि-वैषिभ्य—

बाम्बैरम्य से उत्पन्न बाबा की प्रसिद्धि-शक्ति से है। बाम्बैरम्य निपुण नहीं कवि हो सकता है, बिस्का मापा-प्रद-पूछ-सम्भिकार हो जो शब्दों की शक्ति से परिचित हो जिसका निरीक्षण प्रति सूक्ष्म हो जो भावों को शब्दों के सुन्दर बीज-सं-कलापुष्ट रंग से बिहाने की निपुणता रखता हो और जिसके हृदय में अनुमति का विहाल कोप हो। ऐसे ही बहुत खिरे अपनी दुबिका से ऐसे बिज बिजित कर सकते हैं, बिनपर बुद्धिपाठ कर हृदय सोट-बोट हो बामे और मन नाच उठे। प्रमादमायी बाम्बैरम्य के लिए कवि का हृदयपत्र और कलापत्र का समान विकसित होना आवश्यक है। नेत्रों में कलापत्र की प्रमानता की पर हृदय पत्र का प्रायः प्रमान वा जिससे ने कल्पित कर्म्य के प्रेत समझे गये। बायूरी में हृदय-पत्र का पूरा विकास वा पर कला-पत्र की म्युता की जिससे उनका काम्य पूरा विकसित न हो सका। कहने की आवश्यकता नहीं कि विहारी में दोनों पक्षों का समान विकास हुआ वा जिससे इनका काम्य अधिक विकसित हुए और प्रभावकारी हुआ। इनके कलापत्र में बाम्बैरम्य खूब कमका है यही कारण है जो उनके एक-एक बोहे को पढ़कर पाठक बाहू ! बाहू ! कह उठता है और उसमें रस-बिभोर हो जाता है। इन्होंने जिस मस्तानी शैली में मुक्तक काम्य को रचना की है, वह अन्य कवियों को दुष्साध्य है। अतः यही बाम्बैरम्य इनकी कविता के प्रसार में सहायक हुआ है और मन्थक मुख में इनकी सतसई की लकीन टोका सिखने की प्रसिद्धि फैली गई है। संजीवनी भाष्य (५ पर्वादिह,) विहारी-रत्नाकर और बोधिनो इस मुख को मंडित टीकारे है।

विहारी के प्रत्येक बोहे का स्वतन्त्र मन्थ है कही बाधम्यता कही कन-बखान कही धतकार-कथा कही प्रेम की उदाहता कही उष्ण-कवण और कही इतिविराप का बिबल प्राति। इनके बोहे ऐसे कसे हुए हैं कि कही भा विवितता ही नहीं मिसती। इनका बाम्बैरम्य धर्मसोपन और रचना की कसावट का लेकर धरसर हुआ है। उदाहरणार्थ यह रोहा देखिए—

‘मेरी मजबाधा हरी, राधा नागरि सोह ।

या तनकी म्हाई परै, स्याम हरिख सुवि होइ।

यह बाहू इतना प्रसन्न है कि बिहारी ने इसके अनेक धर्म किए हैं और लीक यह कि सभी धर्मों का पढ़ते हैं। कवि का रंग-विराज का खान भी इसमें स्पष्ट है। एक उदाहरण और देखिए। हममें कवि ने विरोधाभास कित सुन्दर रंग से रख दिया है। इसका एक-एक शब्द प्रसन्न और बाम्बैरम्यप्रसन्न है। शब्दों का चमत्कार बाहू ही सुन्दर है और भाव किन्तु वास्तविक तथा अनुमतिपुष्ट है—

— “स्यों स्यों प्यासोई रहत, स्यों स्यों पियत अभाइ ।
सगुन सलोने रूप की, जु न बल दुखा मुम्काइ ॥”

~ बिहारी के बहुत ही कम ऐसे दोहे-होंगे जिनमें संस्कृत और संस्कृत न हो । इसीसे बिहारी की काव्य-साधना और बचन-भूमि की सामग्य का सुदोमान किया जा सकता है ।

यह बिहारी के उक्ति-वैचित्र्य पर भी बृहत्प्राण कीजिए । उक्ति-वैचित्र्य से हमारा तात्पर्य किसी व्यक्त को स्पष्ट करने की सुविधा या किसी मुद्रा, रूप धारि को अपनी निरीक्षण शक्ति से निरूपित करने की सामग्य से है । शब्द और यौग्य दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण न कुछ दिने-बुने सीमित शब्दों में दोनों की अभिव्यक्ति कर देना बिहारी के समान महान् प्रतिभाशाली कवि का ही काम है । इनको यह सूची इस दोहे में देखिए

“छुटी न सिसुता की मल्लक, मल्लक्यों जोषतु अंग ।
वीपति वह सुहन मिलि, विपति ताफता रंग ॥”

मन का रूप में मिल जाता, किन्ती सुन्दर उक्ति के साथ इस दोहे में बिहारी ने बतलाया है—

“कीजें हैं कोटिक अतन, अथ कहि फाईं कौनु ।
मो मन माइन रूपु मिलि, पानी में को लौनु ॥”

बिहारी के उक्ति-वैचित्र्य के ऐसे न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं पर स्वाभाविक कारण उनको विशेषता और सामग्य समझने के लिए इतन ही उदाहरण पर्याप्त हैं । यही इनका बिहारीत्व है जो इनको अन्य कवियों से पृथक् करता है और यही वह विशेषता है जो पाठकों को सदैव आकर्षित करती रहती है ।

बिहारी का भाषा

ब्रजभाषा बहुत प्राचीन काल में काव्य को भाषा रही है और इसका चरम भी विस्तार रहा है । राजस्थान तक में इसी भाषा में काव्य रचना की जाती थी । यही कारण है जो इस भाषा का नाम 'रिजत' भी है और प्रारम्भिक काव्य भाषा 'रिजत' नहीं पाठी है । कुन्दनगढ़ मध्यप्रदेश और प्रकृत प्रायद्वीप में भी यही भाषा काव्य के लिए प्रयुक्त होती रही है । पश्चात् के पूर्वी भाग तक में यही 'काव्य भाषा' के रूप में पहली की जाती रही । ब्रजभाषा के इसी विस्तार के कारण उमम कुछ अन्य भाषाओं के भी शब्द या गये हैं और यह वे उसके ध्यान ही हो गये हैं । बिहारी ब्रजभाषा का प्रयोग ही महारथि सुरदास भी न कर सके । ब्रजभाषा का शब्द रूप

सबसे अधिक जगजगत् में ही मिसता है। बिहारी की भाषा भी कुछ कम नहीं है, उसमें प्रत्येक पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं प्रबन्धी भाषा के शब्द भी बिहारी की रचना में देखे जाते हैं, 'हूँ' के लिए 'घाहि' प्रबन्धी भाषा का ही प्रयोग है। कहीं-बोली के अन्त और क्रियापद भी ठीक प्रबन्धी की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। बुन्देलखंडी भाषा के शब्द तो बिहारी की रचना में बहुत अधिक हैं, जिसका कारण संभवतः उनका वाक्यकाल बुन्देलखंड में ही बीछता है। उनके अन्तही करवी पाठको स्त्री धारि शब्द बुन्देलखंडी ही है। उनकी रचना में कुछ बुन्देलखंड की लोकभाषा के भी शब्द मिलते हैं। जैसे 'बैर-कोर' आता पीछे पीछे धारि ऐसे ही शब्द हैं।

इस प्रकार बिहारी के काव्य में हमें जगभाषा के साथ कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का मिश्रण मिले ही मिले पर इसमें संदेह नहीं कि इनके समान कहीं हुई और कुछ प्रयोग कदाचित् ही किसी अन्य कवि की मिले। दूसरे इन्होंने कहीं-कहीं शब्दों की कुछ दोहरा-मरोड़ प्रकरण की हैं, पर ऐसा करते भी उन्हांन व्याकरण के नियमों का ध्यान बराबर रखा है।

बिहारी ने अपनी रचना में सामासिक पदाधि-पद की है, जिसमें स्पृतपदत्व बोध देने का उद्यम सब रहता है, पर बिहारी इस बोध से सर्वथा मुक्त हैं। इन्होंने छोटे-छोटे समासों का ही प्रयोग किया है। भाषा में कस जाने के लिए तथा उसकी व्यंजकता बढ़ाकर छोटे छोटे में अधिक भाव भरने के लिए सामासिक पदाधिसी का सहारा लिया है। कवि की यह सामासिक शैली सरल और सीधी है। इनकी पदाधिसी भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही बसकर होती है। बिहारी ने जिस प्रकार कभी हुई भाषा लिखी है, उसी प्रकार उनमें वाक्यांश की स्थिति भी मिलती है जो इनके भाषाधिकार की ओर संकेत करती है। इन्होंने प्रत्येक शब्द का प्रयोग उपयुक्त स्थान पर ही और किसी-कहीं उद्-रथ विरोध से ही किया है। भाषाय उद्यम शक्ति के शब्दों में 'बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित और शब्दों के पक्ष में एक निश्चित प्रणाली पर है।

वीर काव्य की परम्परा

भारतीय साहित्य में वीरकाव्य का परम्परा बरों में धारण होती है। अश्वमेध के एक मूत्र में मृग्यु वंश के राजा मुद्राम की विजय तथा एक दूधर मूत्र में त्रिकोणम के द्वारा राजा मंदर का पराजित करने का उल्लेख है। अश्वमेध के कुछ अन्य स्थानों में भी हमें युद्ध-वृत्त मिलता है। इनके परबान् शतपथ में एक धरवमेध यज्ञ का वर्णन प्राप्त है। इनके धनन्तर हमें महाभारत के अनेक स्थानों में वीर-काव्य मिलता है जिनमें मूल वीर भावों द्वारा राजाभा का प्रशंसा के माता का मान दिया गया है।

वरिष्ठ संस्कृत में यज्ञ-तंत्र वीरकाव्य का रचना ठो मिला जाती है पर उमम एमे स्वगत काव्यप्रयोगों का प्रसार है जिनमें वीरकाव्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वृष्टि में लौकिक संस्कृत में रचित बास्मीकि रामायण प्रथम महाकाव्य है। युद्ध-वृत्त के प्रकरण में राम और रावण दम के प्रमुख योद्धाओं का एकदोसत वर्णन है। भारतीय साहित्य को स्पष्ट वीर गुणवस्तिष्ठ वीरकाव्य की परम्परा इनो अर्थ में धारण होती है। बास्मीकि के परबान् महाकवि वाणिज्य-द्वारा मुद्रित रघुवंश में वीरकाव्य उपलब्ध है किन्तु कासिकाल के किसी भी अर्थ में हम वीरकाव्य की परम्परा का उल्लेखनाय विषय नहीं मिलता। बास्मीकि के परबान् मार्कण्डेय के साहित्य में ही हम इस काव्य का स्पष्ट विकास दिखाई देता है। उन्होंने "द्विपानाशुनीय" में अश्वमेध के वाय-वचनन का प्रभाव दिखाने का कहा है—

दिश ममूहसिद्ध विस्तिपन्निब,
प्रमारधराशुल्यन्निधानिलम् ।
मुनिश्वधालु अयकालदाहण,
चिति मरला यल्यन्निबनुमिः ॥

गादीय धनुषपाटी अश्वमेध के बाणों में अर्णों निस्तार्ण विस्तिष्ठ हा जानो है। मूल प्रकाशनीय हा जाना है बाणुश्वानुत हो जाना है वीर युद्ध परतों मरिण वीर उगता है। एसा ज्ञान पढ़ता है कि अश्वमेध में प्रत्यय हो जायगा।

महम्मति के अन्तर-रामचरित के अनुप अंक में सब की बारता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

भ्या अश्विया यल्यितोत्कृष्टकोटिदृष्ट
मुद्रुभूरिपोरदापधधरधोपमतम् ।

प्रासप्रसक्त—ह्रस्वन्तकत्रय-
जुम्भादिबन्ध विफटोवरमस्तु आपम् ॥

इस श्लोक में सब ध्वने वगुण को हाव में लेकर कहा है कि यह वगुण प्रत्येक-
स्त्री जिह्वा से निपटा हुआ ठीके कोटि रूप बाँध वाला भयानक बर्त-बर्त शोष
करनेवाला घसने से पूरा भासकत हसते हुए मम के मुखवर्ण की बँसाई का अनुकरण
करने वाला विफट उबर वाला हो ।

संस्कृत के कुछ धम्म प्रसिद्ध नाटको में भी बीरकाम्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त
है । जदाहरनाथ भट्टनारायण द्वारा रचित “बेबीसहार” नाटक में पाँचवें की बीरता
का सजीव बखाना देखा जा सकता है । इस नाटक के प्रथम प्रंक में भीम सहदेव से
कहते हैं—

मध्नामि कीरवशात् समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्त ।
ससूर्ययामि गदया न सुयोधनोः
सधि करोतु भवता नृपतिः पयोः ॥

“मैं मुझ मुझ में ही कीरवों का न सहार करूँगा और न दुःशासन के हृदयका
रक्त ही पान करूँगा । अपनी बरा से सुयोधन की दोनों बधायों को भी सूर्य
न करूँगा । युधिष्ठिर चाहें तो कीरवों से सन्धि कर लें । भीम के इस कथन में बड़ो
मिठ है । वे युधिष्ठिर द्वारा कीरवों से सन्धि करने के पक्ष में नहीं हैं । ‘बेबीसहार’
नाटक में कुछ धम्म स्थानों में बीर-काम्य का सुन्दर विकास दिखाई देता है ।

संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के भी कुछ बन्ध ऐसे हैं, जिनमें
हम वैदिक काल से प्रारंभ हुई बीरकाम्य की परम्परा का क्रमबद्ध विकास देख पाते हैं
किन्तु हिन्दी में इस परम्परा का प्रवेश संस्कृत से ही हुआ है । यद्यपि हम प्राकृत और
अपभ्रंश का जसोब न कर अपने मूल विषय पर ही विचार करेंगे ।

राष्ट्रिय हिन्दो-साहित्य का धारम्भ सातवीं शताब्दी के मध्यकाल से हो जाता है
तथापि धारम्भ के लगभग चार सौ वर्षों में बिना साहित्य का निर्माण हुआ वह बौद्ध
साहित्य और जैन-साहित्य ही था । इस साहित्य के निर्माण में बौद्ध और जैनकवि थे ।
यह साहित्य अपभ्रंश भाषा का साहित्य कहा जाता है । इन कवियों ने प्रचार की दृष्टि
से कुछ ऐसे चरण साहित्य का भी निर्माण किया था जिसे हम उस काल की जनभाषा
का साहित्य कह सकते हैं । इसी साहित्य में हमें हिन्दी का प्रारंभिक रूप मिलता है । इस
काल का सबसे प्रथम बीरकाम्य में वह साहित्य मिलता है, जो बीरकाम्य नाम-साहित्य के
नाम से प्रसिद्ध है । इन पाचार्यों में पुष्योत्तम रावो लुप्तन रावो, भीमदेव रावो हम्मीर

रामो धान्दुर्लभ आदि का स्थान है। इन ग्रन्थों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भाग्य आदि के सम्बन्ध में मने ही विद्वानों में मतभेद हो किन्तु हिन्दी के काव्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि में इन ग्रन्थों का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन ग्रन्थों में 'लुमान रामो' बीरकाव्य की प्रथम रचना है। इसकी रचना ६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में क्षमपति बिजय नाम एक ब्राह्मण कवि ने की थी। इन रामो से मायूम होता है कि बिसौड़ के राजा लुमान ने बगदाद के खलीफा अलमामू की सेना से युद्ध किया था। यह वह काल है जब उत्तर भारत और राजस्थान में स्थित छोटे-छोटे राजा परम्पर युद्ध काल में ही गौरव अनुभव करते और अपनी बौद्धिक-वैयक्तिक क्षमताओं से विद्वानों को भारत पर आक्रमण करने का प्रयत्न देखते थे।

"बीससहस्र रामो मरुपति नासु-शाय रचित एक मीतिनाम्य है। १० रामकाव्य शुभ इस ग्रन्थ का रचनाकाल मन्वन् १२१२ वि मानने है। इस ग्रन्थ की कथा क क्षुमार बिसौड़ के राजा बीससहस्र का विवाह मालव के परमार राजा भोज की पुत्री राजमती से हुआ था। बार काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्व नहीं है।

पूर्वीराज रामो निरखय ही बीरकाव्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महाकवि जय बरदाई ने महाराज पूर्वीराज के जीवन-गौरव का माया १६ सर्गों (समयों) में लिखा है। जय और पूर्वीराज के जन्म तथा मृत्यु के दिन एक ही बनताए जाते हैं। जय बरदाई पूर्वीराज के राजकवि ग्रामण्य और मित्र थे। पूर्वीराज रामो' सगमग दाई हजार युद्ध का बृहद् ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मार्वा अन्तय दोहा श्रेष्ठ तामर आदि छन्दों में लिखा गया है। इन ग्रन्थ का अधिकारा नाम पूर्वीराज की शौरता के गान में भरा हुआ है। 'कम्मबन' यही हिन्द-काव्य-साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें हमें बीर काव्य का विविध रूपों में विकास मिलता है। उदाहरणार्थ यही इस ग्रन्थ का एक अत्यन्त उच्चतर दर्जा का पर्वान श्लोक—

म फो हार नह निर रहहु न रहहु न सुख,
पर उर भर परत फरत अनि जुद्ध महा पर।
कही कमथ कहि मत्य कही फर चरन अन मिर,
कही फय पहि तेग कही मिर जुटि फुटि उर।
कही दन मन हय सुर पुराणि कुम भमुड रड सय,
हिन्दुधान गन भय मान भुय गहिय तग चहुआन जव ॥

"जयकाव्य प्रकाश दशो नाम की एक अल्प काव्यरूपि है। यह कवि मन्वेणार की रचना है। इसका रचना-काल संवत् १००१ वि के समयमाना जाता है। इसमें कवीन्द्र-शैल जयकाव्य राधोर का यशोमान किया गया है। कहे हैं कि मट्टकेदार

सहस्राब्दीगत गोरी का राजकवि था। “जय मयंक जय-वर्तिका” भी इसी काल का एक ग्रन्थ है। इसकी रचना कवि मधुकर ने संवत् १२४ वि के लगभग की। राजा राममें जयजय की शोरता का गान किया गया है।

प्राणुचंड’ भीरु काव्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना सं १२३ वि के लगभग कवि जगन्निभ ने की थी। इसमें महोबा के भविष्यति परमर्षिदेव तथा वहाँ के बीर बाँकुरे घासूहा और ऊजस की बीरता एवं युद्ध का वर्णन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना जनसामान्य में भीरु भाव जागृत करने के लिए ही की गई थी इसीलिए इसमें जनभाषा का रूप स्वीकार किया गया है। जो संकल्पता है कि धाव जिस भाषा में यह ग्रन्थ प्राप्त है, उससे मूल ग्रन्थ की भाषा कुछ भिन्न नहीं हो। इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध प्रस्तुत करने का समय सर चांस इन्डियट की है। उन्होंने सं १६२२ वि में कुछ चारणों के सहयोग से इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया था। यह इतना लोकप्रिय ग्रन्थ है कि धाव भी बर्गाक्षरतु में ग्रामों के लोग इसे मूढ मूढ कर गाने देखे जाते हैं।

“हम्मीर रामो’ भी बीरकाव्य की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता भी शाङ्कर कहे जाते हैं। इन्होंने महाराज हम्मीर देव के बल विजय और शौर्य की प्रशंसा में इस ग्रन्थ की रचना वि की १४ वीं शताब्दी में की थी। ग्रन्थ के एक स्थान में इन्होंने हम्मीर देव के शौम का बखान करते हुए लिखा है—

पद्मभग वरमठ धरणि तरुणिरह धुशिलाभ भविभ ।
कमठ पिट्ट टरपरिभ, मेठ महर भिर कविभ ॥
कोहे जलिय हम्मीर धीर गभजुह सजुते ।
कि अछ कट्ट हा कद् मुकिह मेकित्रभ के पुते ॥

शाङ्कर महाराज हम्मीर देव के दरबार के एक कवि और धायुर्वेद के विद्वान् व। हम्मीरदेव को मृत्यु घनाजहोन विमर्षी से मुक्त करने हुए संवत् १३४७ वि में हुई थी।

संवत् १३४२ वि के लगभग रचित “विजयपाल रामो’ भी बीरकाव्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह चारण कवि लखुसिंह मट्ट की रचना है। इसमें कटीली के राजा विजयपाल-दारा लड़े गये युद्धों का काव्यमय बखान है। धावाक रामचन्द्र दुन्द ने विद्याधर नामक एक कवि-द्वारा रचित एक बीरकाव्य ग्रन्थ का धीर भी सम्नेन किया है। यह ग्रन्थ कन्नड के शरीर राजा जयचमर के प्रताप और शौर्य-बखान पर आधारित बताया जाता है। यह ग्रन्थ अप्राम्य है। प्राकृत पिबल-भूष’ ग्रन्थ में इस बीरकाव्य ग्रन्थ की कुछ रचनाएँ मिलती हैं जो निम्न प्रकार हैं—

मध्व मञ्जिष्ठा बगा भगु कर्षिगा, सेलंगा, रणमुक्ति पत्ते ।
 मरहट्ठा, पिट्ठा क्षमिष्ठा कट्ठा मोरट्ठा भध्व पाष्ठा पत्ते ॥
 चम्पारण कपा, पञ्चभ मम्पा, श्रोत्वा आत्मी जीम हरे ।
 कासासर राणा किष्ठा पञ्चाना, बिजमाहर मण मविषरे ॥

ये सभी चत्वारण प्रायः हिन्दी-साहित्य के धारि काल की हैं। इसके परवान् भारत की राजनीतिक स्थिति के कारण समस्त देश घण्टब्यन्त हो गया। राजपूत राजा प्रायः अस्तित्व-बिहीन हो गये। उत्तर भारत में बहिष्ण भारत तक मुस्लिम राज्य का घातक फैल गया। इस समय न भारतीय शासकों में कोई बल रह गया था और न भारतीय जनता ही बिदेसो घातक से अपनी रक्षा करने में समर्थ थी। इस स्थिति में ईश्वर ही इस देश का सहायक था। जनता अपने प्राणको अथवा पा ईश्वर की धाराधना की धार प्रवृत्त हुई। उसका शासकों से कोई निरूपण मन्थक न रहा। देश की इस दशा का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। बीर साहाय्य के साथ प्रवाहित होत बासी बीरकाव्य पाठ का प्रवाह मंद पड़ गया और इसके स्वागत में मन्थिकाव्य-पाठ का प्रवाह बृद्धिगोचर होने लगा। समयमें १०० वर्षों तक काव्य की यज्ञी धारा हिन्दी में प्रवाहित होनी रही जिससे बीरकाव्य की परम्परा का कोई उत्तरवर्तीय विकास समकाल में न हो सका। राम और हृष्ण इस काव्य की जनता की धाराधना के प्रमुख धारा बन गये। अन्त बहिष्णों का प्रानुर्भाव हुआ। उन्होंने देश की अल्प जनता को निपुण ब्रह्म की उपासना का संदेश दिया किन्तु यह उपासना जनमानस के अनुकूल सिद्ध न हो सकी। परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य में सगुणधारा का प्रवेश हुआ। सम पाठ के प्रमुख प्रवर्तक सूरदास और तुलसीदास ने क्रमशः हृष्ण और राम के चरित्रों का गान कर धरने काल को जनता को उनके सार्वभौमिकारी और बन्ध्यावधारी स्वरूप में परिचित कराया। इन चरित्रों न धरने काव्य-धारा धरने युग की जनता का इन महापुरुषों के जीवन-चित्र-धारा को संदेश दिया और उनके भवावह सामाजिक धार्मिक तथा राजनैतिक स्थिति में आ पथ प्रदर्शन किया उगमे उनके निराशा और शून्य-हृदय में धारा और उत्पान का अनेक प्रवाहित हुआ। राम और हृष्ण के चरित्र-चित्रण में ही इन दोनों बीर महापुरुषों के बल-विक्रम और शौर्य का प्रकाश हुआ है। इन रूप में हिन्दी की बीर काव्य-परम्परा का विकास मन्थि-व्याज में भी मंद गति में होना रहा। इस काम में हृष्ण काव्य की अनेक धम-धाम में हम बीर-काव्य का अद्विष्ट विकास दिशा में देना है। माध्यामी तुलसीदास ने राम-रावण-युद्ध-प्रसंग में राम नामक हनुमान् धारि के शौर्य का मध्य चित्रण किया है। असाहस्य गण-राज्य युद्ध की विन्नाकिन पंक्तिवाँ देवो वा मज्जो है—

भय कृप जुद्ध पिरुद्ध रघुपति शोन भाषक कममसे ।
 कोदह धुनि अति पद सुनि मनुजाइ भय माहन मसे ॥

जातो वरकृत है करी अस्त्रिस खल की।
 किया वीरि भाव उमरावन अमीरन प,
 गई कट भाव सिगरेई विली वल की।
 सुरख करई कियो वाह पावसाही उर,
 स्वाही आय सब पावसाही मुख मखकी।

“सुत्रसास वरकृत” में केवल इस कविता है, किन्तु सभी बीरकाम्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें भूपल ने महाराज सुत्रसास के वरत विक्रम धीर शीम का समीप चित्रण किया है। एक कविता देखिए—

रैया राव चंपति का चढ़ा सुत्रसास सिंह,
 मूयण भनत गजरास कोम अमकें।
 माहों की घटा मी वकि गरव गगन भिरे,
 सेहें समसेरें फिरें वामिनि सी वमकें।
 आन उमरावन के आन राजा राजन के,
 सुनि सुनि उर छागै धन कैसी धमकें।
 वेहर पगारन की, अरि के अगारन की
 खापती पगारन नगारन की धमकें।

भूपल महाराज शिवाजी धीर महाराज सुत्रसास के समकालीन थे। शिवाजी का जन्म १ अगस्त सन् १६२७ को धीर स्वयंवास ४ अगस्त सन् १६८ ई को हुआ था। माधव रामचन्द्र शुभत के मतानुसार भूपल का जन्म-संवत् १६७० (सन् १६१६ ई) है। श्री शिवसिंह सेनर ने भूपल का जन्म संवत् १७१८ वि० माना है। यदि सेनर जी का मत मान लिया जाय तो भूपल शिवाजी के समकालीन नहीं उल्टे जबकि जन्मा शिवाजी के दरबार में रहना इतिहास-सिद्ध है।

इसी काम के बीर काम्य के द्वितीय प्रसिद्ध कवि गोरेनाथ है, जो “नाम” के नाम से हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है। इसका जन्म-संवत् १७१५ वि० माना जाता है। ये मुख्यतः गोपीय ब्राह्मण थे। इन्हें महाराज सुत्रसास का पाठ्य प्राप्त था। सुत्र-प्रकाश सुत्रकीति वर हवाय उरविनीव विष्णु विनाय धारि इसकी कल्प-कृतिपौ है। इनमें से “सुत्रप्रकाश” इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में महाराज सुत्रसास की बंठावनी वंश का इतिहास एवं उनके राज्य-विस्तार, पराक्रम धारि का काम्यवत् वर्णन है।

‘सुत्रप्रकाश’ ग्रन्थीय अध्यायों का मुख्य काम्य-ग्रन्थ है। इसकी रचना दोहा चौपाइयों में की गई है। प्रथम दो अध्यायों में बुधेता काम्य की बंठावनी इतिहास

आदि तृतीय अध्याय में छत्रसाह के पुत्र पद्म का कथन। एवं इसके परचातु के अध्याय में छत्रसाह के जीवन का विकास वर्णित है। छत्रसाह-द्वारा सड़ मय युद्धों में केशवराय उन युद्धों में बहादुर चरमहीन की हमीय की सम्मुख मय बहुलोम की आदि के साथ किए गए युद्ध प्रमुख हैं। 'कवि नाम' में तीर बहादुर के साथ सड़े जानबाने युद्ध का वर्णन करण हुए लिखा है—

गोपाचल में खड्गमल माण्यो । सैन्धवनोपर स्यो रिस राण्यो ॥
जोरी फौज निसान बनाय । घूमघाट पर उमड़त आये ॥
त्यां छत्रसाह वीर रण जाड़े । मनमुक्त मय जूम को ठाड़े ॥
माथी मार कर अनुराग्यो । बालन मार मार मौ लाग्यो ॥
सेन्ह डकेलनि ठल वध, पिले सुन्दला चार ।
महा मयानक भौंति लख्य परानि डगमग मार ॥

'कवि नाम' के परचातु हमें हिन्दी में कवि वीरर प्रपचा मुरलीधर का वीर काव्य मिलता है। इनका काव्य-काल म० १७६७ वि० के लगभग माना जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका काव्य-काल मं १७१७ के लगभग मानते हैं। 'जगन्नाथ' और 'कवि विनोद विरस इनकी रचनाएँ हैं। इनमें प्रथम कृति ही अधिक मूल्यपूर्ण है। इसमें रिसनो के जहाँदारशाह और बगाम के बादशाह फत्तखियर के बीच होनेवाले तीन युद्धों का काव्यरूप बयान है।

जहाँदार शाह मूलतः सम्राट् बहादुरशाह का पुत्र था। इनका वास्तविक नाम मोहीबुद्दीन था। पिता की मृत्यु होत पर इनका अपन दोनों भाई रछौठरशाह और शाह जहाँ के नाम धर्मीपुरशाह पर दाव्यमन कर दिया। बहादुरशाह अपन इसी पुत्र को अधिक चाहते थे। उनकी मृत्यु के समय भी यही उनके पास लाजौर में था। वह अपन तीनों भाइयों में युद्ध करते समय अपन हाथों के बियर जान स राखी में डूबकर मर गया। इनके परचातु मोहीबुद्दीन अपने भागों भाइयों का मारकर जहाँदारशाह का नाम में रिसी के दरत पर प्रामाणिक हो गया। बगाम का सुबेदार फत्तखियर धर्मीपुरशाह का पुत्र था। उनका अपन पिता को मृत्यु का बन्ता मन क निरु शिम्मी पर दाव्यमन कर लिया। "जगन्नाथ" इसी समय में तीन युद्धों के बयान में पूरा है। फत्तखियर इस काव्यरूप का नायक है। कवि ने उसके युद्ध-वीरता और बहादुरी का बड़ी धोखिबनी भाषा में बयान किया है। उन्परचातु के पंक्तिवाँ बनी का मरती है—

भासनि मो भाला भिग्धा बरछा मों धग्छानि,
भरे समसुर सममेरनि मुस्यग में।

काल का बीरकाम्य राष्ट्रीय जागृति का संकेत लेकर प्रवर्तित हुआ फिर भी इस काल में स्वतन्त्र बीरकाम्य की रचना बन्धन रही। बाबू मैथिलीशरण गुप्त का विचाराव बन्धन प्लासी का मुक़दमा जबइस बन्धन रवानामायायक पंडित को 'हमसीपाटी' बा० रामकुमार बर्मा की 'बिठौर की बिठा' की सामग्य त्रिपाठी 'प्रवासी' का "धनगत मद्राकाम्य" धारि इस काल की उत्तमोत्तम बीरकाम्य की कृतियाँ हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रागुक्त काल में बीरकाम्य का प्राथमिक राष्ट्रीय जागृति का संकेत लेकर हुआ था। द्वितीय के कवियों ने राष्ट्रीय कायरण का कार्य राष्ट्रीय भावना से पूरा तमे-तमे गीतों की रचना कर किया। इन गीतों में वे हम केवल उन्हीं ही बीरकाम्य के प्रथमतः स्वान दे सकते हैं जिनके द्वारा सामान्य जनता में देश की मुक्ति के लिए मर मिटने की भावना भरने का प्रयत्न किया गया था। अन्य रचनाएँ देश के राष्ट्रीय कायरण में उदात्त मात्र थीं। इसके पूर के बीरकाम्य में बुराएँ पर धाक्रमल करने और उनके प्राचा लेने की भावना थी। इसके विपरीत प्रागुक्त काल के बीर काम्य म दूसरों का धाक्रमल भेजने और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने प्राध देश को धमना निहित है। बुराओं के प्राध लेकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में वह बीरता नहीं है जो बिना बुराओं के प्राध लिए धारभोग्य के द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति में है। यही बीरता का विमुक्त स्वरूप है जिसे भारतीय देश जनकों ने यहाँ बनने वाले स्वतंत्रता-संग्राम में प्रवर्तित किया। इन भावनाओं से पूर काम्य को हम "राष्ट्रीय बीरकाम्य" की संज्ञा से विमुक्ति कर सकते हैं।

इस बीरकाम्य के रचयिताओं में पंडित माकन लास बगुबेरी नवीन किलकर, सोहन लाल त्रिवेदी मुपडा कुमारी श्रीहान धाब धरणी हैं। बगुबेरी की 'द्विज क्रिपेटिनी' और द्विज तरतिली में ऐसे अनेक गीत संघीत हैं। उन्होंने अपनी एक रचना में देश को तस्कों को संबोधन करते हुए कहा है—

रख दे ? या ठे नसों में सुख पानी।
जौन कर तु शीस द दे कर खपानी ॥

वे अपनी एक अन्य रचना में मुनकों को शक्ति का संकेत देते हुए कहते हैं—

पद बस पद बस, पक मत दे ! बखिपय क सुवर जीव ।
उब कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नीव ।
बढ़-बढ़े य शिखा-सुद मग रोके पद अचेत ।
कन्हें कौय तू पवि जाना है, तुझे मरण के इत ॥

पंडित बाबुलाल शर्मा 'नवीन' भी बगुबेरी को उक्त स्वयं ही राष्ट्रीय संग्राम के एक बीर शैलिक रहे हैं। उन्होंने इस संग्राम के दिनों में विश्व राष्ट्रीय बीरकाम्य की रचना

की यह धारणा महत्वपूर्ण है। उन्होंने देश के हर शायद व विप्लव जन शक्ति का जामन करते हुए कहा—

आ भिस्त्रमगे अर पतित मू ओ मज्जस्म अर चिर-शोहित,
मू अन्वड मडार शनि का, जाग अर निद्रा-मम्मोहित।
प्राणों का लड़पाने वाली हुकारों से जल-धल भर व
अनापार के अबारों में अपना खलित पलीता कर व।

श्री रामधारी सिंह 'दिग्दर्श' ने अपने देश का परबोधना की मोह-शु लामा में प्रावड जन-मन्त्रक देवधर पत्रग के स्वरों में कहा—

नही जात जा मकता देख, चिरम में मुझा तुम्हारा मास।
बदना मधुका भी कर पान आज उगलूंगा गरल कराल।

'हुंकार' दिग्दर्श जी को बीर भावों से पूरा राष्ट्रीय रचनाओं का मकसद है। वे इन मंत्रमय की एक रचना में क्रांति का उग्र रूप चित्रित करते हुए कहते हैं—

असि का नोको से मुकल जात, अपन मिर उसे मजाती है,
इरहर का आमन छान कूड में आप लड़ी हो जानी है।
धर-धर करते कानून, न्याय शर्गत पर इन्हें नषाता है,
भयभीत पातका धर्मों से अपन पग में धुलवाती है।
सिर मुझा पगड़ी सरकारों करनी मेरा अर्पण-पूजन॥

वतमान कर्मीन राष्ट्रीय बीर-वाक्य की परम्परा में पीछे मोहनपाल द्विवेदी की रचनाओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। "भैरवी जनकी हनी प्रहार की रचनाओं का मकसद है। इन मंत्रमय की एक रचना की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

औसु धरमात पावेंगी,
जलता जीवन धड़ियाँ।
बिना चढ़ाय शीरा नही,
दुठेंगा मौ की कड़ियाँ।

भारतीय स्वतंत्रता संघाम में हमारे देश की धनक महिलाओं का भी महत्वपूर्ण योग रहा। स्व० मुमतासुमारी चौधरी ऐसी ही बीर महिलाओं में से एक थीं। उन्होंने अनेक बार राष्ट्रीय घाण्टतनों में भाग लिया और वागवह की मन्त्राएँ मरीं। उन्होंने माधपुर के 'भंडा-मन्त्रागढ़ के प्रबन्ध पर मर्यादा का लम्ब करते हुए जो बीरता प्रदर्शन की वह भारतीय बीर नारियाँ के इतिहास का एक स्वर्णिम पन्ड है। उनका 'झांसी वाली लक्ष्मी' के प्रतिरिधन धनक बीर वाक्य में पूर्ण रचनानों की है। उनकी ये रचनाएँ 'मन्त्र' में संलग्न है। उनके एक बीर गीत को कुछ पंक्तियाँ हैं—

सुनूँगी माता की आवाज
 रहुँगी मरने का तैयार ।
 कभी भी सम बगी पर दुब,
 न जाने दूँगा अत्याचार ॥
 यक्षा में हो जाऊँ बसिदान,
 मातृ-मन्दिर में हुई पुकार ॥

धार्मिक कालीन वीरकाम्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इतने ही उब
 हरण पर्याप्त होंगे । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी क जिस वीर काम्य की परम्पर
 का सुवर्णकाल वीर-नामा काल में हुआ वह अमर विकसित होती हुई वर्तमान काल
 तक आई । हिन्दी का यह काम्य-साहित्य भी निश्चित रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

हिन्दी-साहित्य में नव युगारम्भ

उपोद्घात

पूर्व-मध्यकालीन कृत्य का यह उत्तर मध्यकाल में आकर 'शृंगार काव्य' के रूप में विकसित हुआ। धीरे-धीरे राजाकृत्य से बेवकूफ की भावना निराहित होगी, यही धीरे-धीरे प्रेमी नायक-नायिका के रूप में उनकी सीमाधारा का चित्रण होना लगा। हिन्दी का काव्य-साहित्य इतना विकसित हो गया था कि काव्य को बपरेशा निर्धारित करने और उसके धर्म-प्रयोग का विचित्रण सँभारने के लिए 'रीति-ग्रन्थों' का निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और परिणाम-स्वरूप 'रीति-काव्य' का सूत्रन धारण हो गया। इस प्रकार मध्यकाल में शृंगार और राति-काव्य का ही प्रचुर परिमाण में प्रगमन हुआ। रीति-ग्रन्थों में जो शृंगार काव्य की स्पृहा न रही। रीति-सिद्धान्तों का विवेचन करने के पश्चात् उदाहरण-स्वरूप त्रिभुज काव्य की रचना की गई वह अधिकतम शृंगार में ही पाया गया। रीति-ग्रन्थों में अधिकतम शृंगार रस के निरूपण पर ही मजबूत हुए ग्रन्थों को ही इन इन रस के निरूपण में शृंगार-काव्य का प्राधान्य स्थापना की गई। इन प्रकार शृंगार-काव्य की रचना का अर्थ में हुई। एक ही रीति-ग्रन्थों के अन्तर्गत धीरे-धीरे राजा-महागजाधारा एवं मोर उमराओं की विमाना भावनाओं की मूर्ति के लिए स्वयं रूप में। मर्यादा यह कि हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल एक प्रकार से शृंगार-काव्य का ही युग रहा।

इन काल में त्रिभुज धीरे-धीरे रस का काव्य विकसित हुआ उसका सामान्य जनता से कोई सम्बन्ध न था वह उच्च वर्णों के शासकों जमींदारों और धनवानों तथा कुछ साहित्य ममताओं का ही काव्य रहा। इस काल में निम्नलिखित विद्यायें धीरे-धीरे विकसित काव्य-साहित्य जन-जन को अपना धार साहित्य बनाने में प्रयत्न रहा। सामान्य जनता अभी भी पुराने-पुराने-संस्कारों में बन्धन था उस साहित्य में उसका कोई सम्बन्ध ही न था। कविता का राज-समाज प्राण था पर जन जीवन धीरे-धीरे जन-समाज में उसका कोई स्थान न था। उच्च समाज-संस्कारों की मूर्ति य कवि भी उसमें उपलब्ध थे। प्रत्यक्ष स्थिति की एक गोमा हाता है। उप समाज पर प्रत्यक्ष जन पर उस स्थिति का परिचयन धरम-समाजों में जाता है। अब उत्तर-मध्यकालीन शृंगार-काव्य धरमो धरम में समाज पर प्रत्यक्ष तथा तब स्वयं उसका कवि ही उसमें ऊँच गया। उक्तान शृंगार काव्य का रूप न बाद में निर-निदान कर देगा। उक्तान धरम-समाज विद्या कि मनु किम धरम-समाज निर-निदान विद्या है वह विद्यायें निर-निदान की तुलना में बहुत प्राण है। उक्ताने किम

सुनूँगी माता का आवाज
 रहूँगी मरने को तैयार ।
 कमी भी सम बनी पर दूब,
 न होने दूँगा अत्याचार ॥
 जसा मैं हो जाऊँ बलिदान,
 मातृ-मन्दिर में हुई पुकार ॥

प्राबुलिक काशीन बीरकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इतने ही सबा हरण पर्याप्त होंगे । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी क जिस बीर काव्य भी परम्परा का सूत्रपात बार-बार काल में हुआ वह कर्मठ विकसित होती हुई बतमान काम तक आई । हिन्दी का यह काव्य-साहित्य भी निश्चित रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

— — —

हिन्दी-साहित्य में नव युगारम्भ

उपोद्घात

पूर्व सपञ्चमीन कृत्य-काल उत्तर मध्यकाल में घाकर 'शृंगार काव्य' के रूप में विद्यमान हुआ। धीरे-धीरे राधाकृत्य में देखने की भावना निराश्रित्त हानी गई और दो प्रेमी काय-जायिका के रूप में उनकी भीमाशों का बिभक्त्य होन मया। हिन्दी का काव्य-साहित्य इनका विद्यमान हो गया या कि काव्य को अपरेणा निर्धारित करन और उमके सय प्रत्यय को बिभित्त्वं संवाग्ने के निग रीति-शब्दों क निर्माय की वाक्वमकण प्रयोग होन लमी और परिणाम-म्बकण 'रति-काव्य' का मत्रण धारंन हो गया। इस प्रकार मध्यकाल में शृंगार और रीति-काव्य का हा प्रभु परित्माण में प्रथयन हुआ। रति-शब्दों में मा शृंगार काव्य का स्मृना न रही। रीति-सिद्धांतों का विद्यन कर्ने के परवान् उदाहरण-म्बकण त्रिय काव्य को रचना की गई कह धियेनाग शृंगार न ही पुन रहा। रीति-शब्दा न धिये संवाग्ने शृंगार रम क निरूपण पर ही मत्रिन हुए शब्दों की हैं धन इन रम क निरूपण में शृंगार-काव्य का प्राचाण्य स्वाभाविक था। इस प्रकार शृंगार काव्य को रचना की रूपों में हुई। एक तो रीति-शब्दों के धनगत और पुन रादा-सहायकावाग एक मार उमराका की विभाओं भावनाओं का त्रि के निग स्वनयन कर म। माराग यह कि हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल एक प्रकार से शृंगार काव्य का हा युग रहा।

इस काव्य न त्रिय कीति और शक्ति का काव्य सिद्धि हुआ उनका मन्त्रण शब्दों में ही सम्बन्ध न था कह उच्च धनी के शायकों जमीराग और शब्दों के शब्द साहित्य-समग्रों का हा काव्य रहा। इस काव्य में त्रिदिग विराण और विराण काव्य-साहित्य जन-मन को धनना धार धारुट करन न धनयन रहा। धनयन शब्दों को पुरवन् भावन-धनयन में धनयन था जम साहित्य में उनका को-धनयन शब्द-धिया का काव्य-जन्मान प्राप्न था पर जन जीवन और उच्च-जन्मान में रचना न था। उच्च शक्ति-धनयन को मत्र न धनयन शब्दों के धनयन शब्दों को मत्र धनयना शब्दों हैं। उन न मा नय शब्द उच्च रम न शब्दों में धनयन शब्दों है आगा है। जब उत्तर-मध्यकाल में शृंगार-काव्य का परिक्रमण मया तब मत्रं उमक कर्षि हा उच्च उच्च रम न शब्दों में धनयन विर-विद्यन कर देगा। उच्चान उच्चान शब्दों का निर्माण दिया है वह विराण शब्दों के धनयन शब्दों में

अपेक्षाकृत सकीर्ण जमाने में अपने जीवन को सीमित कर रहा है, वही एक मानवता की सीमा नहीं है। जमाने में कुछ मानव-समाज के बीच घास घौर उन्होने लगे बुद्धिकीय से काव्य रचना प्रारम्भ की। उत्तर-मध्यकाल में सजित भाषा और मक्ति-वरक काव्य इतो का परिचय है। मूषण मान धारि कुछ कवि ऐसे भी हुए, जिन्होंने विभाषी रचना-निकारियों की निम्न भावनाओं की शक्ति के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग न कर और सासको के मोरन-नाम न किया। इस तरह उत्तर-मध्यकाल में श्रुंया-कव्य की प्रकृतता प्रवश्य रही पर नीति-काव्य और बार-काव्य का भी प्रभाव न रहा। इस काम में जो भीति धार मक्ति-वरक काव्य सजित हुआ सतन सामान्य जगमजलन को अपनी धोर धारकपित किया और धोड़ हो बिना य वह 'जग-काव्य' बन गया। तत्कालीन शृङ्गार-काव्य पुस्तको में छिम्टकर रह गया पर इस जग-काव्य को हम प्राय नौ प्रामान्य स्त्री-पुरवों को बाळा-य मुकारत होटा पवै है।

इसो समय जब कि उत्तर-मध्यकालीन शृङ्गार-काव्य अंतिम रवासो ले रहा था भारतीय इिन्वी-साहित्यकाश के चिस्तिन पर उचित ज्ञानेवासो भारतेंदु की प्रजास्यमी किरनों के बरान हुए। यह जमाना की धनकारमयी मोर विश्वा के प्रायक म नबोधित जग का प्रागमन था। उतको लिम्ब मुकुमार किरना ने धर्मित प्रकाश प्रहूष कि । धोर क विस्तृत साहित्यकाश को अनुग्नबल करन में समय हुई। भारतेंदु के विशाल व्यक्तत्व न इिन्वी-साहित्य की सभी शाखाधा-उपशासाधा का प्ररना धोर शक्ति की धोर इिन्वी का न साहित्य धर्मो एक कजम काव्य तक हा सीमित था यह धम नाटक लिम्ब धारणा का साहित्य उपन्यास धालोचना धारि विविध धवा उ पूरित हो बलन के सँधन व विर्द्धत तदराम की तरह समया लक्षिं होन गया किन्तु जिस कलाकार ने अपनी बहुमुखी प्रतिधा से इस साहित्य-कालन का निर्बाज किया था वह केवल ३३ वर्ष की आयुवा में ही इसे धनमुहामत लिखित में धोड़ जता गया। धम व महावीरप्रसाध डिबेबी सामन स्वीकार किया। उन्होने बाबु भारतेंदु हरिदरवग्न-द्वारा सोध धपुर्ष काज को पुष्पता धोर धनकाश देन का प्रयत्न किया। निडडर डिबेबी जी की साधना धोर उनके सनकासीन यनीषिबी के प्रयत्न से इिन्वी-साहित्य का काव्य नाट्य लिम्ब धालोचना धारि सभी धर्मो का उल्लखनीय प्रवति हुई।

इसमें देखा कि इिन्वी-साहित्य का धारिकाल लगभग य ही बय तक पुर्व मध्यकाल लगभग धार ही बय तक धोर उत्तर मध्यकाल लगभग धार ही बय तक धपरिवर्तिन बना रहा पर ध मात काल निरतर परिवटन का ही काल रहा। उं १६२५ क लगभग 'भारतेंदु बुन प्रारम्भ हुआ धोर बरल ३३ बय के परबाम् ही 'इबेबी बुन धारम्भ हा गया धोर इसके २ बय के परबाम् ही 'नबयुव' का मूषणता हो गया।

इस प्रकार बतमान काम में हिन्दी-साहित्य ने बार-बार कतराते भी बार-बार उमकी दिसा घोर स्वरूप में परिचयन हुआ किन्तु उनका प्रत्येक परिचयन नई चेतना और नये जीवन का स्वस्थित सन्देश लेकर आया । उमन उमका रूप अधिकाधिक विकसित होने में सहायता की उम नई शक्ति से अभिप्रेत किया और उसमें नई प्राण प्रविष्टा कर उसे अधिकाधिक पस्तचित किया ।

उत्तर-मध्यकाल में जिस शृंगार-काव्य को प्रचुर प्रमाण में रचना हुई उसका मूलाधार प्रेम का किन्तु शृंगारी कवियों के हाथ में पड़कर यह प्रेम बिह्वल होकर "बातना" के रूप में परिचय हो गया था । जब उसमें कृष्ण-काव्य की परिचयना का तो ध्यान था ही पर वह बिगुल रम्यता प्रेम भी न रह पाया था । कबीर जैसे मन्द कवियों ने जिस प्रेम को उच्छ्वता पर मुग्ध होकर "मीम बेह से जाय" कहा था और कुछ न होने बड़ा का पर्यायवाची ठक मान लिया था वह कृष्ण-काव्य में भक्तिमूलक बन गया और मूर मीरा धारि न उनी प्रेम का आधय ग्रहण कर धन उपस्थ की विविध रमणो सीमाओं का जान कर धन का कर्म माना पर रीतिवास में बह मर्तारंजन एवं कामनामयी पृथिव मलोर्ध्व की तुष्टि का माधन बन गया । बतमान काम में काव्य के स्वरूप में पुनः बिरादोकरण धारंम हुआ । भारते-नु में इस प्रेम की कामना के एक न निवासकर भगवद् भक्ति की दिसा में प्रकाशित किया और राधा-कृष्ण का सामान्य भावक-भाविका के स्तर में उठाकर धन काव्य के प्रेम-मरादर में देवत्व के धामन पर धातीन करी हुए कथा—

इस का मोल सिए पा पर क ।

दास काम भावस्त्रम कुल के, थाकर राधाकर क ।

माना भी राधिका पिता हृदि, यथु काम गुनकर क ।

हराचन्द तुम्हरे ही कहावत, नहिं आधि क नहिं हर क ।

भारतगु का प्रेम-काव्य धाम बड़ा घोर बह प्रहृति-प्रेम तथा देह-प्रेम ठक पहुँच गया । शिबदा-पुग में यह प्रेम-भारा घोर मी विचलित हुई और तत्कालीन धनेक कविता की प्रहृति प्रेम तथा देह-प्रेम विषयक रचनाएँ सामने आई । हिन्दी प्य के परचाय एक प्य का धनतरण हुआ जिसमें यह काव्य-मरिता नई कल्पनाओं की नई आचारभूमि लेकर विभिन्न बाधों में प्रकाशित हुई जो बतमान काव्य-जगत् में धायाबाग रहस्यवादी हातावादी प्रगतिवादी धारि बाधों का नाम ने प्रसिद्ध है ।

हिन्दी-काव्य-साहित्य में नईव में एक काव्य मोम बाधों प्रकाशित होती रही है प्रगतिवादी बीरकाव्य घोर शृंगार-काव्य-भारा । धारिवास में हममें में बीर-काव्य काय मधकाय में प्रगतिवादी-भारा घोर उत्तर-मध्यकाल में शृंगार-काव्य-भारा

धार्मिक प्रवाहमयी रही और शेष लोगों काटखँ मन्त्र प्रवाह में प्रवाहित होती रही । वर्तमान काल के धार्योन्मुख मन्त्रिण-काव्य-बाण धीर शृंगार-काव्य-बाण मन्त्रमय समान श्रेय म रही और धीर-काव्य-बाण मंत्रवाहिनी बनी रही । त्रिवेदी-युग में भी समयमय यही स्थिति रही पर तबयुग में शृंगार काव्य-बाण पहिले प्रावाचार से धीर फिर रहस्यवाच से समन्वित हो एक नये रूप में प्रवाहित होने लगी । छायावाचो युग में इस काव्यबाण को प्रकृति शृंगारोन्मुख धरकर रही पर उसके लौकिक तत्वों का स्वान पारलौकिक बनना धार्मिकरूप हुआ किन्तुने राष्ट्र-धर्म-पूरित धीरकाव्य को रचना ऐसे कवियों का भी धार्मिकरूप हुआ किन्तुने राष्ट्र-धर्म-पूरित धीरकाव्य को रचना कर उत्कामोक्त राष्ट्रीय भावजनन म महत्त्वपूर्ण योग देने का प्रयत्न किया । छायावाचो युगनिवाचनमय पद्य छायावाची काव्य के धीर व्यक्तिकर प्रसार रहस्यवाची काव्य के प्रवर्तक धर्ममें बने हैं । राष्ट्र-धर्म-पूरित धीरकाव्य रचना का सूत्रपात करने का धर्म परमाचारणमाननात बसुबेदी "भारतीय धार्या" को हैं जिनके धनुकरण पर उनके पदवाच्य बामकृष्ण शर्मा "नवीन" चौहाननात त्रिवेदी मुमत्राकुमारो चौहान रामबाटी सिंह "दिलकर" रथामनारायण पांडेय प्रवाची धारि में इस विद्या में विशेष प्रयत्न किया । "भारतीय धार्या" ने इस ढंग को काव्य-रचना त्रिवेदी-युग म ही धार्य कर ही को किन्तु उसका विकास तबयुग में ही हुआ । त्रिवेदी-युग में बाबू मैकिलीतरण पुत्र ने "भारत माट्टी" को रचना कर उत्कामीत कवियों का ध्यान मुन-मान की धीर प्राकपित किया बा किन्तु भारत भारती" विठली राष्ट्रीय कृति है, जतसे धार्मिक सांस्कृतिक है । धत विरुद्ध राष्ट्रीय प्रस्था से प्रेरित होकर काव्य-रचना करनेवाले कवियों में "भारतीय-धार्या" ही प्रथम समर्थ माने जाहिए ।

वर्तमान काल मन्त्रिण-युगकाव्य रचना भी कम नहीं हुई पर जवर्ष हृदय कम धीर मस्तिष्क धार्मिक बा । जिन समय धार्मिककाव्य रचना रहस्यवाच की धीर उन्मुख हो रहा बा उही समय कवि बचन हालाम्याना लिए हिन्दी-काव्य जगत् में विद्यमान विद् । इस समय तक छायावाच का धर्म न हुआ बा धीर रहस्यवाच का धर्म हो चुका बा धन बचन के हस्ताचार का धार्मिकीक होठे ही तबयुग का हिन्दी-काव्य एक साध ही तोल बाटाओं में प्रवाहित होत गया । यह युग राष्ट्रीय चेतना का युग बा धत इन तीन काव्य-बाणों की एक साथ उपस्थिति के काल में धी राष्ट्रीय धीर-काव्य भी धरनी िशा में धधतर हागा बा रहा बा । यह शृंगार-काव्य का युग न बा पर इयो काल में कुछ कविया ने एने शृंगार-काव्य की धी रचना की किंतु धरतीमता के सामने उत्तर-मध्यकालीन शृंगार-काव्य की नवमस्तरक हो सक्ता बा ।

भारतेंदु-युग में बहुकरो साहित्य को जन्म दिया त्रिवेदी युग म बहू पुष्ट धीर परिवर्धित हुआ पर जमके धर्म प्रत्यय को पुनःकरो पस्तविध धीर पुष्पिल करने का

शेव 'नवयुग' का हा है। उसके काव्य नाटक मधुकवा उपन्यास निबन्ध धारोचना आदि विविध रंगों से सम्बन्धित जितना साहित्य नवयुग में निर्मित हुआ उतना इसके पूव कभी न हुआ था। पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में भी इस युग में धाराणीत प्रवृत्ति हुई। यदि हिन्दी-साहित्य का पूव-अध्ययन करने 'मदिनवास' भी कहते हैं स्वयंयुग का तो वर्तमानकाल 'नवयुग' भी उसमें किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण और कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। भारतेन्दु न लड़ी बोसी साहित्य के जिन विरह का बयन अपने हाथों प्राज स लगभग ६० वर्ष पूव किया था वह प्राज अपने समस्त मीम्हय और प्रतिभाओं के साथ विविध बण्ड का और गन्ध से युक्त पुष्करात्रि एवं विविध मनोमुग्ध कारी प्रमृत्त कसो से सुमन्त्रित बुद्धिगोचर हो रहा है।

इस युग में सबसे अधिक विकास सम्भव हिन्दी-काव्य का हो गया। इस काल में मुक्तक-काव्य की अधिकता तो रही ही पर प्रबन्ध-काव्य और गौनिवास्य भा कम नहीं सिखा गया। साकेत कामायनी हृदोबाणी हृष्यापन धनवान आदि इसी युग के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य हैं। पंत प्रसाद निराना महादेवी वर्मा ने ऐसे गौनिवास्य की रचना की जो हिन्दी साहित्य की अत्यन्त मूल्यवान निधि है। नवयुग का काव्य धारावाद के साथ शृङ्गारिक शब्दों की अठलतियाँ करता चागे बड़ा रज्जुवाद ने उन्ने कामना में ऊपर उठाकर उच्च मानवीय धरणास पर प्रतिष्ठित किया हासाबा न उसमें कुमार भरने का प्रयत्न किया और प्रगतिवाद न उन्ने कई विरा ही पर बहु जनकाय न बन सका। इतर काव्य जगत् में य नय-नय प्रयाग हो रहे वे और उतर जन-मानस बांधन के मैगन में चलने बाने राष्ट्रीय धारोपनों की लहरों में डूबना-उतराना हुआ चागे बड़ रहा था। काव्य जगत् और सामाजिक जन-जगत् में बहुत अन्तर था। जनता काव्यगत मुनता चाहती थी सोन मुनता चाहती थी पर एसा काव्य और एसा गीत उसके जिता काम के न थे जिनके स्वरों में उन्ने हुए "रों उन्की धाराधाराओं और उन्की आबताओं की अभिव्यक्त करन की क्षमता न थी। कवि जनता की इन आबताओं का महत्त्व उन्के राम बाल का विवश हुए। धारावाणी काव्य के प्रगुता मुनिबालरान पल न 'युगान्त मितकर धारावादी युग की समाप्ति की सूचना ही और 'युगवाता' की घबता करन जनता के बीच चाये। राष्ट्रीय धारोपन न सम्मुख काव्य जगत् की प्रमाचित किया और कविया का यगवाली का सम्भेरा देन को प्रतिष्ठ किया। हासाबाी बन्धन तक की धरना मधुवाया का मोह त्यागकर प्रवृत्ति के स्वरों में बजना पड़ा—

रज्जु म मीषा गट है
 राद् मन्दिर-ममञ्जिवा का।
 किन्तु रज्जुना चाहता मैं
 पावि मधु-मिथिन दगर में ॥

पाप की हा गल्ल पर
 चखते हुए य पाँव मेरे ।
 हँस रहे हैं उन पगों पर
 जो बँधे हैं आज घर में ॥

राष्ट्रीय चेतना ने 'प्रगतिवाद' को जन्म दिया । यह प्रगतिवाद वास्तव में यथा
 क्वाद का पर्यायवाची था । जब भी भक्तिकाल के राम-कृष्ण और रोतिकाल के राजा
 रानी नायक-नायिका प्रादि सभी न पर जन-जीवन की मचावबाचिता में इनका कोई
 स्थान न था । जब राम कृष्ण को भक्ति देश भक्त के रूप में और राजा रानी तथा
 नायक-नायिकाओं का शृङ्गार देश दांतों पठितों शोषितों और गिराभितों क
 धमिसार के रूप में परिवर्तित हो गया था । 'नारों और उत्थान' और 'मुक्ति' को
 संकल्पना ही रही थी । छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने इस धोर मुड़कर देखा
 और उन्हें ऐसा बगा जैसे युग उन्हें पुकार रहा है । वे उसकी पुकार सुनकर बीड़
 पड़े उनके काव्य न करबट बरसी । कवियों का एक समूह—शिवमंगलसिंह, केदारमान
 बिनकर, तामाबुल प्रादि के साथ प्रगतिवाद का जयघोष करता घागे बड़ा । किमाल और
 मकदूर ही मुख्य रूप से इनकी काव्य रचना के विषय हो गये । बर्ष-संबंध को भी कुछ
 प्रास्ताविक मिला पर इसके परभाव ही एक ऐसा जन भी घामने घाया जिसने प्रगति
 वाद और मचावबाच के नाम पर बिलुप्त जन्मजिनों की मूर्ति धारंभ कर दी । पन्थ ने
 'दुपचाची' क काव्य को जिस बिना का निरर्थक किया उस बिना न उनके काव्य का
 सठठ विकास होया था रहा था और कुछ अन्य कवि भी उनके माग का धनुसरण करते
 हुए घाये बह रहे थे । पन्थ न अपनी रचनाधरा-इत्य काव्य के उस द्विचि की और
 सकित किया का समाजवाद और मार्क्सवाद से घाम बढ़कर मानव के धार्म्यात्मिक और
 प्राकृतिक जीवन की मुक्ति जन-जीवन को बाओं के जाभ से मुक्त कर मानवता और
 विश्वबन्धुत्व का पाठ पढाती है ।

काव्य की विविध धाराओं क जन्म और विकास के प्रतिरिक्त पद्य क विविध धारों
 की जन्मजनीय समष्टि इस युग की द्वितीय विशेषता है । हरिरचन्द्र-काल में मुंता सदा
 मुज्जनाल न खड़ी बोली के जिस गद्य की नींव वाली बह क्रमशः विकसित होया हुआ
 थाक हम नाटक जयम्पात निररथ धार्मिकता धार्म्यायिका जन्मजिन रिपोटकि प्रादि
 क रूप में बुद्धिगोचर हा रहा है । लड़ी बोली के पद्य के विकास और समुद्रि की यह
 जन्मजनाय स्थिति हिन्दी-साहित्य के विकास की एक स्वर्णिम शृंखला है । जनमान
 काल क इन लगभग ६ बनों में हिन्दी की हरिरचन्द्र-कालीन विविध संकाओं के प्रति
 रिक्त न महाबोरप्रताप द्विवेदी-जैस बाहुमुनी प्रतिभा के साहित्यकार हरिधोष नीच
 मोठारख पुंठ नाचूयम शकर सर्गा भारतीय धारना प्रसार पन्थ निरामा और महा-

देशी बर्मा-जीते कबिरत्न प्रमचन्द्र प्रबन्ध जीनेन्द्रकुमार, यशपाल धीर कृष्णचन्द्र जैसे उपन्यासकार धीर प्र क्यामिका-लकाक प्रसाद बुध्वाचलमाल बर्मा बाबू गोविन्ददास लक्ष्मीनारायण मिश्र धीर उपग्र नाथ प्ररक-जीमे नाटककार पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० हजारीप्रसाद त्रिबेदी धीर डा० लक्ष्मण-जीमे समालोचक धीर निबन्धकार प्राप्त हुए ।

इस काम की राजनीतिक धार्मिक धीर सामाजिक स्थिति में भी वर्तमान हिन्दी साहित्य के इस विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया ।

राजनीतिक स्थिति—

यद्यपि सन् १७६७ में क्लाइव ने कलकत्ते पर अधिकार कर इस देश में प्रथमो राज्य की नींव डाल दी थी तथापि अभी भी प्रथमों की लड़ा चल रही थी । इसके परचात् क भी बर्षों में प्रथमों ने धीरे-धीरे इस देश के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु इन अधिकार-प्राप्ति के पीछे प्रथमों की जो नीति रही वह अत्यन्त निम्नर्था थी । इस देश की जनता धीरे-धीरे भारतीय शासन-बन्ध के लिए प्रथमों लड़ा एक प्रयास रूप धारण कर चुकी थी । प्रथम अभी तक इस देश के राजाधो धीरे लड़ाओं में कराड़ा अपना प्राप्त कर अपना देश का भेद चुके थे धीरे सामान्य जनता अपना मानवीय अधिकारों से वंचित होकर पूर्ण परछन्न जीवन यापन करने लगे विवश थी । देश का अधिकार भाग प्रथमों राज्य का मोह-जुलमा से पूर्ण तन्त्र बाधित हो चुका था । इस राजनीतिक स्थिति को प्रतिष्ठित रूप में सन् १८५७ के -निक-विद्रोह का जन्म हुआ । यह विद्रोह वास्तव में ऐनिक तक ही सीमित न था इसके मूल में भारत के अधिकार-जुलम प्रकट राजाधो लड़ाओं धीरे जमींदारों की जा शक्ति काय कर रहा थी । उक्त भारतीय मस्तिष्क भारत में प्रथमो राज्य का विरोधी था । इन विद्रोहों का उच्च रूप धारण किया उत्तम जान पड़ता था कि यह विद्रोह इस देश में प्रथमो शासन का अन्त कर के ही रहगा किन्तु इस देश के दुर्भाग्य से कुछ भारतीय शक्तिधो न प्रथम अधिकारियों का विद्रोह व समय में लड़ाया की धीरे भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ा जाननाला यह प्रथम पक्ष संकट न हुआ मना । बर्माणी का सरकार ने इस विद्रोह का समन ना कर दिया पर वह जन धर्मि का समन कर मना जा भारतीयों के हृदय में प्रथमो राज्य का अस्मीभूत करने के लिए प्रयत्नित ही रही थी । इन्हीं को पानिवाब भी करतो के शासन में सम्पुष्ट न था । उक्त इन विद्रोहों के परचात् भारतीय शासन का अधिकार ईस्ट इंडिया कम्पनी से अपना हाथ में ले लिया धीरे इन्हीं को बहाराधो विक्टोरिया इस देश की भा लहाराणी समझी जान मना । इन समय तक भारतीय साहित्यवाचका न भारतधु का प्रथम रचित भविष्य की सम्पूर्ण सुनर आशाधो को लेकर उदित हो लगे थी । धीरे में इस लड़ा-परिचयन में भारतीयों ने अपना देश के अग्रिम भविष्य

है। सर मोसिमर विनियम-द्वारा अनुमति 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को देकर ही हम इस महान् भारतीय कृति के वास्तविक मूल्य से परिचित हो सके और हम संस्कृत-साहित्य पपीनिधि से धनेक बहुमूल्य रत्नों की खोज कर भारतीय साहित्य को प्रकट करने की विद्या में प्रयत्न हुए। प्रायः के हिन्दी-काव्य-साहित्य पर ही नहीं पर नाटक-साहित्य उपन्यास-साहित्य गिनगन-साहित्य और प्रामोचना-साहित्य पर भी संघर्षी-साहित्य का गहरा प्रभाव है। धार्मिक-साहित्य के प्रकाश में नये-नये साहित्य का सजन होता गया भारतीय अपने पूरे औरक से परिचित होते गये और उनके हृदय में अपनी बचमाल स्थिति के प्रति खोज बढ़ाया गया और परिष्कार-स्वरूप उनके हृदय में प्रगति एवं स्वतंत्रता की प्रकृति विकसित होती गई।

हिन्दी-साहित्य का बचमान काल निश्चित ही संभव और क्षान्ति का युग रहा। इस काल में बार-बार बितने धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलन हुए जिनके इसके पूर्व के इतिहास में कभी नहीं देखे गये। एक ओर मुस्लिम संस्कारों और दूसरी ओर ईसाई मिशनरियाँ अपने-अपने प्रचार में व्यस्त थीं। इसी समय स्वामी रामानन्द एक प्रचार प्रकरण के रूप में प्रचलित हुए और उन्होंने अपनी विज्ञानपूर्वक लक्ष्मी से इन दोनों प्रकार के प्रचार पर बख्शावात कर हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म को इनके प्रभाव से मुक्त किया। स्वामीजी के प्रचार का माध्यम हिन्दी भी भव्य इस धार्मिक और सामाजिक प्रचार के साथ हिन्दी का भी देह-भ्यापो प्रचार हुआ। हिन्दी-युग की बहुमूल्य लक्ष्मी और बाह-विबाह सौम्य के विकास में स्वामीजी के प्रचार ने मूल्यवान् सहायता की।

सन् १८८५ (संवत् १९४२) में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) का जन्म हुआ। इसी रूप बचमान हिन्दी-साहित्य के जनक बानू मारतौण्ड हरिश्चन्द्र कोमोक्कवासी हुए और वे महावीरप्रसाद द्विवेदी बानू रयामसुन्दर बास प्रायः विद्वानों ने उनका उत्तराधिकार ग्रहण किया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के द्वारा इस देश के विभिन्न भाषा-भाषी उच्चवर्गीय विद्वान् और राजनीतिक एक मंच पर एकत्र हुए और उन्होंने अपने-अपने प्रबल-उद्यम भारतीय राष्ट्रीयता का विकास-कार्य प्रारम्भ किया। ये सभी युक्त संघर्षी विद्या-प्राप्त विद्वान् के द्वारा राष्ट्रीय महासभा का समस्त वैधानिक काम तो संघर्षी में ही होता रहा पर उसके प्रचार के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा ही प्रवीण हुई। महासभा के इस प्रचार से ही हिन्दी के प्रचार और प्रगति में बड़ी सहायता मिली। हिन्दी के उत्कालीन कार्यकार इससे प्रोत्साहित हो हिन्दी की समृद्धि में प्रारम्भ के कुछ गये। बानू रयामसुन्दर बास के प्रयत्न से सन् १९५ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई जिससे हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य की प्रवृद्धि में बड़ी सहायता मिली। सन् १९३० में उत्तर-प्रदेश के न्यायमालों में संघर्षी और अरसी के साथ हिन्दी का भी प्रवेश हो गया। संवत् १९५२ में बंगाल के सुप्रसिद्ध

विद्वान् धीर देशभक्त श्री रमेशचन्द्र वल्ल की अध्यक्षता में नागरी प्रचारिणी सभा का अखिलभारत हुआ धीर इसके परचात् हिन्दी की शक्ति पूरक को धराया बढ़ गई। सं० १९६७ में प्रयाग में "हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन" की स्थापना हुई धीर इस संस्था के द्वारा ही हिन्दी धीर उसके साहित्य की प्रगति में महत्वपूर्ण योग प्राप्त होने लगा।

सन् १९९१ में रूस-जापान युद्ध छिड़ गया। इस युद्धकाल में हिन्दी में इन दोनों देशों से सम्बन्धित साहित्य भी लिखा गया। इसके परचात् सन् १९७१ में प्रथम विश्वयुद्ध का सूत्रपात हुआ। युद्ध यूरोप की दो महाशक्तियों के बीच था पर विश्व का कोई भी भाग इनसे अप्रभावित न रह सका। इस युद्धकाल में भारत ने सबसेप्रथम अपने को विश्व के एक घटक के रूप में अनुभव किया धीर अंग्रेजों की सत्ता में इन से सहायता की। अभी तक भारतीय साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से 'घायल साहित्य' की धीर ही आकृष्ट था इस युद्ध के परचात् उनका ध्यान अंग्रेजों के धर्म और रूसी साहित्य की धीर भी गया धीर उन्होंने अंग्रेजों के साम्य से इन मापाओं के साहित्य का भी अध्ययन कर अपने साहित्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया। इन अध्ययन के परिणाम-स्वरूप साहित्यकारों की दृष्टि अधिक व्यापक हो गई धीर उनके द्वारा कई-नई कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं।

इस अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के नाथ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष ने राष्ट्रीयता का विषय होता ही रहा। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के परचात् महासभा ने भारतीय स्वतंत्रता की माँग की, किन्तु इसके उत्तर में उसे 'रीसट ऐक्ट' मिल गया धीर 'असिमान भासा बाग' जैसी पाषाण-हृदय का भी इतिहास करनेवासी एक रजिस्ट्रार दुर्घटना होने की बिबरा होता पड़ा। इन घटना के नाथ महासभा की संघर्ष-शक्ति पुनर्जागरित निर्मूल हो गई धीर उसे सन् १९२० (सं० १९७०) के अपने नागपुर-अधिबेशन में 'अनहयोम' धीर 'विदेशी बहिष्कार' की नीति घोषित कर देनी पड़ी। इसके परचात् होनेवाले अनहयोम-आन्दोलन के युग में हिन्दी में महत्वपूर्ण राष्ट्रीय साहित्य की रचना हुई। हिन्दी के कवियों ने राष्ट्रीयता का निर्माण किया धीर उनके प्रेरणाप्रद स्वर भारतीय बाल्यमण्डल में गूँजन लगे। इस प्रकार के साहित्य का निर्माण करनेवालों में सबसे सं० माधवनाथ चतुर्वेदी समशानुमारी श्रीहान शोहन शाल शिबेनी धीर कवि 'त्रिराम' प्रमुख हैं। इसी काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आधारित कुछ साहित्य का भी निर्माण हुआ। इसके परचात् ही हिन्दी के प्रायः सभी में आयाबाद उद्भववाच हाताबाद प्रवर्तित आदि का आविर्भाव हुआ।

अनहयोम आन्दोलन के परचात् 'अविनायकानु-संघ' मत्वाचह का सूत्रपात हुआ इस दौर में आन्दोलनों से राष्ट्रीय महासभा कुछ धीर अक्षर्य बढ़ी पर इनमें जनता की

द्वितीय उठारण की भाषा प्रथम उठारण की भाषा से कुछ अधिक विकसित है । 'भृंगारण मंडन' के परभाव बलम-संप्रदाय में दो बड़े ग्रन्थों की रचना ब्रजभाषा ऋष में हुई जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी धारण्य महत्वपूर्ण हैं । इनमें से प्रथम ग्रन्थ "बोपरी बंधन की बातें" की रचना किठननाथ की के पुत्र गोकुलनाथ की ने की थी । इसमें कहीं-कहीं गोकुलनाथ की का भी उल्लेख होने के कारण यह उनके किसी शिष्य की रचना समझी जाती है । इसका रचना-काल समझी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है । दूसरा ग्रन्थ "बो सी बावन बंधन की बातें" है, जिसमें दो ही-बावन बंधन भक्तों की जीवनगाथाएँ संकलित हैं । इसकी रचना धरररों शताब्दी के मध्य में हुई जान पड़ती है । द्वितीय ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"बो भीठकुर की तो बाबक है । भीष बर पाई बिलंब न सहि सकै ।
 मातें भोज बरिने तो बूझ ताही न समविये ॥ एही सिखा कहिके भीठकुर की को
 अनुबनबाकी क्तायो ॥ तब तो बहूँ तें धपने बर धायो ॥ तब बहूँ बाध बाने
 धपनी स्त्री के धायो ॥ पावैं बे धावनालतातों सेवा करन जायो ॥

इही बीच भक्तप्रवर नामावाद्य की ने "धरमाम" नामक एक छोटी-सी पुस्तक की रचना ब्रजभाषा ऋष में सम्वत् १९९० के लगभग की । इसमें उन्होंने भगवान् राम की क्लिबर्ता का जो वर्णन किया है उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"तब भी महापद्मकुमार प्रथम बसिह महापद्म के बरन बूझ प्रनाम करत मए ।
 फिर ऊपर बूझ धमाध दिनको प्रनाम करत बए । फिर भी राधाविपद्म बू को
 बोझार करिके स्त्री महेशनाथ बरगब बू के निकर बँटते मए ।"

इसके परभाव संवत् १७९० के लगभग लिखी धरारनामा लेखक ने ब्रजभाषा ऋष में "नासिकेयोपाख्यान" तथा संवत् १७९७ में मुद्रितमिष ने "बीताल पन्नीसी" की रचना की । संवत् १८१९ में बरपुर-भरेश महापद्म ब्रतपविह्व का धरारा से लाला हीरलाल ने धरारि धरररी की "भाषा बचनिका" नामक पुस्तक की रचना की । इसकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ नीचे दी जाती हैं—

"धर सेव धरमधरन ग्रन्थ की कछा प्रमु को निमस्कार करिके धररर बरररराह
 की तापीठ सिक्ने की कवत करै है धर कहीं है प्यकी बड़ाई धर बेहा धर
 निमस्कार कहीं तक सिक्नूँ । कहीं बात नहूँ । तातें पाके पपद्म धर धरि-धरि के
 बररूर वा मनयूवा बुनिबा मे मकट मए, ता को सखि बिररर हीँ ।"

इत उठारण में 'सेव धरमधरन' नाम के धररररर बरररराह, तापीठ, बररूर, मनयूवा धरर बुनिबा धरररी-भरररी के शब्द हैं, जिनका मुद्रित धररर के प्रभावधरर

ब्रजभाषा में प्रवेश स्वाभाविक है। इसी शताब्दी में श्रेष्ठ कवि द्वारा रचित 'बाग-विभाष' नामक पुस्तक में भी ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है, किन्तु इस गद्य में भाषा की प्रौढ़ता का प्रमाण है। कुछ गद्य-पुस्तकें और भी यत्र-तत्र मिल जाती हैं किन्तु हम देखते हैं कि चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा गद्य का जो विकास हुआ वह इस काल के गद्य में नहीं मिलता। कल्पित रचनाओं की प्रधानता से ब्रजभाषा गद्य प्रायः उपेक्षित बना रहा और साहित्य-संस्थाओं का ध्यान प्राप्त न होने के कारण वह अधिकतम व्यवस्था में अपने स्थान पर ही बना रहा।

बड़ी बोली-गद्य का उत्थन

बड़ी बोली का इतिहास समय-समय उत्पन्न ही प्राचीन है जितना प्राचीन कि ब्रजभाषा का इतिहास है। कुछ लोग बड़ी बोली को ब्रजभाषा से निकलित मानते हैं, किन्तु यह चारणा तबना निर्मूल है। बड़ी बोली का प्रयोग हमें सर्वप्रथम चौदहवीं शताब्दी में धमीर कुशरो की रचना में मिलता है। पौरुषमेव के शासनकाल में उत्पन्न बड़ी बोली में कल्प-रचना का भी प्रमाण मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि १४ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक बड़ीबोली दिल्ली और उसके आसपास के भागों की लोकभाषा रही है जो मुगल-शासन के मध्य होने पर बड़ी के व्यापारियों के साथ उत्तर भारत के अन्य भूभागों में पहुँची।

हमें प्रथम के शासनकाल में बड़ी बोली के गद्य में सिद्धी एक पुस्तक मिलती है। यह प्रथम के दरबारी कवि पंग के "बन्धु सन्धु बरतन की महिमा" नामक रचना है। इसमें कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"इतना सुनके पाउसाहिजो ओ प्रथमदरसाहि जो मार छेर सोना नरहरबाह चारन को रिया। इनके देइ छेर सोना हो गया। उस बचन पुरन भया। धामबास बरसात हुआ।

इसे ही बड़ी बोली गद्य का प्राथमिक रूप कहना चाहिए। इसके पर्याय संवत् १९६० में अटमन नामक किसी सेना-शासक लिखित 'गौरु भारत की कथा' बड़ी बोली गद्य में मिलती है। "भाषा योग्यतादि" संवत् १७१८ में रामप्रसाद निरंजनी-द्वारा लिखित एक ग्रन्थ है। इनका गद्य पर्याय परिष्कृत रूप में मिलता है। अष्टादश्याय कुछ पंक्तियाँ देविए—

वाय सब तत्वों और सब शास्त्रों के ज्ञानगहारे हो मेरे एक सदेह को दूर करो; मोक्ष का कारण कम है कि ज्ञान है धरवा दोनों हैं समय-समय के बहो। इतना सुन पपस्त मुनि बोने कि है ब्रह्मक्षय। केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कम से धन्यकरण शब्द होता है, मोक्ष नहीं होता और धन्यकरण को मुक्ति बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।

श्रीधरप्रसाद निरंजनी ने इस ग्रन्थ की रचना मुझी सवासुखनाम और लक्ष्मणाने के पात्रियार्थ के लयमय १ वय पूर्व की थी। हम देखते हैं कि उपयुक्त भाषा में लड़ी बोली पद्य का जो परिभाषित रूप बिलंब देता है, वह लक्ष्मणाने के प्रेमसागर प्रथवा सखस मित्र के नाटिकेतीपास्यान में भी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि निरंजनी को लड़ीबोली-नाच का बरगवाटा होने का श्रेय प्रदान न करना उनके साम्य प्रत्यास होगा।

श्री निरंजनी के 'भाषा योगवासिष्ठ' के परचात् हमें बरवा (मध्यप्रदेश) के पवित्र शैलतराज-द्वारा लिखित 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद मिलता है। लेखक ने सखसख ७ ० पृष्ठों के इस बहुत प्रबल की रचना संवत् १८१८ में की थी। इसकी भाषा 'भाषा योगवासिष्ठ' की तरह परिभाषित तो नहीं है, पर यह फरसी-बरसी के शब्दों के प्रमाण से सुरक्षित प्रकरण है।

इसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'बम्बूदीप के भरत जेब बिपै मगन नामा बेश धति सुन्दर है बहुत पूर्याबिकारी बरी है, इत्र के लोक समान सवा योगोपनोय करै है धीर भूमि बिपै छाटेन के बाड़े सोभायमान है। जहाँ नामा प्रकार के प्रान्तों के समूह पबत समान डेर हो खे है।'

लड़ी बोली-नाच का विकास

मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक का भी प्रगट हो गया और अंग्रेजी शासन के प्रसार के साथ हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल धारण हुआ। पहिले कहा जा चुका है कि लड़ी बोली दिग्गी और उसके भातपाठ के भातों की लोकभाषा थी। अमीर खुसरो ने अपनी मुकरियों और पहेलियों में लड़ी बोली के बिल रूप का प्रयोग किया है वह इसी लोकभाषा का परिष्कृत रूप था। मुस्लिम-शासन-काल में लड़ी बोली के इस लोक-प्रचलित रूप में फरसी और बरसी के प्रथ तत्त्व और तद्भव रूपों का मिश्रण हुआ। इस मिश्रण रूप में भाषा का जो रूप बतों लड़ी उर्दू के नाम से प्रसिद्ध है। जब अंग्रेजों ने इस देश की भाषा सीखनी चाही तब उन्होंने भारतीय लिपि-समाज के बीच जो प्रकार की भाषाओं का व्यवहार देखा—एक विस्तृत लड़ी बोली और दूसरी बरबारी लड़ी बोली प्रथवा उर्दू। इस समय हिन्दी के बर बोली रूप विकसित ने और जतमें ऐसे साहित्य का प्रमाण था जिसे एक भाषा-साहित्य के रूप में प्रान्तों के समूह प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि लड़ी बोली हिन्दी में इस समय तक 'भाषा योगवासिष्ठ' तथा 'पद्मपुराण' जैसे बहुत प्रान्तों की रचना हो चुकी थी और इसके परचात् सैमर देहांपरला लड़ी बोली 'उनी केतकी की कदागी' की रचना कर चुके थे किन्तु इस ईत की भाषा और उसके साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए

इतना ही पर्याप्त न था। फील्ड विनियम कानून कसकरता के हिन्दी-उद्गम के धम्मापक जान गिना ब्रह्मस्ट ने सं० १८६० में हिन्दी और उर्दू की पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की। मल्हामात में धम्मापक जान गिना ब्रह्मस्ट के धर्मीनस्व 'प्रमत्तामर' की ताला सरत मिश्र ने 'मामिकेतोपाख्यात' की रचना लड़ी बोली-बोध में की।

मैयब इशा घल्ला लीं मुसलमान ने पर ने लड़ी बोली के बरबाटी रूप के प्रब विरोधी थे। उन्हें लड़ी बोली का बही रूप स्वीकार था किन्तु किसी धर्म भाषा के मिश्रण न हो। उन्होंने 'रानी कठकी की कहानी' की रचना का कारण बताया हुए लिखा है—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात घल्ले घ्यान में लड़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी कुछ और किसी बोली का घुट न मिले तब जाने मेरा भी फूल की कल के रूप में गिने।'

इस उद्धरण से इशा का चिरुद्ध लड़ीबोली में अपनी कहानी की रचना का कारण स्पष्ट है।

इशाघल्ला लीं

मैयब इशाघल्ला लीं दिल्ली के एक प्रसिद्ध शायर थे। दिल्ली के धी-विहीन होने पर ने लखनऊ जा गये। जब इनके पिता और माता घल्ला लीं मुहम्मदशार के नर के धाधित थे तभी इशाघल्ला लीं का जन्म हुआ था। चिरुद्गुहीला की मल्लु नरबाजू इशा दिल्ली जाने गये और शाहमामम शिषीय के बरबाटी शायर के रूप में धन प्रतिभा का जलकार गिनाये रहे। सं० १८७१ में लखनऊ में इनकी मृत्यु हो गई। इनकी 'रानी कठकी की कहानी' एक लघुकाम पुस्तिका है, पर इनकी भाषा-शैली और पर-विन्यास बड़ा धगुळ है। हिन्दी-बोध के विकास की दृष्टि से यह पुस्तिका ब महत्वपुञ्ज है। इसे हिन्दी के गद्य की विकास-शृंखला की स्वचित्र कड़ी कहना चाहिए। भाषा का बटकीलानन और मुहावरों का सुन्दर एवं ब्रमावताशी प्रयोग इस कहानी की विशेषता है। इस रचना में यहीं-यहीं काव्य-शैली अनुशास-व्यता इशा का एक मुख हो जाना है। चलाहरण्य कहानो का निम्नांश देखिए—

"जब दोनों महापदों में सड़ाई होने लगी रानी केनको नारन भादों के रोने लगी और दोनों के बीच में यह था धर—यह बँसी चारुत जिसमें लड़ बर लना और धम्मी बातों को भी ठरमने लगी।"

मुंरी महामुखलास

मुंरी कलामुसलमान का जन्म सं० १८०३ में गिन्नी में हुआ था। सं० १८१० लखनऊ में ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की धर्मीनस्व में बुनार (मिर्जापुर) में एक धर्मीन

पर पर कार्य करते थे। ये फारसी के एक अच्छे कवि और विद्वान् सेवक थे। हिन्दी में इनकी कोई स्वतन्त्र कृति उपलब्ध नहीं है। इनकी "विष्णु पुराण" पर आधारित कुछ उपदेशात्मक स्तुत रचनाएँ मिलती हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

'विद्या इयं हेतु से पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोन्मति है, वह प्राप्त ही धीर उद्योगे निव स्वयम् में मय हुआ है। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुर्थाई की बातें कह के सोचों को बहकाइये धीर कुलकाइये धीर उत्पन्न सिपाइये धमिचार कीजिये धीर जन इत्य इच्छैर कीजिए धीर मन को जो कि तमोन्मति से भर रहा है, निम्न न कीजिये।'

जन्मुलास का प्रेमसागर धीर सबलमिथ का नासिकैतोपलम्बान एक प्रियेव प्रथ्यायक की प्रेरणा के परिणाम है, पर ईशानप्रत्या की 'राजी केतकी की कहुनी' प्रथवा मुंशी सवासुखनाथ के ये उपदेशात्मक लेख इनकी स्वयं स्फूर्ति के परिणाम हैं। यहाँ मुहम्मदों का प्रयोग अनुप्रास की लटा धीर भाषा का चटकीलापन इत्या के वच की विलेपता है, वहाँ संस्कृत के उत्तम धीर अर्थतात्पर्य शब्दों का प्रयोग मुंशी की के वच की विलेपता है। खड़ी बोली के वच के विकास की दृष्टि से दोनों की भाषा में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दिखाई देता है वह इनकी शैली का अन्तर है। इत्या ने फारसी पर-विन्यास-शैली का प्रयोग किया है, पर मुंशी की की शैली हिन्दू शिक्षा-समाज के वातावरण की शैली है। इनकी मृत्यु सं० १८८१ में हुई।

जन्मुलास

जन्मुलास का जन्म सं० १८२० में आदरे के एक गुजरगती ब्राह्मण-गृह में हुआ था। 'प्रेमसागर' इनकी प्रसिद्ध रचना है। लेखक ने इसे फारसी शब्दों के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न प्रवर्तन किया है पर इससे भया इत्या प्रथवा मुंशी सवासुख नाथ की भाषा की उत्कृष्ट परिमार्जित खड़ी बोली नहीं है। यह जन्मुलास से इतनी अधिक प्रभावित है कि इसे "धोकरान्त विहीन जन्मुलास" ही कहना चाहिए। जन्मुलास की इस भाषा में ज्ञान, वाय नाव छोई भई, कीनी नीने धारि जन्मुलास के शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इनकी यह खड़ी बोली कवि गंज की खड़ी बोली से अधिक साम्य रखती है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जिस काज कया बाखू वप की हुई तो उसके मुकबल की ज्योति देस पूर्वमासी का चन्द्रमा खनिहीन हुआ। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन प्रपनी कंचुनी घोड़ सटक गई। सौह की बँकाई निरख वहुव बकबकले सगा घालो की बड़ाई बचमाई लख मीन खंजन किसान रहे।"

जन्मुलास ने यहाँ में सिहासन बसीसी शकुन्तला नाटक माचवागत धीर ईशास-पचीसी की तथा जन्मुलास में "राजीकेत" एवं "लास चन्द्रिका" की भी रचना की थी। इनकी मृत्यु सं० १८८१ ई. में हुई।

सदृश मिश्र

सदस्य मिश्र बिहार के निवासी थे और फोट लिपियम (कालेज में ही हिन्दी पुस्तकें लिखने का काम करते थे। "नासिकेतोपाख्यान" इनकी प्रतिष्ठित रचना है। नासिकेतो-पाख्यान की भाषा प्रेमसागर की भाषा से पुष्क है। इसमें प्रेमसागर-का नक्षत्रभाषात्मक है और न काव्य-भाषा की पद्यबलिषों का ही समावेश है। मिश्रजी ने धार्मिक-से-धार्मिक लड़ी बोली में रचना करने का प्रयत्न किया है पर इनके बिहारी होने के कारण कहीं कहीं कसन, बिछीने बहूँरिछ, इहाँ मठारी-बीछे पूर्वी शब्द धरय या बये हैं। कुछ पुष्क-काविक शिष्याओं और बहुवचन के रूप ब्रजभाषा की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। बिहारी प्रकृति के अनुसार "ड" के स्थान में 'र' एवं 'र' के स्थान में कहीं-कहीं 'क' का भी प्रयोग हुआ है। 'धीर' शब्द के लिए "धो" शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इन दोषों के होते हुए भी 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा शुद्ध लड़ीबोली के धार्मिक समीप है। सदाहरणार्थ पुस्तक का एक अंश देखिए—

"धो नाटी स्वामी को निगदी धो नित्य कलह करती है सो वहाँ जाती जाती है कि जहाँ बड़े-बड़े सीमर के संघारे ऐसे लहर रहे हैं। पति के मरे पर धीरों से मिलती है। बम के दूत सब बिच की बीम को काट लेते सो घटपातु की प्रतिमा को पकड़ाते हैं। ईसाई प्रचारकों का योग

— उपयुक्त बातें लेखकों की भाषाओं पर ध्यान देने से हमें इनमें से ईशाघस्ता का भी भाषा में ही धार्मिक प्रौढ़ता और लड़ी बोली की शुद्धता मिलती है। यत्न. हम यह सचते हैं कि रामप्रसाद निरंजनी ने स० १७६८ में लड़ी बोली-गद्य के विश्व स्वरूप की प्रतिष्ठा अपने "भाषा योगसाहित्य" की रचना द्वारा की जहाँ विविध साहित्यिक रूप सैयद ईशा घस्ता का ने प्रदान किया और वही उनके परचाणू के अर्थ मघकारों की भाषा बनी। ईशा के परचाणू लड़ी बोली के अर्थ को प्रतिष्ठा करनेवालों में मुंशी मदन-मुनतास है जिन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के उत्तम और अर्पणलम शब्दों की स्थान से उनके संस्कृत-प्रचुर रूप का धारण उपसिद्ध किया। ऐन काम पढ़ता था कि अत्र लड़ी बोली के अर्थ को प्रतिष्ठा वर्णकल्प हो चुकी है और इसके अर्थात् अर्थ-रचनाओं को परम्परा धार्मिक विचलित होती आयी किन्तु इन संस्कारों के परचाणू स० १९१५ तक इस विरा में कोई काम नहीं हुआ। हाँ ईसाई प्रचारकों ने अवरय ही इतने काम उद्योग। उन्होंने प्रचारार्थ काश्चित्त का अनुवाद कराया पाठ्य-पुस्तकें निगवाई और अन्य प्रचार-साहित्य भी लड़ी बोली-गद्य में ही तैयार किया। इनका यह काम स० १८७५ तक पूरा होयगा। उन्होंने इन अनुवादों में मुंशी मदनमुनतास और मन्मथान का भाषा को ही प्रथम किया और यथाशक्य उनमें अरबी-फारसी के शब्दों का समावेश न होने दिया। ईसाइयों का यह सफल साहित्य बाल्य में प्रचार

“उर्वर मार्तंड” का प्रकाशन पं० जगन्निशोर ने सं० १८८३ में धारम्भ किया था। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

“यह उर्वर मार्तंड कम पहिले पहल हिन्दुस्तानियों के ह्रिद के ह्रिद को धाम तक सिन्धी ने नहीं बनाया पर अंगरेजी धी पारसी धी बंभले में जो समाचार का कालक लपटा है उसका कुछ उन बोलियों के बालने धीर फलेवालों को ही हुंसा है। इमसे अल्प समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर धाप पड़े धी समझ लेवं धी पछई फलेवा न करें धी धपने धपने की लपन न छोड़ें।”

“उर्वर मार्तंड” अन्वयत हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र था। इसके पूर्व हिन्दी में किसी पत्र के निकलने का पता नहीं मिलता।

सं० १९ * में प्रकाशित बामू तारामोहन सेन का पत्र ‘सुभाकर’ एक महत्व पूरा पत्र है। यह पत्र राजा तिलकप्रसाद के ‘बहादुर बखवार’ पत्र की प्रतिस्पर्धी में लिखना मया था। राजा बाहूब का पत्र बनने भर की हिन्दी पत्र था। उसकी लिपि अक्षर ही ‘बैबनाथी’ थी पर भाषा उर्दू की जो हिन्दी-भाषी जनता के सिन्धी काम की न थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

‘देखकर लोग उस बाठाले क किते के मजलों की खूबियाँ धक्कर बयाप करते हैं धीर उनके बगले के अथ की उजवीर करते हैं कि क्या सँ विवाहा जगा होना धीर हूर तरह से साफक तारीफ के है।

‘सुभाकर’ ठेठ हिन्दी का पत्र था। इसकी भाषा प्रीति धीर परिभाषित प्यठी थी। इसके पत्राङ्क सं० १९ १ में मालाघ से ‘बुद्धि-प्रकाश’ नामक पत्र धारम्भ हुया। लड़ी बोली-गद्य की बुद्धि से एक महत्वपूर्ण पत्र कहा जा सकता है। इसकी भाषा पर्याप्त विकसित होती थी। अबाहरार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

“इस परिधमीय देश में बहूनों की प्रकट है कि बंभले को रीति के अनुसार उस देश के लोग धातम मृत्यु रोनी को पंता छट पर ले बाते हैं धीर नहूँ ही नहीं करते कि उस रोनी के बन्धे होने के लिए बयाप करने में काम करें धीर उठे कल से रजा में रखें।”

राजा तिलकप्रसाद का प्रयत्न

जिस समय राजा तिलकप्रसाद सिन्धा-विभाज में धाने उस समय लड़ी सिन्धि स्थिति थी। राजा बाहूब हिन्दी के पत्रपाठी थे पर सिन्धा-विभाज में मुसलमानों का अधिक प्रभाव होने से उर्दू का बोल-बाला था। स्कूलों में भी उर्दू की ही सिन्धा का प्राबल्य था। इसी स्थिति के कारण उन्होंने उर्दू-पिधित हिन्दी का प्रयोग धारम्भ किया था धीर बाहूब ने कि इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दी की सत्ता स्थापित हो जाने।

पूसे घरातत की भाषा भी उर्दू की जिससे राजा साहब यह भी चाहते थे कि हिन्दू लोग भी उर्दू जानें और उनके नाम उठानें। इन्हीं कारणों से राजा शिवप्रसाद ने उर्दू-विषय हिन्दो के प्रयोग पर बल दिया था सम्झना से शुद्ध हिन्दी के ही पक्षपाती से और स्वयं शुद्ध हिन्दी लिखने की समझ भी रखते थे। उदाहरणार्थ उनके एक लेख 'राजा बीर का सपना' का अंश देखिए—

'राजा की सोल म्हा गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमरमर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया वहाँ वहीं उस पर मक्कारो का नाम दिया है वहाँ उठने बाटोरी और सध्याई में हामी-बाँत को भी मात्र कर दिया है। वहाँ वहीं पञ्चीकारी का हुनर बिलताया है वहाँ जनाहितों को पत्थरों में जड़कर उसबीर का ममूना बना दिया है।'

जिन दिनों राजा शिवप्रसाद उर्दू-विषय हिन्दो के प्रयोग पर बल दे रहे थे उन्हीं दिनों धानप में राजा महमद सिंह ने शुद्ध हिन्दी में रचना करनी आरम्भ की। इनका भाषा के रूप के सम्बन्ध में राजा शिवप्रसाद के मतभेद था। इन्होंने 'रबुंधरा' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि हिन्दो और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों तथा फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा है। जाहे जो हो पर इसमें सन्देह नहीं कि राजा शिवप्रसाद ने हिन्दो का जो रूप तब तक किया उठी की आहार-शिक्षा वर भारतेन्दुकारीक परिष्कृत हिन्दी का रूप प्रस्थापित हुआ। अठ सही बीती मद्य के विकास में राजा साहब की सहाय्य नगण्य नहीं समझी जा सकती।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा महमदसिंह और राजा शिवप्रसाद की भाषाओं का सम्बन्ध कर हिन्दी को एक नया स्वरूप दिया। इसे हम जन-भाषा की भाषा कह सकते हैं उन्होंने सैकड़ों दो शैलियों के नाम दिया। एक शैली का रूप सरल हिन्दी का और दूसरी का रूप संस्कृत-प्रचुर था। प्रथम शैली में उन्होंने आचार्य और सरल विषयों पर लिखा और द्वितीय शैली में एतिहासिक एवं द्रम्य गहन विषयों पर लेख लिखे। इन प्रकार भारतेन्दु के द्वारा पंढिकाऊ शैली से अल्पक हिन्दी मद्य के शुद्ध रूप का निर्माण हुआ समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश ब्रजभाषा से प्रभावित या अतः उनमें गड़ी भाषा मद्य के इस रूप का प्रचार आवश्यक था। यह भाषा अयोध्याप्रवाद सनी तथा ब० बीरदत्त ने जब और सुम-सुम कर अपने जगलों द्वारा दिया। इनी काम के बालवृष्य मट्ट बालमय्यद कुल अम्बिकावतस्यात प्रजापदाउपगु निम्र भीतिवास राज घाटि ने निर्बल-संमन द्वारा, देवबीरमन्द सनी किशोरीनाम योग्यामी योगान-राज मन्वरी घाटि ने उपग्याम निराकर तथा अन्य सैतकों ने माटघाटि निराकर हिन्दी-मद्य के विकास का प्रगल्भीय प्रयत्न किया।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का सवृमन और विकास

शास्त्रकारों ने काव्य को दो रूपों में विभाजित किया है—सम्य काव्य और दूर्य-काव्य। सम्य काव्य केवल युवा या युवा का सकता है, वह नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता किन्तु दूर्य काव्य बिसे रूपक भी कहा जाता है, काव्य का वह विशेष स्वरूप है, जिसमें लोक-परलोक की घटित-अवटित घटनाओं का दूर्य विधान का प्रायोगिक किया जाता है। यह कार्य अमितक की सहायता से किया जाता है। दूर्य काव्य में जीवन-अवयव के विभिन्न व्यापारों की अनुकृति प्रत्यक्ष रूप में होती है। इसमें अनुकृति के घटिरिक्त नृत्य भीत प्रादि अणुकरणों का भी समावेश रहता है, पर वे अणुकरण दूर्यकाव्य का प्राकर्षक बढ़ाने में ही सहायक होते हैं। दूर्य काव्य की मूल घटना—कथानक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। घट' ने दूर्यकाव्य के अतिव्यर्थ अर्थ नहीं है।

सभी विद्वान् यह मानते हैं कि धार्मिक नाटक धार्मिक मानव के हर्ष और प्रायोगिक सूचक था। धार्मिक काव्य में सब मानव अपने मनोमात्रों को व्यक्त करने में यत्नमय था। ठर वह अपने हर्ष की दबा न सकने के कारण हृद-विह्वल हो नृत्य करके मय जाता होगा। उसका यह नृत्य कला-विहीन रहा होगा, पर वह अर्थों-अर्थों विकास की ओर बढ़ा गया। उसके इस कला और सौन्दर्य से विहीन नृत्य में गति और सब ने स्वागत पाया होगा और इसके परभाव ही इस कला की प्रयागियों का निर्माण हुआ होगा। उन दिनों धार के नाटकों को ठर उनके कथानक अर्थों को अनेक घटनाओं पर प्राचारित न हो अल्पकाल की सीमित घटनाओं पर ही प्राचारित होते थे। इसीलिए पहिले नाट्य और गीत में भी एक नाटक में केवल एक दिन की घटनाओं के ही समावेश का विद्यम था।

भारतीय नाट्य की रचना

यद्यपि धार के नाटककार प्रास्तावक रीति के अनुकरण पर वाद्य-रचना करने में ही प्राचीन नाट्य-साहित्य की समृद्धि करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर देश में स्वतंत्र रूप में नाटक-रचना का रूप पहिले ही प्रकट किया जा चुका है और हम दुःख के साथ कह सकते हैं कि अर्थों का रचना-रूप प्रास्तावक प्रकाशी से किसी अंत में रूप अकृष्ट नहीं है। यही अनु-रिती से कई सत्ताधी पूर्व "नाट्यशास्त्र" अति अर्थानुपूर्व अर्थ को रचना हो चुकी है और काबिराज तथा बाबू अर्थ अर्थ के नाटककार

धरती धनुषम नाट्य-महिमा प्रस्तुत कर चुके हैं। नाटक-कला के धर्म-उपायों का जितना सूक्ष्म विश्लेषण यहाँ किया गया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'नाट्यशास्त्र' में द्रष्टा के द्वारा वैवस्वत मनु के दूसरे पुत्र में चारों बेटों के द्वारा नाट्य के पंचम बेट की रचना का उल्लेख है। इस नये बेट के लिए अग्नेय से संवाद, सामवेद से पान अनुबोध से नाट्य और अपववेद से रस लेने का उल्लेख किया गया है। इसमें नाट्य-रचना तथा नाट्यप्रतिपाद्य से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। नाट्य-विषयक जो व्यवस्थाएँ यहाँ धरती विकसित रूप में बहुत प्राचीनकाल में प्रचलित थीं वे १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में जो यूरोप में नहीं देखी गईं। नाटक का संक्षेप साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक विस्तृत है, ऐसा कि नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है नाटक में योग कर्म, साहित्य समस्त शिल्प एवं विरह के अन्य विविध काव्यों को स्थान दिया जा सकता है

“न स योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यत्र हरयते ।

सत्त्वशास्त्राणि शिष्टानि कर्माणि विविधानि च ॥”

नाटक के मूल में धनुकरण की प्रवृत्ति का ही प्रमुख स्थान है। यह मानव मान की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम इसी प्रवृत्ति का विकास मानव-जीवन के वास्तविकता से जुड़ावस्था तक देखते हैं। नाटक में भी उसके पास उन व्यक्तियों का धनुकरण करते हैं जिनकी जीवन-घटनाओं पर नाटक आधारित होता है। इस धनुकरण के द्वारा मनुष्य अपने भाव को अधिक व्यापक रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है। वह कभी एक व्यापक मुद्रातक का धनुकरण करता कभी एक घायाबात का प्रतिनिधित्व करता, कभी शोषित-जन के अधिस्तुत जीवन का प्रदर्शन करता है। इसी प्रकार नाटक का प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसके जीवन अथवा कार्यकलाप को रंगमंच पर अवस्थित करता है। इसके अतिरिक्त नाटक का द्वारा कुछ ही समय में विभिन्न व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों के जीवन से परिचय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। वास्तव यह है कि नाटक के द्वारा मानव-सम्पत्ता के लक्ष्य कर्तों का स्तन करण जा सकता है। संक्षेप में नाटक के मूल में चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ काम करती हैं—: १ धनुकरण की प्रवृत्ति २ आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति ३ वादि-रक्षा की प्रवृत्ति और ४ आत्मनिष्पत्ति।

नाट्य-तत्त्व

धरती नाट्यशास्त्रों के अनुसार धनु, पात्र कथोरकथन, इतरात्र शब्दों और उद्देश्य नाट्य-तत्त्व है। हमारे आचार्य व वस्तु, नाटक और रस ही नाटक के तत्त्व माने हैं और इसी आधार पर उन्होंने कर्तों के वेद और धनुष निरूपण किया

सारे नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध होना चाहिए। उसके प्रत्येक पात्र का स्वल्प ऐसा हो जो कथावस्तु की वृद्धि से उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े। नाटककार को अपनी कथावस्तु और पात्रों के सम्बन्ध से ही पात्रों का चरित्र-चित्रण करना पड़ता है। नाटक का सारा चरित्र-चित्रण भूमिनात्मक ही होता है। सारा चरित्र-चित्रण और चरित्रात्मक ऐसा हो जो भाव ही दर्शकों को पात्रों के स्वभाव-प्रकृतिमें संपूर्णरूप दिखार धारि से परिचित करावे।

पात्रों के अन्ततः नायक और नायिका का विशेष स्थान है। अन्ततः के मतानुसार नायक को विनीत मधुर स्वामी बह प्रियवर्ध सुवि युवा प्रह्लादानु, हृदि-सम्पन्न वत्साही बुद्ध तुर तेजस्वी धारि होना चाहिए। तात्पर्य यह कि वह अनेक उच्च गुणों से सम्पन्न हो। पर इन सब गुणों को भी उचित रूप में ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ वह ऐसा विनीत न हो कि बाह्य को उसे क्षणभङ्गि कर दे। स्वभाव मेर से नायक चार प्रकार के नई गये हैं—धनुकूल वृद्धि ठठ और भूठ। ये चारों भेद एक ही नायक को उचितरूप चरित्र इतनी हुई धर्मधर्मों के भी ही उचित हैं। अब नायक एक ही पात्री में धनुकूल हो सब वह धनुकूल पर अब इस लकीर अर्थ को धिक्काने का प्रयत्न कर पूर्ण है पूरक ही प्रेमचरित्र करता है। सब वह वृद्धि; इस लकीर प्रेम के प्रकट हो जाने पर ठठ और इस अर्थ के प्रकटन में वह मिलन हो आय तो भूठ ही जाता है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने नायक के चार प्रकार बताए हैं—
 १. जिस नायक में उचित जया ज्ञान-सम्पन्न धारता धर्मरता चिरता बुद्धि धारि युक्त ही वह धीरोदात्त नायक कहलाता है।
 २. जिस नायक में चित्त की चिरता कोमलता कला-चित्तता श्रुद्धारचित्तता और सुख की धारका हो वह भी उचित कहलाता है।
 ३. अविज्ञान उचितत का नायक दुर्घटन इति प्रकार का है।
 ४. संतोष उचितप्रिय सुखानुभवी नायक धीर-उदात्त कहलाता है। यथा माण्डवी-माधव नाटक का नायक 'माधव'।
 ५. जो नायक अपत भूत सम्पत्ती और धारत-असंशय ही पड़े धीरोदात्त कहा गया है। इस प्रकार के नायक को 'अन नायक' भी कहा जाता है। महाभारत नाटक में युधिष्ठिर इति रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नायक की पत्नी "नायिका" कहलाती है। पारंपारिक मतानुसार नायिका का नायक की पत्नी होना आवश्यक नहीं है। भारतीय कथावस्तु में जिसे प्रधान स्थान प्राप्त हो, वही नायिका होती है। पर भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक की पत्नी ही नायिका होती है। नायक के सामान्य सुख नायिका में ही होने चाहिए।

नाट्यशास्त्र में प्रथम में दिखाया गया कि कौन-कौन से नाट्य-प्रकारों के विकास के प्रकार बतलाये हैं। नाट्य-प्रकार के विकास के प्रकार स्वकीया, परकीया और सामान्या हैं। स्वकीया प्रथम परकीया दूसरे की और सामान्या किसी की भी स्त्री होती है।

३ कपोपकथन

नाट्य के पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि के विकास और विचार-प्रकार का पता कपोपकथन से ही लगता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिक विचारों का विशेष ध्यान रखकर लिख-लिखाया गया होता है और कपोपकथन का सम्बन्ध कुछ ऐसी बातों से होता है जो प्रत्यक्ष धर्मनियम में नहीं पायीं। इस सम्बन्ध में कपोपकथन ही धर्मनियम का एक मुख्य अंग बन जाता है क्योंकि ऐसे नाटकों में कपोपकथन का समस्त विकास और उसकी व्याख्या उस कपोपकथन पर ही अवलम्बित रहती है। इसी प्रकार नाटककार टीका-टिप्पणी आदि का कार्य भी कपोपकथन से ही होता है।

हमारे पाठकों में कपोपकथन अथवा कथन के तीन भाग हैं—विषय-व्याप्त, मन्व-व्यय और मन्व-व्यय। जब रंगमंच पर कई बातें हैं तब उनमें से यदि कोई एक बात अन्य बातों से छिटाकर कुछ विषय-व्याप्त में ही कुछ कहता है तो तो वह विषय-व्याप्त, यदि सभी को सुनाता ही कुछ कहता हो तो मन्व-व्यय पर यदि वह ऐसा बतले तो माने कि किसी को कुछ सुनाता न चाहता हो और न समझे माने कोई सुनाता हो तो वह कथन-व्यय कहना है। उसे ही 'कथन' या 'व्यय' भी कहते हैं। पर नाटककार को इस प्रकार के स्वयं-कथन का माध्यम अनिश्चित में ही लेना चाहिए।

इसके विषय हमारे पास एक प्रकार का कथन नाटक में भी होता है, जिसका पारंपरिक नामों में स्वयं-कथन है। इस "स्वयं-कथन" कहते हैं। इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई कुछ पूछ रहा है और वह पात्रों की ओर मुँह करके उनका उत्तर देता है। कभी-कभी ऐसा कथन ही कथन का अन्वय को बतलाता है।

४ दूर-काल

कपोपकथन के अन्वय-व्यय की तरह ही नाटक में भी दूर-काल का ध्यान रखना पड़ता है। इसमें संकथन-व्यय का विशेष महत्व है। यह संकथन दूर-काल का व-व्यय बतलाने के सम्बन्ध में भी होता है। इसकी कथन-व्यय, कथन-व्यय और दूर-काल का स्वयं-कथन कहते हैं। इसका अन्वय उसी प्रकार उठ जाता चाहिए कि जिससे कथा के अन्वय और अन्वय-व्यय पर ध्यान न हो।

(१) बाल-सकलन की दृष्टि से प्राथमिक कथावस्तु का इतना विस्तार न होना चाहिए कि प्राथमिक कथावस्तु सब कार्ये और प्राथमिक कथावस्तु ही प्राथमिक कथावस्तु बन जावे।

(२) काल-सकलन के विद्यालय के अनुसार, जो कार्य बितने समय में हुआ हो, यह माध्यम में भी बहुत ही समय से हुआ चाहिए; इसीलिए यूनानी उत्कृष्टता अत्यन्त न यह नियम बना दिया जा कि एक माटक में बहुत ही बटनाएँ होनी चाहिए, बितनी २४ घंटे में हुई हों और इसीलिए बहुत-सी बटियाँ घंटे माटक होता या पर एक बटनाघर के काल में काल-सकलन बाधक नहीं होता। अब काल-सकलन से केवल यही उत्कर्ष समझा जाता है कि छोटे-छोटे बटियाँ घंटे न बटनाई जाय बरन् घंटे बटनाएँ कासकलन से बटनाई जायें। दूसरे जो बटनाघर के बीच के समय पर बटियों का ध्यान न जाना चाहिए।

(३) काल-सकलन की दृष्टि से यूनानियों के मतानुसार रचनाकार का कुर्य भाषि से प्राप्त एक ही रहना चाहिए। यूनानियों ने यह नियम इसलिए बनाया था कि उनके पाठक धार्मिक से प्राप्त एक रंगरत्न पर ही उपस्थित रहते थे।

५. उद्देश्य

माटक अथवा उपन्यास का उद्देश्य जीवन की व्याख्या अथवा भाषीयता है। उपन्यासकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या या भाषीयता कर सकता और करता है, पर माटककार को यह कार्य केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही करना पड़ता है। एक विद्वान् के मतानुसार उपन्यास जीवन की सबसे अधिक विस्तृत व्याख्या है, पर माटक का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है। उपन्यासकार जीवन की व्याख्या करने का सब काम स्वयं करता है, पर माटक में जीवन की व्याख्या समझने का काम बहनों पर प्रा पड़ता है। माटककार स्वयं कभी हमारे सामने नहीं जाता। कोई पात्र बितनी बातें कहता है उन सबके लिए माटककार ही उत्तरदायी माना जाता है; इसीलिए माटक के समस्त पात्रों के कथनों का मापदण्ड मिलाप करके और उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझकर माटक के उद्देश्य का निष्पत्ति किया जाता है किसी पात्र विचार के कथन से माटक का उद्देश्य निश्चित करना असंभव होता। पर ही किसी-किसी पात्र के उद्देश्य अन्वय में ही होते हैं जो वास्तव में माटककार के उद्देश्य के ही उद्देश्य होते हैं। ऐसे उद्देश्यों के आधार पर ही माटक का उद्देश्य त्तर किया जाता है। अनेकों के सुप्रसिद्ध कवि रोमी के मतानुसार कथ्य का उद्देश्य के अन्वय के साथ ही सम्बन्ध है, यह माटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। यह माटक में सत्य भी है। पात्रों में माध्यकार अपने गुण का आरत

रचता है, यद्यपि इनसे उत्कृष्टतम समाज के उत्कर्ष या ध्वस्त्य—उद्वेग या पतन का ज्ञान हमें हो जाना है। यही नाटक का सबसे बड़ा उद्देश्य नैतिक उपनिधि और सामाजिक कल्याण को प्राप्त करने का जन्म देना स्पष्ट है।

३ शैली

कथोपकथन ही नाटक की मुख्य शैली है। नाटक में कथोपकथन (संवाद) के साथ ही सीतों और नृत्यों का भी स्वागत है। यद्यपि गीत और नृत्य नाटक के अभिवाय प्रयोग नहीं हैं तथापि इनके समावेश से नाटक का पाठ्य और प्रभाव बढ़ जाता है। इन दृष्टि से नाटक की चार शैलियाँ मानी गई हैं।

१ कौशिकी शैली

नाटक में शृङ्गार और हास्य का समावेश जिस शैली के द्वारा किया जाता है उसे कौशिकी शैली कहते हैं। योद्ध और नृत्य सम्मिश्रित नाटकों की रचना इसी में होती है। इन शैली का जन्म सामवेद से माना जाता है।

२ सार्वभौम शैली

इसका संबंध क्या उदारता का नाम ही है। यह शैली में शोक, रोद और अनुभव का प्रदानता होती है। इसका जन्म यजुर्वेद से माना गया है।

३ आरभन्ती शैली

इस शैली में शोक संघर्ष युद्ध पर्यन्त का व के द्वारा रसोत्पत्ति होती है। इसका जन्म धर्मवेद से माना गया है।

४ भारती शैली

यह शैली से उत्पन्न होती है। इसका सम्बन्ध केवल युद्ध पात्रों में होता है। प्रायः तथा रस इन शैली के सम्बन्ध में आते हैं।

नाट्य रचना की इन विभिन्न शैलियों के हाते हुए भी कोई नाटक किसी एक शैली में ही नहीं किया जा सकता। नाटक के मिश्र-मिश्र शैली पर मिश्र-मिश्र शैलियों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि, पूरे नाटक की इन चारों शैलियों का एक सम्मेलन कहना ही उचित होगा।

नाटक को रस-काव्य कहा गया है। यद्यपि यही नाटक अभिनीत होने में ही है। जो नाटक अभिनीत नहीं किये जा सकने उन्हें पुरुषोत्तम रस काव्य प्रथम नाटक कहा ही गया है। यही कारण है कि नाटककार को नाट्य-रचना करते समय अभिनीत शैली के विशेषताओं का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। हम इन प्रयोग में अभिनीत और रस-काव्य संबंधों प्रमुख बातों पर भी विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अभिनीत

अभिनीत ही नाटक का प्राण है। इनके द्वारा नाटक के पात्र मानव-जीवन

को विविध स्थितियों को ध्यानपूर्वक करते हैं। नाट्याचार्य भरत के मतानुसार अभिनय के चार प्रकार हैं—

आभिक, वाचिक, साहार्म तथा सात्विक। शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा की जानेवाली भावाभिव्यक्ति सात्विक अभिनय है। बाकी द्वारा संवाद रूप में किया गया अभिनय 'वाचिक' कहलाता है। यह अभिनय सात्विक अभिनय में ही सम्मिलित होता है। वैशम्पायि से सम्बन्धित अभिव्यक्ति कथवा अभिनय 'साहार्म' है। रोमांच, स्तम्भ, धनु, हास्य स्वर आदि के द्वारा जो सात्विक भावों की अभिव्यक्ति की जाती है वह 'सात्विक' अभिनय कहलाता है। अभिनय के इन चारों प्रकारों का परस्पर सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के पूर्ण नाटक स्पष्ट और प्रभावकारी रूप में दर्शकों के सामने प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

रंगमंच

भारतीय नाट्य-विशेषज्ञों ने रंगमंच के आकार-बकार, लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई, शब्द-संख्या आदि का अस्तुत विवेचन किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारतीय रंगमंच का विकास भरम सीमा तक पहुँच गया था। हिन्दी नाटकों का रंगमंच अभी भी पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है। सर्वप्रथम सन १९०८-१९०९ में ही हमारा ध्यान रंगमंच की ओर आकर्षित किया। इनका रंगमंच अत्यन्त ही पृथक् और निम्न कोटि का था। बाबू नारदेंद्र हुड्डिस्वर ने हिन्दी-रंगमंच को एक व्यवस्थित रूप दिया। भारतेन्दु-काल को हिन्दी-रंगमंच का जन्मकाल ही कहा जा सकता है। उस काल में ही उसके परचाय भी कुछ नाट्य-धर्मियों ने इसका विकास करने का प्रयत्न किया किन्तु रंगमंच का जितना विकास महात्माजी और बंगाल में हुआ उतना हिन्दी भाषी क्षेत्र में सम्भव न हो सका। हिन्दी के रंगमंच के विकास का प्रयत्न ही रहा था कि चल-चित्रों का आविर्भाव हो गया और उसकी चकाचौंध के सामने हमारा यह प्रयत्न भीका पड़ गया। अभी कुछ दिनों से एकाग्रियों के चलन के साथ कुछ इस कोर ध्यान दिया जाने लगा है किन्तु अभी भी हिन्दी के रंगमंच का विकास समुच्च ही बना हुआ है। ऐश्वर्य कर्मों की लोकप्रियता के कारण भी हमारा यह प्रयत्न अत्यधिक विचलित गति से जारी बड़ रहा है।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का विकास—

कुछ विद्वान् भारतीय नाट्यकला की यूनानी नाट्यकला का अनुकरण मात्र मानते हैं, किन्तु अत्युत्कृष्ट ऐसी नहीं है। बस कि आरम्भ में बड़ा का कुछ है भारतीय नाट्य-परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। नाट्याचार्य भरत के मतानुसार भारतीय नाट्यशास्त्र बड़ा द्वारा सृजित पंचमण्ड है। भरत के मूल की भाषा प्राकृत (इसके चौबीस शताब्दी पूर्व, नै 'कुतारव एव विनायिन्' नामक नाटककारों का सम्बन्ध

किया है। हरिवंश पुराण में 'रामनाम' तथा 'श्रीनेत्ररम्मविद्यार' नाटकों के प्रमिनीत होने का उल्लेख है। इसी की प्रथम शताब्दी में 'भास' द्वारा 'स्वप्नवासव' 'वसन्ता', "प्रतिमा योगनटायण" आदि ऐस्य नाटकों की रचना हुई थी। इसके परचात कालिदास से नाट्य-साहित्य के निर्मास की एक स्वयं-अद्वयता ही धारम्भ हो जाती है, जो संस्कृत-साहित्य में आज भी किसी न-किसी ढंग में परिमल्लिखित है। संस्कृत-नाट्य रचना की नई परम्परा हिन्दी को एक विपद्यत के रूप में प्राप्त हुई और हिन्दी को नाट्य-परम्परा के अरुम धीर विकास को धारण बनी। हिन्दी के नाट्य-साहित्य का अरुम धीर विकास मध्य भारतेंदु-काल से माना जाना है तथापि इसका अरुम किसी न-किसी रूप में ऐस्य शताब्दी में हो चुका था। आ० दरारण घोष्य ने ऐस्य शताब्दी में रचित 'गय मुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। इसके परचात उन्होंने कुछ मूल्य नाटकों का उल्लेख किया है जिनमें कवि विद्यापति-रचित 'मौरवा-विजय' नाटक का भी स्थान है। इसके परचात 'रासमीमा' नाटकों का स्थान है। इसके अन्तर हमें 'हृदयघम ना' 'हनुमन्नाटक', बनारसीवास का 'समय सार' नाटक मुख घोषिकरतिह का 'बडी बरिज', मराठान्तिह का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नेवाज का 'समुत्तमा' आदि नाटकों का पता लगता है; किन्तु इनमें से कोई ना एसा नाटक नहीं है जिसमें हमें नाट्य-तत्त्वों का समुचित विकास मिलता हो। फिर भी हम उन्हें हिन्दी की नाट्य-परम्परा धारम्भ करनेवाले भारतीय नाटक धारण कह सकते हैं। हिन्दी के नाट्य-साहित्य का वास्तविक धारम्भ भारतेंदु-काल से ही होता है। हम नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से भारतेंदु से आज तक के काल को तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं—भारतेंदु युग प्रचार युग और प्रतापोत्तर युग।

भारतेंदु युग सन् १८२० से १९०० ई का प्रथम नाटक 'नहुष ई' जिसकी रचना भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने सन् १८४१ ई की थी। इसके परचात सन् १८५१ में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित नाटक 'ममिज्जान' शानु ठल प्रकाशित हुआ। वरन्तर बाबू भारतेंदु हरिश्चन्द्र का प्रथम नाटक 'विद्या मुन्दर सन् ८६८ में प्रकाश में आया। इसके परचात उनके अन्य अनेक मौलिक और अनुवादित नाटक सामने आये जिनमें पारंग विद्वान् बरिची हिता हिता न मन्त्रि चर्नत्रय विजय मुद्रारण्यम लक्ष हरिश्चन्द्र, प्रेम घोषिकी, विजय विजयौपयन्, कपूरमन्त्री च इतसी, भारत कुदरा, मोलदेवी धरपेर लपरी लठी प्रताप आदि आदि उल्लेखनीय हैं। इसी काल में भारतेंदु जी की प्ररक्षा से माना भी निवासवास में रतधीर प्रेम मोहिनी सयोमिशासकबंर आदि- एसाद्वयगत ने महापटा प्रचार महारानी बघावनी, दुर्गिनी बाना, बटनीनारायण चौबरी "प्रेमघन" ने भारत घोषाय, नाग बटापुर ने भारत ललता, बाबू लोत्राराम ने विद्या-विदेवना एतानारायण विज

भारत दुर्बला बोलचाल, कमिप्रभाव, इन्मीर हठ धारि नाटकों की रचना की। इन्हीं दिनों तन्परायण कविरत्न ने उत्तर रामचरित' और 'मालती मातङ्ग संस्कृत सैखनुरित नाटक प्रस्तुत किए। बाबू कैशचरित में तन्बाबू सम्भुत, रामशाह लीला मन्जावर मद्र, ने मुख्यकटिक और वं धम्बिकादल ध्याय ने लुठिका नाटक की रचना की है।

हमें भागतेनुकाम के नाटकों में जो विशेषताएँ मिलती हैं, उनमें से प्रथम विशेषता यह है कि धम्बिकाय नाटक या तो पौराणिक ऐतिहासिक है वा तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर आधारित सुमारबादी है।

हमारे इन नाटकों में संस्कृत नाटकों के विपरीत रेश, धम्बनं यादि धर्मीयिक पात्रों का अभाव है। उनका स्वान पर मानवीय पात्र ही उपस्थित होते हैं। इस परिवर्तन से हिन्दी नाटकों को बह परम्परा धारण्य होती है जिसका सम्बन्ध मानव जीवन से है। तीसरे इन नाटकों से कलाकार की प्रकृति बढती गई। बीजे इस काल के नाटक संस्कृत की परम्परायण लेखन-शैली का त्याग कर एक नई शैली की ओर ध्रष्ट होते दिखाई देते हैं। यह धरय है कि इन नाटकों में कथानक की शिपिनता एवं नाट्य-तरणों के विकास की अपुणता बृद्धिबोध होती है। यह हिन्दी के नाट्य-साहित्य का धारमिक मुष है यत इस काल के नाटकों में यह न्युणता स्वाभाविक ही कही जा सकती है। इन न्युणताओं के होते हुए भी यह धरय कहा जा सकता है कि भारतेंदु काल में हिन्दी के नाट्य-साहित्य के विकास के लिए जो कुछ किया गया वह धरयविक पहलपुण है। स्वयं भारतेंदु बाबू की सेवाएँ अनेक बृधि से सम्बन्धित हैं। इनका सबसे धम्बिक पहलपुण काय हिन्दी को एक सर्वथा नवीन नाट्य-शैली प्रदान करता है। वे संस्कृत की प्राचीन नाट्य-शैली तथा अंग्रेजी और बंगला को नाट्य-शैलियों से भी बरिषिठ से किन्तु धम्बिने इनमें से किसी भी एक शैली का अनुकरण नहीं किया। उन्होंने इन शैलियों का सम्बन्ध कर हिन्दी के नाटककारों के लम्ब एक नवीन शैली ही प्रस्तुत की। हम दिनेवी काल के नाटकों में इसी शैली का विकास देखते हैं। धाबाब रामबाबू तुल्ल ने उनकी इस शैली के सम्बन्ध में लिखा है—

'नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम माय का धरबलम्ब किया। न तो बंगला नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अंग्रेजी नाटकों की नरय पर बने और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की बटिलता में अपने को फँसाया।'

हम भारतेंदु के नाटकों में मुख्यतः निम्नांकित विशेषताएँ पाते हैं—

१— उन्होंने कथानक में प्रकृति पबलम्बि और वं धरं प्रकृति की विशेष पहलपुण नहीं दिया।

२— उन्होंने कहीं एक सम्बन्ध हो सका, कथानक में बटिलता न पाये ही।

- ३—उन्होंने प्रायः सभी नाटकों में प्राचीन परम्परा के अनुसार संवसावरण 'नाम्मीपाठ प्रस्तावना प्रादि का प्रयोग किया है। इसी प्रकार बुरव-परि वर्तन के लिए उन्होंने गर्भाङ्ग को भी स्थापन किया है।
- ४—उनके अधिकारी नाटकों के पात्र मध्यमवर्गीय एवं सामान्य ही हैं।
- ५—पात्रों का चरित्र-चित्रण करने के लिए उन्होंने पात्रों की योग्यता और स्थिति का ध्यान रखकर ही उचित कपोपकरण से काम लिया है।
- ६—उनके नाटकों में उत्क्रांतीय नार्मिक राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों एवं समस्याओं का समावेश मिलता है। इस रूप में वे स्थापन-स्थान पर अपने युग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं।
- ७—उनके सभी नाटक कीर्तियों से पूर्ण हैं। इन पीठा में पात्रों की सुन्दर भाषा मिथ्यामि हुई है।

भारतेन्दु-काल के अिन नाटककारों का उल्लेख पहिल किया जा चुका है उनके अनिगिन अिासीमान गोस्वामी-मर्यक मंत्री खगबहापुर मम्म रति बुभुभ, शानि धाम-नाबगमबती, गुररान देवकीनगदन विपाठी, जयनारगिह-रखावपन, एरो अरिअ कमबुओ जनेऊ धारि प्रदमन- बामहृण्ड अट्ट-शिया राबाअरण्ड गोस्वामी बुड मुंह मुहाने हरिअड कुलधेठ-ठनो की अयेठ गोपामराम गहमरी-दादा और मै धारि नाटककार भी उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-काल और प्रमान-काल के मध्य में भी कुछ नाटक मिले गये किन्तु उनमें से अधिकांश संस्कृत अंशों और अंभना नाटकों के अनुबाह ही थे। इन अनु बारिन नाटकों में इण्डुदेव शर्मा का भतुहरि, राअरयाग ज्वालाप्रसाद मिध का वेणो महार-रामेरवर भट्ट की रत्नाबनी शठिनाप्रसाद का प्रबोध अण्णोरय देवीरत्त विचारो का उशरउमरविन लामा नोठाराज के महावीररविन धी- उठरराम अरि धारि संस्कृत के अनुबारित नाटक अस्नेखनीय हैं। रामहृण्ड बर्मा ने बीर नारी अन्नाबनी और इण्डा नृमाठी नाटकों का संभना से अनुबाह किया। इह्नी रिनो रोअनविपर के कुछ नाटक हिन्दी में आये।

प्रसाद काळ

भारतेन्दु के परबाणु बाबू अयगधर प्रसाद ने हिन्दी क नाट्य-साहित्य का अनि- निधित्व किया। प्रसाद को का अधिकांश वास्तव में हिन्दी-नाट्य-साहित्य के अज में एक नातिनारी के रूप में हुपा का। बस्तु विधान, नाट्य रीती आया धारि अमी वृष्टियों से उग्होंने इन बाल में एक युगाणठकारी परिवदन कर दिया। रंगमंच की वृष्टि के

उनके नाटक भले ही पूर्ण सफल न हो सके हों किन्तु इधने सन्देह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से वे अत्यन्त मूल्यवान् हैं। उन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की विश्व परम्परा को जन्म दिया अतः क्रमशः विकसित होकर हिन्दी के नाट्य-साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है। सब प्रथम सन् १८१० में सञ्जय नाटक से साज उन्होंने हिन्दी के नाट्य-साहित्य में प्रवेश किया। उनके अन्य नाटक कस्माखी परिषद कस्मानम प्रायश्चित्त राजपथो विद्यालय अन्वयानु, जनमेजय का नागरज-स्त्रगुप्त चन्द्र-गुप्त एक बूट और द्रुपदस्वामिनी हैं। इन्हें प्रसार की के धर्मिकता नाटकों में भारतीय एवं पारचात्य नाट्य-दर्शनों का समन्वय मिलता है। उनके नाटकों में विहित संभव और अविहितवैचित्र्य पारचात्य नाट्य-दर्शनों की स्वीकृति का ही परिणाम है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटकों का सुखान्त होना आवश्यक है और पारचात्य दृष्टिकोण सुखान्त नाटक ही महत्त्वमय है। प्रसार की के नाटक सुखान्त और सुखान्त का एक समन्वय है। संभवतः यही देखकर कुछ विद्वान् उनके नाटकों को सुखान्त अथवा सुखा-त न मान कर 'प्रसाधान्त' मानते हैं। इस युग के अन्य प्रमुख नाटककारों में प. गोविन्दरत्नराय पठ, प० माधवमाला जयवंशी प्रेमचन्द उग्र बाबू गोविन्दराय धारि हैं। बरमाणा, और राजकुमार पन्त श्री ८ कृष्णचंद्र मुद्द जयवंशी श्री का कर्नाला प्रेमचन्दरी का, महात्मा ईसा तथा नया का बेटा अज्ञेय का तथा कर्म, हज्ज कुलीकता अज्ञेय धारि बाबू गोविन्दराय के नाटक हैं। इस काम के ऐतिहासिक नाटकों में बलदेवप्रसाद मिश्र का मीराबाई बनलाव प्रसाद का प्रताप-प्रतिष्ठा बरौणाथ भट्ट का गुर्गावती चन्द्रराज मन्वारी का लम्हा अज्ञेय विजोपति हरि का प्रबुद्ध-यामुन धारि भी उल्लेखनीय हैं।

इस काम के नये नाटककारों में बरौणाथ भट्ट कृष्णप्रकाश सिंह, हरिदास माधिक श्री पी० श्रीवास्तव, माधव सुन्दर जमनादास मेहरा विजोपति हरि पंडित सुरसग, मीनोतीशरथ गुप्त धारि हैं। बरौणाथभट्ट का कस्मान-खुल नग परिषद और तुलसीदास, कृष्णप्रकाश सिंह का पद्मा हरिदास माधिक का संदीप्तिशरथ तथा अक्षय कुमार, मीनोतीशरथ गुप्त का चन्द्रदास माधव सुन्दर का महाभारत जमनादास मेहरा का निस्वामिन सुरसग का धंधना विजोपति हरि का अज्ञेयगिनी धारि नाटक उल्लेखनीय हैं। ये सभी नाटक रचना की दृष्टि से भी सफल नाटक रहे जा सकते हैं। इस काम में बरौणाथ भट्ट और श्री पी० श्रीवास्तव ने कुछ हास्वरस प्रमाण नाटकों की भी रचना की। श्री श्री अम्नीरवारी लक्ष्मी-श्री विद्या-विद्यापन तथा मिश्र अमेरिकन श्री बरौणाथ भट्ट के तथा ठलट-केट, कुम्हार धारि लक्ष्मी लक्ष्मी, मर्दानी और भूल-कुक्ष धारि श्री श्री पी० श्रीवास्तव के प्रविद्ध हास्वर नाटक 'प्रहसन' हैं। प्रहसनों में पंडित सुरसग का आनंदी मतिस्टुट उग्र का बार बैपार, हरिसेकर

प्रसाद उपाध्याय का कौटिल के उम्मीदवार, रामेरयाम का कौटिल की उम्मीदवारी धारि भी उम्मेदनीय हैं ।

प्रसादोत्तर काल—

प्रसादोत्तर युग में हिन्दी के नाट्य साहित्य का आशाशील विकास हुआ । इन युग में तीन प्रकार के नाटक लिखे गये । हरिकृष्ण प्रेमी बृन्दावनलाल वर्मा तथा चतुर सेन शास्त्री जैसे कुछ नाटककारों ने प्रसाद की ही ऐतिहासिक परम्परा को ही धरमसर करने का प्रयत्न किया । श्रीहरिकृष्ण प्रेमी के रत्नाबंजन, शिवा सावना प्रतिशोध, आहुति स्वप्न भव विषयान राधय संबन्ध प्रवर्तन धारि इसी परम्परा के सुन्दर नाटक हैं । प्रेमीजी के सभी नाटक धर्मिन्यात्मक हैं, जब कि प्रसाद जी के नाटकों का धर्मिनीय करने में अलग कठिनाई है । यद्यत् प्रेमीजी के नाटकों की रचना की दृष्टि से भी धार्मिक सफल रहा जा सकता है । रावी की मात कारमीर का कटिप घाँसी की रानी इन मयूर, पूष की मोर औरबल जहाँदार शाह धारि श्री बृन्दावनलाल जी वर्मा के ऐतिहासिक नाटक हैं । धरम राठीर और बरसय की चतुरसेन शास्त्री के नाटक हैं । श्री जयदीश मायूर का कोट्याक नाटक भी इसी शृङ्खला की एक कड़ी है । डा० रामचन्द्र वर्मा के विजय नव तथा हुसा और हुपाय नाटक का स्थान भी ऐतिहासिक नाटकों के धरमर्गत है ।

दूसरे प्रकार के नाटक हैं जिन्हें समस्या-प्रधान नाटक कह सकते हैं । इन नाटकों पर पाठशाला नाटककार इत्तन, बनौरठा धारि का प्रभाव है । समस्याप्रधान नाटककारों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र अवेगुनाथ धरम और बाबू मोहिन्दराम प्रमुख हैं । संघाती चिहूर की होमी राधस का मंदिर, मुनिष वा रहस्य, आधोरण मुक्ति का धर, बरतराज धारि मिश्र जी के प्रसिद्ध नाटक हैं । इन नाटकों के धरतिरिक्त धारणे "बकम्पू" नामक एक सांस्कृतिक नाटक भी लिखा है । धरक जी स्वय की कलक बंद घटा बेटा ठहान धारि धार जय-नराजय धारि नमस्सामलक नाटक लिखे हैं । बाबू मोहिन्दराम के पूर्वोन्मिषिठ नाटकों के धरतिरिक्त कर्तव्य सेवाधर कुछ कर्तो बडा धारि कील धारि इत द्वितीय परम्परा के नाटक हैं ।

श्री ठहयराधर बट्ट भी वर्तमान काल के प्रसिद्ध नाटककार हैं । उन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक लिखकर इन साहित्य के विकास का प्रयास किया । धरमा धरम-विजय अरसयधर और विरबाधिन ठहके पौराणिक तथा विरमार्णय बाहर, निधयनन मुक्तिधर दृष्ट विजय धारि उनके ऐतिहासिक नाटक हैं । शूद्राधर जयधून निगधर माधनायक का भी एक नाटक प्रयत्न किया है । इन दिनों अनेक नई प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में प्रकट कर रही हैं जिनसे हिन्दी के नाट्य-साहित्य के विकास में एक नूतनान् शृङ्खला के धोन की धारता की जा सकती है ।

रूप में उपस्थित की गई है और भाग्यी एक विषमता गारी का प्रतिनिधित्व करती है। अरिब की वृद्धि से वे दोनों गारी पात्र भी एक-दूसरे के विपरीत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अपने कलात्मक को अधिक-से-अधिक संभवपूर्वक बनाने के लिए ही नाटककार ने इसमें अनेक परस्पर-विरोधी पात्रों का समावेश किया है। पर वह इस विरोध की प्रकृति का अपने नाटक में उचित ढंग से उल्लेखपूर्ण समाहार नहीं कर सका। इस नाटक में प्रसार भी ने अरिब-विरोध और परिस्थितियों को बिलगता प्राधान्य दिया है, उतना वे रस-बोधना को नहीं दे सके। नाटक में और शान्त हास्य प्रादि अनेक रसों का स्थान है, पर इनमें से कोई भी रस पूरक परिष्कृतता प्राप्त नहीं कर सका।

स्वरूप

यह प्रसार भी के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें हमें ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं के समन्वय के साथ पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। नाटक के सभी पात्र एक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील और दूसरे और व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि पर अग्रसर होते वृत्तिगर्त होते हैं। वस्तु-विन्यास स्वाभाविक ढंग से एक नवीन आकल्प के साथ विकसित होता दिखाई देता है। पात्रों के अरिब-विरोध में भी कलात्मकता की तरह ही स्वाभाविकता है। प्रसार भी ने इस नाटक में समूहगत अरिबों के साथ व्यक्तिगत अरिबों का विकास बड़ी सफलता के साथ किया है। अन्य नाटकों की तरह इस नाटक में भी पात्रों की संख्या अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न अरिबों का विकास दिखाने के लिए ही नाटककार ने बांका से कश्मीर तक के विभिन्न स्वभाव, आकांक्षा और मनोवृत्तियों के पात्रों को इसमें स्थान दिया है। अरिब-विरोध की इस विविधता और व्यापकता में भी हमें कहीं अरिब-विरोध की द्विविधता अथवा असमति का बोध नहीं मिलता।

नाटक में दो विरोधी घटनाक्रम आरंभ से अंत तक चलते हैं। इन घटनाक्रमों के विकास में कहीं-कहीं कल्पना से भी काम लिया गया है, पर मुख्य रूप से वे ऐतिहासिक तथ्यों पर ही आधारित हैं। अरिब-विरोध का मुख्य आधार विरोध है। नाटककार ने अत्येक दो पात्रों की विरोध-भावना इस सुंदरता से व्यक्त की है कि वह नाटकमेय विकास में बाधक बनने के स्थान पर सहज ही सिद्ध हुई है। नाटक के अधिकार पात्रों के अरिब-विरोध में हमें मानव-स्वभाव की स्वाभाविक और कलापूर्ण अनुकृति दिखाई देती है। प्रसार भी की सबसे अधिक सफलता 'विषय' और 'देवसेना' के स्वीकृत भावनात्मक आदिभक्त संघर्ष दिखाने में मिली है। इस नाटक की रचना में अर्थात् भारतीय और पारंपरिक नाट्य-लेखन-परम्परा का समन्वय बड़ी सफलता से किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक लुप्त है, किन्तु संघर्ष वस्तु-विन्यास पारंपरिक नाट्य-परम्परा के आधार पर ही विकसित है।

द्रुवस्वामिनी

धर्मस्पर्शिता सरलता और श्रुततामयता की दृष्टि से 'द्रुवस्वामिनी' प्रसादजी का एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसके पूरे उचित नाटकों में स्वतन्त्र-स्वत पर जो काव्य प्रवाह परिशिष्ट है वह इस नाटक में नहीं है। दूसरे, इस नाटक के संघर्षों को धर्म नाटकों की विशेषा प्रतिक यथावधानी रूप प्राप्त है। तीसरे इस नाटक में ब्रिजनी वामिनीरत्नता एवं जलत्कारिका देखा जाती है, उतनी धर्म नाटकों में दुर्लभ है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद जी ने एक नवीन सेवन-रीती के द्वारा इस नाटक को अपनी शक्ति मर रंगमंच के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया है। हमें कुछ समस्याओं को स्वान धरण मिल गया है। फिर भी यह समस्यामूलक नाटकों से सबसे मिला है। इस नाटक में प्रसादजी एक विचारक के रूप में उपस्थित हैं। प्रसाद जी 'स्वर्गगुप्त' का तरह इस नाटक में भी भाटी बरिच-बिचक में नाटो का एक और साहसो और योत्साहित रूप प्रस्तुत किया है।

इस नाटक में दिखाया गया है कि समुद्रगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी जन्मगुप्त है, किन्तु सिधरस्वामी ब्रह्म द्वारा रामगुप्त को सिंहासन पर बिठा देता है। इतना ही नहीं वह ब्रह्मगुप्त की वामिनी का विवाह भी उसके कर देता है। यही द्रुवस्वामिनी मिली है। कहने के लिए रामगुप्त उसका पति है किन्तु उसमें पति होने को समझ का अभाव है। वह राजम-संभासन एवं मुराही में भी अथमर्ष है। शकों के आक्रमण करने पर वह द्रुवस्वामिनी का जम्हे सोपने की शक्ति पर भी उनसे संधि करना स्वीकार कर लेता है। यह स्थिति देखकर कुमार जन्मगुप्त द्रुवस्वामिनी के साथ शक-तिबिच में प्रवेश कर शकराज की हत्या कर देता है। इसके पश्चात् क्षयित और प्रजा रामगुप्त के इन पृथिव्य काम से दस होकर बिरोह के लिए तैयार हो जाती है। रामगुप्त परभुत्त कर दिया जाना है और उसके स्वान पर जन्मगुप्त को सम्पाद-पद प्राप्त होता है। द्रुवस्वामिनी का विवाह भी जन्मगुप्त से हो जाता है। ब्रह्मगुप्त की हत्या के प्रयत्न में रामगुप्त की मरण हो जाती है।

'द्रुवस्वामिनी' प्रसाद जी का प्रथम नाटक है, जो धर्म नाटकों से मिला रंगमंच के प्रतिक उपयुक्त है। और इसमें प्रसादजी ने धर्मक पूरे लोगों से बचने का भी प्रयत्न किया है, किन्तु नाटक-रत्ना की दृष्टि से इसे वह स्वान प्राप्त नहीं है जो स्वर्गगुप्त को प्राप्त है। प्रसादजी के धर्म नाटक विराटत जनवेद्य का भाग्यत्र राजपती धारि है। हमें से 'विराट' एक प्रेम-कथा पर आधारित नाटक है। किन्तु इसे ऐतिहासिक नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। हमें ऐतिहासिक कालों के स्वान पर प्रेम-कथा का ही विषय दिगाई देता है। जनवेद्य का भाग्यत्र एक पौराणिक नाटक है। यह नाटक महाभारत-युद्ध के पश्चात् धारों और धनानों के बीच जन्म वामे रूप पर आधारित है। हमें माय और धनाय, दोनों बनों के

अनेक पात्र हैं। नाट्यकला की दृष्टि से इस नाटक में अनेक चोप विद्यमान हैं। कथानक की विचित्रता संवे सबाब अनादरयक दार्शनिकता बाबि इस नाटक के प्रमुख चोप हैं।

'कामना' प्रसाद की का एक सांस्कृतिक रूपक है। उसमें उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनर्निर्माण का एक मध्य विन्न उपस्थित किया है। सभी पात्र कल्पित हैं। नाटककार ने विभिन्न मानवीय प्रकृतियों को ही अपने इस रूपक के पात्र बनाये हैं। उन्होंने बतसाया है कि किस प्रकार मानव स्वाभाविक धीर सरल जीवन बाह्य मानवनों से प्रभावित होता विकृति की धीर प्रभुत रूप धीर अपनी धर्म एवं विकास-सोनुपता की प्रभुतियों ने उसे पच-प्रह किया धीर इसके परभाव किंस प्रकार उसके पतनशील जीवन की विचमताओं का अन्त होकर उसे विकास के अनुकूल स्थिति प्राप्त हुई। नाटक छोटा है, पर नाटककार ने इसमें मानव-जीवन के लोगों पक्षों की एक विस्तृत-सूचना ही उपस्थित कर दी है। डाक्टर अयल्लाप्रसाद शर्मा के राज्य में बहु रूपक सार्वजनिक भी मूला का सकता है धीर वैयक्तिक भी। इसमें सांबैदिक समाज का विन्न भी है धीर केवल भारतवर्ष का भी।

प्रसाद-नाटकों के मूलाधार

संस्कृत ऐतिहासिकता सांस्कृतिक चेतना मुख्य-मुख की समन्विति विशद चारित्र्य शक्ति प्रभावशाली काव्यात्मकता प्रेम धीर प्रेरणामयी अनुभूति दार्शनिक रमणीयता धीर निपति प्रसाद की के नाटकों के मूलाधार हैं।

संस्कृत ऐतिहासिकता

प्रसाद की के नाटक महाभारत काल से लेकर पूर्ववर्षन तक के इतिहास पर आधारित हैं। प्रसाद की ने इस समय १३ वर्षों के इतिहास का गहन अध्ययन कर अपने नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों में इतिहास-सत्य के साथ कल्पना सत्य का इस संतकता से सम्बन्ध हुआ है कि नाटकों में धातुलिकता का समावेश करने पर भी यथासंभव ऐतिहासिक सत्य तिरोहित न हो सका। डाक्टर अंबेडकर के शब्दों में 'प्रसाद ने भारतीय इतिहास को इतिहास के प्रबुद्ध अन्वेषक की तीव्र दृष्टि से पुखतता सोच कर प्रस्तुत किया है। अतः बहु प्रामाणिक तथा इतिहास रस का संचार करने में पुख समर्थ है। प्रसाद के नाटकों में एक पुख धीर मानवान् अतीत मुस्कृत रहा है।

सांस्कृतिक चेतना

प्रसाद की के नाटकों में हमें उस प्राचीन संस्कृति के रसम होते हैं जो वैदिक काल की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति माने जाती थी। प्रसाद की ने अपने नाटकों को उसी ऐतिहासिक मुय की शिला पर अवस्थित किया है जो सांस्कृतिक बरिमा की दृष्टि से भी महान्

की। उनके बिना नाटकों में हम संपन्न का विशेष विकास देखते हैं। उनमें उन्होंने अंतिम विषय पात्रों की ही दिखाई है। उनका यह सत्य उनकी प्रायः संस्कृति-प्रियता प्रकट करती है।

सुख-दुःख की समन्विति

प्रसादजी के सभी नाटक सुखान्त हैं, किन्तु उनका कोई भी नाटक ऐसा नहीं है, जो दुःखों की सखन छाया से प्रान्धकारित न हो। उनके नाटकों में जो बोझ धीरे धीरे दर्शन का समन्वय है, वह वास्तव में दुःखवाद और प्रान्धवाद का समन्वय है। इस समन्वय के कारण उनके नाटक स्पष्ट रूप में सुखान्त प्रकृत न हो सकें वरन् उनका अन्त सुख और दुःख के समन्वय के रूप में होता है। सम्भवतः यही देखकर कुछ विद्वानों ने प्रसाद जी के नाटकों को सुखान्त प्रकृत न कहकर "प्रसादान्त" कहा है।

विशद चारित्र्य शक्ति

प्रसादजी के नाटकों की बुद्धमूर्ति ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रचुरता है किन्तु उनके पास सर्वथा समशील प्रवृत्ति नहीं है। यही कारण है कि प्रसादजी के पास अपने व्यक्त-वैशिश्य के कारण परिवर्तनीय से दिखाई देते हैं। प्रसादजी को चरित्र-चित्रण में अतिशय सफलता प्राप्त है। उनके नाटकों में बीरतरुणों को सुलभाने वाले प्राणायाम हैं, असीम साहस के साथ शौर्य प्रकटन करने वाले सैनिक और सेनानी हैं, तथा नृत्नीति में विपुल राजकुमार भी हैं और धीरे-धीरे उदात्त एवं सफरों से झुलने वाले पुत्रवधु भी हैं। प्रसादजी ने इन सभी का चरित्र चित्रण उनकी स्वाभाविकता के साथ बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। उनके स्त्री-पात्रों में भीरु-उदात्त में दुर्गा का रूप धारण कर कूदने वाली और नारियाँ हैं राजनीति की भाग मोड़ने वाली राज-महिषियाँ हैं, भीरु-संघट के भँवर में घारमगात् होने वाली मध्यमवर्गीय नारियाँ हैं और वे सुकुमारियाँ भी हैं जिन्होंने धार्य-वसिष्ठ के इतिहास का निर्माण कर विरह के सम्मुख एक परिवर्तनीय आस्था प्रकट किया है। इन सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी प्रसाद जी को अतिशय सफलता प्राप्त हुई है।

प्रभावशाली काम्यात्मकता

प्रसादजी स्वभावतः कवि थे। उनका यह कवि उनके नाटकों में भी एक प्रमुखी प्रायवान् धार प्रवाहित करता सखन इतिहास होता है। हमें उनके नाटकों में नाट्य-वस्तु और नाट्य शक्ति, दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है। डॉक्टर मन्मथ के दर्शन में "प्रसाद ने अपनी ऐसी कल्पना के सहारे दूर अतीत में बिगरे हुए प्रसाद-नरों को एकत्र करके उनमें शक्ति की कविता का रस भर दिया परिणाम-स्वरूप कि

नाटकों का निर्माण हुआ उनका बातावरण कम धीर रंग से चपमगा रहा है। प्रसादजी का हृदय इतना काब्यमय है कि अनेक स्थानों पर उनका गद्य भी गीतों की तरह मधुर और प्रभावशाली बन गया है।

प्रेम और प्रेरणामयी अनुभूति

प्रसाद के सभी नाटकों में प्रेम का स्थान है, किन्तु उनका यह प्रेम वाचना से पूर्व एक महान् प्रेरणामयी पवित्र भावभूमि पर स्थित है। उन्होंने इस प्रेम के विकसित में सबब विभास की पराजय और पवित्र प्रेम की विजय दिखाई है। प्रसादजी का प्रेम हमें उदात्त मानवीय मानना को लेकर प्रभावित होता बुद्धिबोधर होता है। देश-प्रेम के बीजाने इसी से प्रेरणा ग्रहण कर अपने प्राणों की नाबी लगा सधु से छोड़ा लेते हैं।

वार्शानिक रमणीयता

हमें प्रसाद के नाटकों में अनेक स्थानों पर भारतीय सभ्यताम धीर दर्शन की एक रमणीय व्याख्या मिलती है। ये व्याख्याएँ हमें उच्च मानवता की ओर प्रवृत्त करती हैं।

नियति-शक्ति

प्रसादजी का कर्म पर सुदृढ़ विश्वास है, पर इसके साथ ही वे नियति की सत्ता की स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि एक कर्म और नीर पूर्व का माय्य की अनेक बार नियति के द्वार नियंत्रित दिखाई देता है। उनके सभी नाटकों में हम कर्म की श्रद्धा के साथ नियति का विश्वास भी देखते हैं। उनके पात्र नियति पर विश्वास करते हुए भी कर्म को प्रयासता देते हैं और इसीलिए वे सर्वत्र निःशंक होकर कर्मयोग में अग्रस्थित होते दिखाई देते हैं।

'प्रसाद' के नाटक ऐसी श्रेणी में नहीं रखे जा सकते जो स्वतंत्र नाटकों की श्रेणी कहना सके। उन्होंने कुछ पूर्व निश्चित घटनाओं या ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर ही नाट्य-रचना की है। पर 'प्रसाद' के नाटक ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में ही पाते हैं कल्पना-प्रधान नाटकों की श्रेणी में नहीं पाते। 'कामना' और 'एक बूट' ऐतिहासिक नाटक नहीं हैं पर वे प्रतीकारमक हैं इसलिए उन्हें भी हम कल्पना-प्रधान नाटक पुराक्य से नहीं कह सकते। पं० लक्ष्मणराव बाळयेजी का मत है कि ऐतिहासिक नाटककार विस्तृत नाट्य-रचयिता की शक्ति में नहीं या सकते इसलिए उन्होंने "प्रसाद" के नाटकों को 'धार्मिक' शक्ति में ही माना है। हमारा प्रकरण है कि 'प्रसाद' के नाटकों का साधारण इतिहास होते हुए भी उन्होंने अपने नाटकों में ऐसे ही कुछ पात्रों की सृष्टि की है, जो ऐतिहासिक नहीं हैं। उनके नाटकों में ऐतिहासिकता के साथ ही

धनुर्वेदज्ञता पाई है। वह उनको इसी स्वभाव का परिचय है। उन्होंने ऐतिहासिक घटना-क्रमों का निर्वाह करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व-युक्त बनाया है। नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्वापन या चरित्र-निरूपण का प्रयत्न किसी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है जो किसी के नाटककारों में "प्रसाद" को ना स्वतंत्र स्थान निर्धारित करती है।

नाट्यवैशेष्य

प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के उत्तमोत्तम समुच्च राष्ट्रीय आचारण का भी विचार किया है। उन्होंने ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है जो ऐतिहासिक परिस्थिति को विवृत करने के अनिश्चित नाटकीय पात्र बनने की भी क्षमता रखते हैं। प्रसादजी पहिले कवि हैं फिर नाटककार, इसलिए बहुत विद्या उनका विशेषता नहीं है। चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता ही उनका सव-प्रथम गुण है।

उनके सांस्कृतिक नाटक देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। वे केवल यथार्थ विचार प्रकाश इतिहास का व्यक्तिकरण करने वाले नाटक नहीं हैं पर उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें मूल का आचार होना पर भी बतमात्र और सविषय की छाया विद्यमान है। उनका पात्र मूल घटीय के निर्देशक नहीं पर वर्णमाल के संदेशवाहक है।

प्रत्येक पात्र की स्वतंत्र व्यक्तित्व-सौजन्य उनकी उत्तम विशेषता है। उनके प्राब-गामी नाटक पात्र-बहुल हैं। इन विविध पात्रों द्वारा उन्होंने उस ऐतिहासिक युग की सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण बड़ी सुन्दरता से दिया है। इसीलिए उनके नाटकों में पात्रों की संख्या अधिक है।

'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में दुःखान्त घटनाओं को स्थान नहीं दिया और यह भारतीय परम्परा के अनुसार उचित भी था। सहाय्यता, स्फुरकमुक्त के माग में कठिनाइयों का विकास प्रथम ही पाया है। नाटक के विनायक के साथ उसको कठिनाइयों और निराशाएँ भी झुंझनी जाती हैं। उनके सारे प्रयत्न विकृतता की धँवर में ही निर्धारित होते हैं पर प्रसादजी ने अतिम दूरियों में सधे विवरो ही लिखा है। कला की दृष्टि से यह मोक्षता उत्कृष्टमुपक नहीं है। हमने पाया है कि वे सर्व धारने नाटकों की सुगता बनाने के ही आकांक्षी रहे हैं।

'प्रसाद' के नाटकों की एक विशेषता है सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के विचार के साथ ही सामाजिक विचारवाचकों का निर्देशन। "प्रसाद" के यह सामाजिक कर्तव्य-वर्गीय वा इनी प्रथम ही पाई है कि वह नाटक के कलात्मक विकास का वाक्य निर्धारित देने लगी है। उपायवाच्य उनका अन्वेषण का लक्ष्य है।

‘सम्राज्य’ में भी साम्प्रदायिक और राष्ट्रवादी प्रभावों के वर्तन का ही प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। उनके अन्तर्गत ही और विशाल पर बौद्ध-वर्तन का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार उनके अन्य नाटकों में भी हम वही हिन्दू-वर्तन और वही बौद्ध-वर्तन की विचार-वाच प्रवाहित होती देखते हैं।

‘प्रसाद’ भी के नाटकों का वैशेष्य बहुत व्यापक है। उन्होंने जिस युग की कला को लेकर नाटक लिखा उसमें उस युग की पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति चित्रित कर दी है। उनके पात्र ही देश और काल की भूमि पर स्थापित हैं। इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसार के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। इतिहास के माध्यम द्वारा संस्कृति का प्रसार देते हुए वे अपने नाटकों में एक सुन्दर सांस्कृतिक वाच निर्माण कर देते हैं। उनकी यह वाच सर्वत्र भारतीय संस्कृति की विनाशोन्मुख वाच ही रही है जो उनके भारतीय संस्कृति के अन्तिम उपासक होने का प्रमाण है। उन्होंने प्रत्येक नाटक में उसके नामक की उस युग की सांस्कृतिक समस्यारों का प्रतीक माना है और उनके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक निर्माण की सूचना दी है। यही कारण है जो प्रसाद भी के नामक आदर्शवादी बनकर अपने युग की सांस्कृतिक स्थिति और विकास का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारे सामने आते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और काल का सामन्वय आवश्यक होता है।

‘प्रसाद’ इस प्रयत्न में बहुत बड़ी सीमा तक सफल हुए हैं पर समग्र स्तर और काल सम्बन्ध का उन्होंने सर्वत्र ही ध्यान नहीं रखा।

स्वदेशानुष्ठान प्रसार के नाटकों की एक अन्य विशेषता है। उन्होंने घटीत की स्वर्णभूमि पर देश-भ्रम का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने अपने नाटकों में उन प्राचीन युग के पात्रों को स्थापित किया है, जिसका उस काल के इतिहास-निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रकार उन्होंने एक ओर अपने नाटकों में सामाजिक ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया और दूसरी ओर प्राचीन भारतीय संस्कृति के मध्य जिस भी उपस्थित किया है।

मानवीय मनोवृत्तियों के चित्रण में भी ‘प्रसाद’ को बहुत बड़ी सफलता मिली है। यदि हम यह कहें कि संस्कृत के ‘प्रबोध चन्द्रोदय’ के पश्चात् मानवीय प्रवृत्तियों के चित्रण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रवास ‘प्रसाद’ भी ने ही किया, तो अतिशयोक्ति न होगी। अनाहद्वार्य ‘कामना’ नाटक देखा जा सकता है।

‘काम्पात्मकता’ प्रसारकी के नाटकों की सर्वोच्चमिय विशेषता है। हमारा यह बहुत घटितयोग्यपूर्ण न होना कि इतिहास उनके नाटकों का शरीर, संस्कृति आत्मा और काम्पात्मकता उनके नाटकों का प्राण है। उनकी कथा-वस्तु, कथोपकथन और शैली सभी में हमें काम्पात्मकता दिखाई देती है। कथोपकथन में ऐसा आनन्द प्रकटा

है, मानों उनके पास सांस्कृतिक भाषा के प्रतिरिक्त अपने मनोभावों को व्यक्त करने की सुनरो सीधी जानते हो नहीं। उनके माटकों के संवाद यथावशासो कम और सावनात्मक अधिक है।

उन्होंने अपने माटकों को यथावशासो सुमि पर साधारण नहीं किया और उनसे भाषा-सीसी भी बमत्कार तथा काव्य से पूछ है। उनके माटकों का माध्यम गद्य है, पर उनका गद्य भी गद्य से कम मधुर और व्यक्त नहीं है।

प्रसारकी के समस्त माटक मनोवैज्ञानिक सुमि पर साधारण है। इन दृष्टि से उनका कामना' माटक प्रथम है। इनमें उन्होंने 'संगीत' और 'विश्व' का मान कोकरण करके बटनाओं के विषय और संभव द्वारा इन दृष्टियों का उन्मत्त बड़े सुन्दर अंश से बगमाया है। प्रसारकी के माटकों के चरित्र-चित्रण प्रथम होने का एक कारण उनका मानोवैज्ञानिक निष्पन्न भी है। उनके प्रोद्भवत्वा में जिसे माटक मनोवैज्ञानिकता से अधिक पूछ है। उदाहरणार्थ 'संस्कृत' में 'देवता' और 'विष्णु' का चरित्र देगा का सकता है। उनके पास ही वास्तव में मानव जीवन के विविध रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ मानोवैज्ञानिकों का यह भी मत है कि प्रसारकी ने अपनी मनो-वैज्ञानिक चित्रण की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए ही पाठ-बहुत और काम-बहुत माटकों को रचना की है। उनका यह समझा पाठे-चरित्र-चित्रण में अधिक देखी जाती है। उन्होंने अपने माटकों में पाठों के सुन्दर प्रसुन्दर पाठान-विच्छेद, समी क्त प्रस्तुत किये हैं। उनके ये पाठो-क्त मर्वा उनसे अपनी मूर्ति है। प्रसारकी पाठो चरित्र-चित्रण में पुनः चरित्र-चित्रण को प्रोद्घा अधिक महत्त्व और लक्ष्य प्रतीत होते हैं। इन चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता ही उनका मूनाधार है। इसीलिए हमें उनके चरित्र-चित्रण में कहीं भी अस्वभाविकता दिखाई नहीं देती।

उनके सांस्कृतिक माटक देस भी समस्त के प्रतिरक्त हैं। वे केवल यथावत् चित्रण अथवा इतिहास का व्यतीकरण करनेवाले माटक नहीं हैं पर उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें मूल का साधार होने पर भी बगमान और अधिक की काया विद्यमान है। उनके पास मूल पाठों के निर्देशक नहीं पर बगमान के अन्तर्भावक है।

हिन्दी एकांकी स्वरूप और विकास

स्वरूप

‘एकांकी’ का अर्थ एक अंक वाला नाटक है। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के ‘वन एक्ट प्ले’ के भावान्तर के रूप में हो रहा है। विद्वानों ने एकांकी की परिभाषा मिला-मिला प्रकार से की है। श्री सव्युक्तरत्न अग्रवर्णी के मतानुसार ‘एकांकी में एक सुनिश्चित-सुकास्पित लक्ष्य एक ही घटना परिस्थिति अथवा समया-वेद-सफल प्रवाह और निरंतर में चातुरी आवरणक है। शत्रु गोविन्दराज एकांकी में किसी एक मूल विचार या समस्या का होना आवश्यक मानते हैं। वे विचार के विकास के लिए अर्थ की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं और विचार तथा संघर्ष के निःकामक पात्र कथोपकथन आदि की योजना करना आवश्यक मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा वर्तमान हिन्दी एकांकीकारों में अग्रणी हैं। अभी तक उनके एकांकियों के अनेक संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। वे नाटककार ही नहीं पर नाट्यशास्त्र के माने हुए विद्वान् भी हैं। उन्होंने अपने ‘पुष्पोत्पत्ति की आँखें’ एकांकी की भूमिका में लिखा है—

“एकांकी नाटको में अल्प प्रकार के नाटको से विवेकता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का सुजन करते हुए अरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अग्रवाल प्रसंग नहीं होता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कभी की भाँति जिसकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। अंशम कता की भाँति अंतने की अन्ध कथता नहीं।

एकांकी-लेखन में एक कठिनाई और है। इसका कथानक के रूप से उस परिचित हो पाते हैं, जब लगभग भाषा नाटक समाप्त हो जाता है, पर उसका आरम्भ इस प्रकार करना होता है कि रसकों में कौतूहल और उत्सुकता बनी रहे और उसके आरम्भ से अन्ततः संसार अन्तः मूल कथानक के रूप-विभाग में सहायक बनते जाएँ। डा० सखेरा ने अपने ‘हिन्दी एकांकी’ में एकांकियों की विवेकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

‘एकांकी के आरम्भिक में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिचित शक्ति पैदा रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना सुन्नक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक विश्व गति से धीरे बढ़ता है और एक-एक क्षणक घटना को धीरे-धीरे करती हुई कौतूहल के साथ अरम सीमा में अन्त करती है। समस्त जीवन एक अंश के अन्त

में घोर बर्षों की घटनाएँ एक क्षण या एक मुस्काह में उतर जाती हैं वे चाहे मुस्काह हों या दुःखान्त ।

एकांकी नाटकों में स्थान काल और कार्य की समसूत्रता आवश्यक होती है । एकांकी का बयानक एक ही स्थान और एक ही काल का होना आवश्यक है घोर दुःखके साथ ही घटमें बतलाये बर्षों में भी एकसूत्रता दिखाना आवश्यक होता है । सामान्य नाटकों की तरह एकांकी में भी नाटकीय रूप घोर अरिष्ट-अरिष्ट को प्रथम स्थान प्राप्त है । संघर्ष की शांतिमय ही नाटक को प्राणबन्ध बनाती है, फिर यह संघर्ष प्राकृतिक हो या काल्पनिक किन्तु उसका निर्वाह पूष्कण होना आवश्यक है । नाटकीय संघर्ष के सर्वत्र में भी शिबदानासह औहान में लिया है—

“प्राकृतिक रूप पात्र को चेष्टा में अपने ही स्वभाव के विरुद्ध होता है अथवा जब काल परिस्थितियाँ हृदय के भावों में एक टक्कर पैदा कर देती हैं जब कर्तव्य और प्रेम में स एक को चुनना अनिवार्य होता है या जब नाटक के पात्र की नैतिक मानना उसको महात्मावादी की पूर्ति के माप में अवरुध बनती है तब ये नाटकीय परिस्थितियाँ पात्रों के मन में प्राकृतिक संघर्ष को जन्म देती हैं । वे प्राणी कहते हैं— “यह संघर्ष सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन की जितनी ही व्यापक या भूतभूत समस्मार्थों से उत्पन्न होना नाटक की विषय-वस्तु उनको ही अधिक आकर्षणीय साधक घोर महत्वपूष्कण होती ।

अरिष्ट-अरिष्ट का नाटक की तरह एकांकी में भी प्रमुख स्थान है । अरिष्ट-अरिष्ट की पहचान पर ही एकांकी का प्रभाव निर्भर रहता है । अरिष्टों में विविधता होनी चाहिए और यह विविधता पात्रों के बर्षोपबन्ध अथवा संवाद-भाषों के अरिष्ट निर्माण का आधार है अतः यह भी प्रभावशाली समस्पर्शी बाह्यविरुधतापूष्कण तथा विभिन्न पात्रों के अरिष्टों के विकास में सहायक होनी चाहिए । नाटक का समागत विद्यालय अरिष्ट सीमा पर पहुँच कर दरवाँ को मजबूत कर दे या उनका मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ दे तभी वह एक सफल नाटक समझा जायगा ।

श्री अरिष्टनाथ अरिष्ट का मत है कि एकांकी का समय ३३ में ४२ मिनट होना चाहिए । ताब हा समय अमित्य-शीमता और रस-नैकेतों का स्पष्टता भी शर्ती आवश्यक है ।

डा० रामचरण मोग्गल न विभिन्न विद्यालय के अर्थों के आधार पर एकांकी के घाट ताब विरिचन विज्ञ है—बयानक रूप संभव-अव पात्र और अरिष्ट-अरिष्ट बर्षो-अरिष्ट अमित्य-शीमता रस-नै-निर्देशन तथा प्रभाव-एक्य । डा०मोग्गल के ये एकांकी नाटक-रूप नाटक के अर्थों की तरह बयानक, पात्र बर्षो-अरिष्ट देवताम शैली और अरिष्ट के अंतगत या बाते हैं ।

एकांकी का खेब नाटक की तरह व्यापक नहीं है। एक ही नाटक में एक मूल कथानक के साथ एक उप-कथानक को भी स्थान दिया जा सकता है और दोनों का साथ-साथ विकास होता जाता है किन्तु एकांकी में यह सम्भव नहीं है। एकांकी की कथावस्तु एक ही प्रमुख घटना उपस्थित करती है और नाटककार का उद्देश्य इस कथावस्तु के विकास द्वारा एक ही विविध प्रकार प्रत्यक्ष करना होता है। नाटककार को कथावस्तु का रूप जो बड़ी सावधानी से निश्चित करना होता है। वह उसका रूप इस कुशलता से संभारता है कि उसे नाटक-रूप देने में विनयात्तर या प्रभावमिक्त न होना पड़े। कथावस्तु को तरह उसे संवादों के संयोजन में भी बड़ी सज्जता रखनी पड़ती है। वह जानता है कि जबकि उठने ही उसे दृश्यों की ससुकतापूर्वक धारण करनी पड़ेगी और प्रभावित करनी है और उनकी यह उल्लेखता तथा प्रसंगी कथा के प्रति प्राकृतिक अभिप्राय के प्रत्यक्ष उक्त बनाये रखना है। यह कार्य वह कथावस्तु के स्वाभाविक विकास और प्रभावशाली संवादों द्वारा ही कर सकता है।

एकांकी और नाटक दोनों ही दूर-आय है किन्तु इन दोनों में बहुत अंतर है। एकांकी में एक घंटा होने के साथ केवल एक घटना प्रकट एक उपस्था होती है, पर नाटक में एक से अधिक घंटा प्रकट घटनाएँ और एकाधिक समस्याएँ भी हो सकती हैं। एकांकी में केवल एक घंटा होता है, पर एक पूरा नाटक के प्रत्येक घंटा को एकांकी नहीं कहा जा सकता। एकांकी घंटे होते हुए भी पूर्ण नाटक की तरह स्वयं पूरा होते हैं। दूसरे एकांकी का विकास इतना ही होता है जबकि नाटक का विकास विविध घटनाओं को लेकर विविध पथ से प्रयत्न होता है। इस परिशीलता और संक्षिप्तता ही एकांकी की प्रमुख विशेषताएँ हैं। डा. महेश्वर ने अपनी "हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास" पुस्तक में एकांकी और नाटक का अंतर बतलाते हुए लिखा है—“एकांकी का नाटक से बड़ी संबंध है जो कहानी का उपयोग से प्रकट संक्षिप्त का महत्त्व है। नाटक में जीवन का विस्तार लंबाई और परिधि का विस्तार है, प्रत्यक्ष खेब जीवन की प्रति सुविस्तृत है। एकांकी का खेब सीमित है परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलु ही चित्रित करने का प्रयत्न है। एकांकी में केवल एक ही घटना एक ही महत्त्वपूर्ण पहलु या परिस्थिति उक्त सकती है। नाटक में कथानक के चारों भाग स्पष्ट रहते हैं। एकांकी प्रायः संक्षिप्त-प्रकार से प्रारंभ होता है और सीमा ही प्रति पकड़ कर अरुण सीमा की ओर प्रयत्न होता है। नाटक की प्रति सीमा होती है एकांकी में केवल-संपन्न प्रकार का महत्त्व है। ... एकांकी में संक्षिप्त रूप का होना महत्त्वपूर्ण है यही घने जीवन का प्रचारवादी चित्र बनाता है। बड़े नाटक में संक्षिप्त-प्रकार का निर्वाह प्राचर्यक नहीं है।

प्रायः हिन्दी-साहित्य में एकांकीयों का विकास अरुण सीमा को पार कर रहा है। सभी प्रकार के एकांकीयों की रचना विभिन्न शैलियों में हो रही है। ये एकांकी प्रत्येक

आँखों में विभाजित कर सकते हैं। डा० सत्येन्द्र ने मूत्र प्रवृत्तियों के आधार पर एकांकियों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया है—मानवीय एकांकी विवेकहीन एकांकी मानविक एकांकी समसामयिक एकांकी धनुमन्त्रिय एकांकी व्यावसायिक एकांकी आराम्य एकांकी धीर प्रयतिवासी एकांकी ।

डा० महेश्वर ने एकांकियों के नौ प्रकार बताया है—मुखांत दुर्घात प्रहसन कृत्रिमो गोपि नाट्य आंकी संभार या संभाव्य स्वीकृत करक या मोनो ड्रामा धीर ऐदियो व्हे ।

उपरोक्त दोनों विभाजनों में अन्तर्गत बहू-विस्तार दियाई देता है। विषय के अनुसार हम इन्हें ऐतिहासिक पौराणिक राजनीतिक वा साम्प्रदायिक धीर सामाजिक एकांकियों में विभाजित कर सकते हैं।

विकास

नाट्याचार्य भण्ड ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के विविध भंगों पर प्रकाश डालने के साथ ही विविध प्रकार के नाटकों का भी उल्लेख किया है। भाष्य बायो प्रहसन नाटिका व दि देने हो नाटक है। इस आधार पर कुछ विद्वान् एकांकियों का मूल रूप संस्कृत की इन परम्परा से मानते हैं पर उनका स्वका बताना एकांकियों से सम्बन्धित है। हमें बताना एकांकी के मूल इन प्राचीन नाटकों में बने ही मिल जायें पर इनका सांस्कृतिक स्वरूप उभरा नहीं है। हाँ प्राचीन यौग में घमिनीय होनेवाले एकांकी अन्तर्गत ही इन नाटकों से कुछ मिलते जुड़ते थे पर आज के एकांकियों में हम नाट्य-तत्त्वों का जो विकास देखते हैं वह उनके प्राचीन नाटकों में इतिहासिक नहीं होगा। कुछ दूसरे विद्वान् बताना एकांकियों को पारंपरिक साहित्य की रचना मानते हैं किन्तु यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। हमें संस्कृत में एकांकियों का जो रूप मिलते हैं वे बताना एकांकियों से सम्बन्धित बने हो हों पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्गत संस्कृत के इन्हीं माध्यमों की व्यापक नाटिका आदि की देकर ही हमारा ध्यान एकांकियों की रचना की ओर आकर्षित हुआ। संस्कृत में निम्न "पाद पद्यरूप" संभवतः पहिला एकांकी है। इसे प्रहसनात्मक रूप से व्यापक के रूप में संस्कृत १२२० वि के लक्षण दिया जा। इनके परबन्ध के एकांकियों में अन्तर्गत का "किष्किनामूर्त्तिय" विरलाभ का "सौपचिकाहृत्य" कंबल पौडि का 'श्रीम विक्रम' रामचं का 'निम्न शीम' आदि प्रमुख हैं। ये सभी व्यापक हैं। पून नाटिका हास्य-वृत्तमयि तथा काम लेगा मूत्र समापन मूर्त्त चरित आदि संस्कृत के प्रहसन हैं। 'आशु' तो अनेक मिलते हैं। उदाहरणार्थ बामन मृदु का 'भृंगार भूषण' शंकर का 'पद्म निम्न' बन्धु का 'कनूर चरित' आदि देने जा सकते हैं। हमें आज में एकांकी-लेखन-कला का परीक्षा विकास मिलता है। यह देखते हुए संस्कृत की इन रचनाओं से आधुनिक एकांकियों का मूल रूप न मानना युक्तिमय नहीं जान पड़ता।

हिन्दी-साहित्य में एककर्मियों का बीजबोध बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा हीठा है। 'विपश्य विपरीतवचम्' सम्मन्धत भारतेन्दुजी का प्रथम नाटक है, जिसका हम एकांकी के रूप में बहान करते हैं। यह भाव रूपक है। इसके पश्चात् उनका "चर्तनय विचय" व्यायोग के रूप में हमारे धामने ध्याय। फिर उन्होंने "धन्नेर नगरी" और "बैदिक हिंसा हिंसा न प्रवृत्ति" रूपकों की रचना की जो बास्तव में प्रहसन हैं। भारतेन्दु-काल हिन्दी साहित्य के प्राथमिक काल का धारम्भ था जिससे हमें इन रूपकों में ध्याय के एकांकियों की तरह परिभाषित रूप दिखाई न देना स्वाभाविक है। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् उन्हीं के अनुकरण पर पं. बासकृष्ण मट्ट प्रयागनारायण मिश्र रामाचरण मोस्वामी, श्रीनिवासदास धारि ने भी कुछ एकांकी लिखे पर उनका रूप विकास भी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ध्याय न बह सका किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन रूपकों की रचना द्वारा हिन्दी-साहित्य में एकांकियों को एक परम्परा की बह प्राप्त हुआ और हिन्दी के लेखकों का ध्याय इस धोर धाकृत हुआ। इस युग के प्रथम सभी एकांकी रूपकों की रचना तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक बरातन पर हुई थी। ऐसा जान पड़ता है कि धारम्भ में लिखे गये एकांकी व्यस्त जीवन के परिणाम थे किन्तु ध्याय वे साहित्य के स्वतंत्र प्रथम बन गये हैं।

ध्याय के एकांकियों में हम कथा-रत्न रूप-विधान भावाभिव्यञ्जन शैली और धर्मनिरत कला का जो विकास देखते हैं उसके संबंध में यह कहना कठिन है कि यह कहीं तक भारतभूकालीन एकांकी नाट्य-कला का विकसित रूप है और कहीं तक पश्चिम के नाटककार बर्नाड सा इवसन धारि के प्रभाव का परिणाम है। ध्याय ऐतिहासिक सामाजिक पीरालिक काल्पनिक धारि सभी प्रकार के कथानक को लेकर सुंदर एकांकी लिखे जा रहे हैं परंतु हम यह सचते हैं कि हमारे ध्याय के एकांकियों की कथा-वस्तु में हरिश्चन्द्र कालीन परम्परा का विकसित रूप देखा जा सकता है और धर्मनिरत कला तो सर्वथा हमारी है ही पर भावाभिव्यञ्जना और शैली पर हम स्पष्टतय से पारधाय नाटककारों का प्रभाव देखते हैं। ध्याय कुछ एकांकी तो पूर्वकथेय पारधाय नाटककारों के अनुकरण पर ही लिख जा रहे हैं। इस प्रकार हमारे नाटकों पर से भारतीय प्रभाव लून होता जा रहा है और पारधाय प्रभाव हुए धारि से बढ़ता जा रहा है। देश और काल की परिस्थिति से तत्कालीन साहित्य निरचय ही प्रभावित होता है। इतना ही नहीं पर यह परिस्थिति ही कभी-कभी साहित्य को बहा रूप प्रदान करती और इस रूप-परिवर्तन क द्वारा उस नई दिशा में प्रभावित कर देती है। यह सत्य हम एकांकियों के विकास में भी देखते हैं। हरिश्चन्द्र-काल में देवमनिष और राजमनिष का जोत एक साथ ही प्रवाहित होता था। दोनों एक-दूसरे की बिरोधी नहीं पर परस्पर बोधक समझी जाती थी किन्तु इसके पश्चात् दोनों एक-दूसरे से दूर होती गई और एक दिन वे एक-दूसरे के विपरीत समझी जाने लगीं। यही कारण है

कि हम हरिश्चन्द्रकालीन नाटकों में वहाँ इन दोनों का समन्वय देखते हैं वहाँ उनके पचास बय परचास के नाटकों में दोनों को परस्पर विरोधी पाते हैं। इसी प्रकार सामाजिक नाटकों में भी हम एक बड़ा परिवर्तन पाते हैं। बाबू द्विजेन्द्रनाथ राय ने जिन ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा आरम्भ की उनका पारंपरिक रूप कुछ ऐतिहासिक ही बना रहा पर उनके परचास बाबू जयसंकर प्रसाद तथा बाबू बोधिविद्यास ने उनके अनुकरण पर जो नाटक लिखे उनका मूल कथानक तो ऐतिहासिक ही बना रहा पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के प्रभाव ने इनकी ऐतिहासिकता पर राजनीति की मुहर सजा दी और उनके कथानक का विकास देशभक्ति और स्वतंत्रता युद्ध की अभिव्यक्ति के साथ होने लगा। यही बात का जिसमें कुछ प्रतिभासम्पन्न एकांकीकार हमारे सामने आए। इनके एकांकीयों पर हम बर्हिदा हा और इकमल का पहला प्रभाव देखते हैं। आरम्भ में "एकांकी" नाटकों की एक निम्न श्रेणी मान ले किन्तु धीरे-धीरे उनका विकास होता गया उन्होंने एक स्वतंत्र कला का रूप धारण कर लिया। अब वे नाटक के संक्षिप्त रूप नहीं रह गये।

"एक घूट" संभवतः हरिश्चन्द्र-काल के परचास प्रसाद जी का प्रथम एकांकी का जिससे हिन्दी-साहित्य में एकांकी का एक नया मुम आरंभ होता है। वह मध्यम प्रथम एकांकी का पर हम उसमें एकांकी के नाट्य-तत्वों का पूरा विकास देखते हैं।

वर्तमान एकांकीयों का स्रोत वास्तव में सन् १९३० में लिखित प्रसाद जी के इस "एक घूट" से होता है। हिन्दी के समयगत सभी विद्वान् प्रसाद जी की इस रचना को प्राबुद्धिक ढंग का प्रथम एकांकी मानते हैं। इसके पूर्व द्विजेन्द्र-राय में संभवतः प्रसाद विरचन की "शेरसिंह" सिधारास शरण गुप्त "कृष्णा" रामसिंह बर्मा "रैठानी रुमान" शिवरामदास गुप्त "भाऊ जे बन" सरयू प्रसाद "भयंकर घूट" रूपनारायण पाण्डेय "गुग मंडली" बचन शर्मा उप "बार बेचारे" बंदिन मुरारण "धानरेठी मजिस्ट्रेट" आदि एकांकीयों की रचना कर चुके थे किन्तु वे प्राबुद्धिक एकांकीयों से पूर्ण संसृष्ट की परम्परा पर ही आधारित नहें जा सकते हैं। प्रसाद जी के "एक घूट" पर सम्मति देने हुए डा० नरगंज ने लिखा है "सबसे अधिक हिन्दी एकांकी का आरंभ प्रसाद के "एक घूट" से हुआ है। प्रसाद पर संसृष्ट का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के आभारता नहीं बने जा सकते यह बात साम्य नहीं है। एकांकी की टेक्निक का "एक-घूट" में पूरा निरहित है। प्रसाद जी के प्रथम एकांकी "हरजन और "कल्याण" है। प्रसादजी के इन एकांकीयों के साथ ही कुछ एकांकी धंधकी से प्राबुद्धिक हिन्दी में आये।

प्रसादजी के परचास डा० रामकुमार बर्मा एक प्रतिभासम्पन्न एकांकीकार के रूप में हमारे सामने आये। उनके प्रथम एकांकी "बादल की मरु" का नाम "एक घूट" के परचास ही समझा जाता था। इसमें आभारता तथा धंधकी और नाट्यत्व

कम है। इसके परभाव उन्होंने धनक एकांकियों की रचना की, जिनमें पृथ्वीराज की पाँचों रोगीयों का, चाणक्य का सप्त किरण कौमुदी महोत्सव ग्रन्थ चारिका चतुष्टय रजत रश्मि काम कवचा शेष राज मारि हैं। इनमें से कुछ ऐतिहासिक और कुछ सामाजिक एकांकियों हैं। सभी एकांकियों प्रायशः प्राचीन काल से पूर्ण हैं।

डा० नर्मदा के परभाव एकांकियों-साहित्य के क्षेत्र में जिन अनेक नाटककारों का प्राणि-मूर्ति हुआ। उनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र उपेन्द्रनाथ धरक बाबू श्रीधरदास मुबनेरकर प्रसाद मिश्र अगशेखनर माधुर, उद्यमशेखर मद्रु प्रादि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के एकांकियों में प्रसिद्ध बग कावेरी में कमल प्रसन्न के पत्र पर, एक दिन स्वर्ण के विप्लव नाट्य का रंग प्रादि प्रमुख हैं। हमें इनके एकांकियों में पौराणिक ऐतिहासिक राजनीतिक सामाजिक प्रादि सभी प्रकार के एकांकियों मिल जाते हैं। ये एकांकियों केवल कला की दृष्टि से ही नहीं बल्कि धर्मिक की दृष्टि से भी पूर्ण सफल रहे जा सकते हैं। डा० नर्मदा ने इनके एकांकियों पर परिषद के बर्तमानवाय बुद्धिवाद तथा भारतीय साम्यवादीयता का प्रभाव बतलाया है।

श्री उपेन्द्रनाथ धरक को सामाजिक एकांकियों-लेखन में प्रसिद्धीय सफलता प्राप्त है। सामाजिक अर्थों इनके एकांकियों को विशेषता है। इनको बृहती विशेषता पात्र के अनुकूल भाषा का प्रयोग है। पापों महलों का स्वाभाव अधिकार का रजत अस्वभाव पहने स्वयं की अनेक विवाह के दिन बौद्ध प्रादि इनके सामाजिक अर्थों से पूरा प्रमुख एकांकियों हैं। प्रादि माघ अर्थों बोधो परी अस्वभावो परी मिष्टानो भंडर, सबाना मासिक अस्वभाव प्रादि प्रहसनों को इन इनके मनोवैज्ञानिक एकांकियों कह सकते हैं। कुछ विचक्षण विद्वानों की रचनाओं को धारा में सुखो बाबी अर्थों बनी प्रादि धरक की के प्रतीकात्मक एकांकियों हैं।

बाबू श्रीधरदास ने ही से धरक एकांकियों को रचना की है। उन्होंने ऐतिहासिक राजनीतिक सामाजिक प्रादि सभी प्रकार के एकांकियों लिखे हैं। बुद्ध को एक शिष्या मानक की नमस्कार देवदाहापुर की मन्दिप्राप्तो परमार्थ का पत्नी प्रेम प्रादि इनके ऐतिहासिक एकांकियों तथा स्वर्ण कीचो हंगर स्ट्राइक हैर और होषी मानक मन प्रादि अस्वभाव प्रादि सामाजिक एकांकियों हैं। बाबू श्रीधरदास एक धारतनाट्य और मुबारनाट्य नाटककार हैं, जिनसे इनके एकांकियों में रचनात्मक कुछ प्रभावपूर्ण धार प्रोढ़ विचार लक्षण का-समावेश हो गया है।

“रामायण एक वैवाहिक विवाहना” श्री मुबनेरकर प्रसाद मिश्र का प्रथम एकांकियों है। उनके इनके परभाव के एकांकियों में प्रतिका का विवाह, अस्वभाव रोमांच एक साम्यवादी पतिता मृत्यु अस्वेन्द अस्वभाव रोमांच की प्राय तथा प्राठ बने विष्णुवर, अस्वभाव, अस्वभाव के सामने, धारवादी की नींद इतिहास अनुभव प्रादि उल्लेखनीय

है। इनके एकांकियों में हमें सूरम कसारमक प्रचलियों और वैज्ञानिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण मिलता है।

'मेरी बीभूती' भी बदरीशम्भर मासुर का प्रथम एकांकी है। इनके अन्य एकांकी मकड़ी का काता कर्णिय विजय रीढ़ की हड्डी खिड़की को पाहु, मेरे सपन पोंसले बनूतर खाना बंबो शारदीय मोर का साय घादि है। ये सभी एकांकी अधिनय है। इन्होंने अपने एकांकियों में यथानवारी शैली में विविध समस्याएँ तथा उनके हल प्रस्तुत किये हैं।

श्री जटपरकर मट्ट का स्थान भी वर्तमान एकांकीकाँचों में महत्वपूर्ण है। एक ही कद में बस इबार, सप्रीस सौ पैठीस गता बर निर्बाधन से सामर्थ्य स्वो का हृदय विपकी पुष्टिमा मु शी बनोकलान नकली और मसली घादिम मुम, मनु औरमानक कुमार-संभव, पिशाचों का नाच बीमार का इनाज, मिरली बीघारो, धारम प्रबल मीरि के द्वार पर नये महमान बिस्फोट तथा नाटक घादि मट्ट की के प्रमुख एकांकी हैं। उन्होंने अनेक रैडियो कपको भी भी रचना की है। इन्होंने अपने नाटकों में मानव-जीवन की विविधता को बड़ सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। सभी एकांकी अधिनय है।

अन्य एकांकीकाँचों में मलेशप्रसाद द्विवेदी गोविन्दबल्लभ पंत मगबतीचरण वर्मा हरिद्वेष्य प्रेमी गिरिजाकुमार मासुर, पञ्चीनाथ शर्मा विष्णु प्रभाकर घादि का स्थान है। मुहाम बिरी परदे का अपर पारम शर्माको, सप्तस्य समपम कामरट रिहसस, बहू फिर घाई की घादि भी मलेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकी हैं। इनके प्रायः सभी एकांकी सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक समस्याओं को लेकर उपरिष्ठ होते हैं। इनके एकांकियों वर अदेजी एकांकियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। अन्य लेखकों ने भी कुछ सुन्दर एकांकी लिखी हैं। आशुबाल मय-मये सेनाक इस क्षेत्र में प्रवेश करते दिखाई दे रहे हैं। रैडियो कपक भी नये तकनिक के साथ नामने घा रह है। इस प्रकार हिन्दी का एकांकी-साहित्य सत्प्रोत्तर समृद्धिप्राप्ती हुआ जा रहा है।

उपन्यास • स्वरूप और विकास

संस्कृत के प्राचीन साहित्य में हमें "उपन्यास" शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु उसका अर्थ उपन्यास के वर्तमान अर्थ से भिन्न है। 'उपन्यास' प्रसङ्गम्' के अनुसार उपन्यास प्रसङ्ग करने का एक साधन है। एक दूसरे स्थान में उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है—'उपपत्तिहृद्योऽथ उपन्यास संकोचित' इस परिभाषा के अनुसार किसी भी अर्थ को स्पष्टीकृत रूप से उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। हमें संस्कृत में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जिसका अर्थ 'बृहत् कथा' है। संभवतः इसी कारण के अनुसार कुछ लोग एक 'बृहत् कथा' को उपन्यास कहते हैं किन्तु उपन्यास की यह परिभाषा अथवा रूप उसके बृहत् अर्थ को प्रकट नहीं करता। संस्कृत में उपन्यास शब्द का उप-शोध नाटक की संस्थियों के भेद बतलाने के लिए किया गया है। 'कादम्बरी' शब्द अथवा ही एक सीमा तक उपन्यास का अर्थ हमारे सामने रखता है। मराठी में भी उपन्यास को कादम्बरी ही कहा जाता है। 'उपन्यास' का शाब्दिक अर्थ 'सामने रखना' है।

डा० श्यामसुन्दर दास मनुष्य के वास्तविक जीवन की कार्पनिक कथा को उपन्यास मानते हैं। प्रेमचन्द की सम्मति के अनुसार उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है। बाबू पुष्पावरण कहते हैं कि—उपन्यास कार्य-कारण श्रृंखला में अर्थात् हुआ वह अर्थ-कथामय है जिसमें अनेकानेक अर्थिक विस्तार तथा पेशीदमी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक कार्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के अर्थ का 'रसस्वरूप' रूप से उद्घाटन किया जाता है। एच० बी० ब्रह्म उपन्यास का खाली मस्तिष्क और खाली समय के लिए मनोरंजन का एक साधन मान मानते हैं। इस परिभाषा के अनुसार उपन्यास लेखन का उद्देश्य मनोरंजन मात्र जान पड़ता है, किन्तु आज का कोई भी साहित्य केवल मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं बनने मानवीय चेतना के विकास के उद्देश्य से ही लिखा जाता है। मानव-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन उपन्यास-रचना के इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता है। मनोरंजन भी उपन्यास का एक पक्ष अथवा है। यह देखते हुए बाबू पुष्पावरण का उपन्यास-संबंधी मत हमें अधिक मुक्ति-मुक्त जान पड़ता है।

उपन्यास का क्षेत्र व्यापक है। इसमें साहित्य के सभी विषय किसी-न-किसी रूप में आ जाते हैं। उपन्यास का क्षेत्र यद्यपि यथेष्ट है, तथापि इसमें काव्य का परिमाण भी

रूप नहीं होता। यह एक ओर वास्तविक जीवन-चरित्र से विभक्त रहता है और दूसरी ओर पद्य की शैली का त्याग कर काव्य की सुन्दरता प्रदर्श करता है। यह देखते हुए इसे चरित्र और काव्य के मध्य की वस्तु कहा जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यास एक ओर जीवन-चरित्र और दूसरी ओर कविता है। यै ही उपन्यास के दो धोर हैं। जीवन-चरित्र में घटनाओं और विषयों का क्रम होने से उसने काव्य की सुन्दरता नहीं प्राप्त की। उपन्यास में ऐसा कोई सम्बन्ध न होने से इसमें व्यक्तिगत वास्तुओं और व्यापारों की अधिक सुन्दरता से रत्ता जा सकता है। यही कारण है कि उपन्यासों में जीवन चरित्रों की अपेक्षा अधिक रोचकता दिखाई देती है।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यासों का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है। विषय के अनुसार उपन्यासों का विभाजन घटना-चरित्र, सामाजिक ऐतिहासिक मनो-वैज्ञानिक आदि उपन्यासों के वर्गों की दृष्टि से करना अधिक सुविधा-संगत होगा। इस दृष्टि से हम इनका विभाजन कथाचरित्र-प्रधान, चरित्र-प्रधान, कथोपकथन-प्रधान, वातावरण प्रधान, शैली-चरित्र-प्रधान और रस प्रधान उपन्यासों में कर सकते हैं।

१ कथाचरित्र प्रधान

ऐसे उपन्यासों में कथाचरित्र को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें प्रस्तुत घटनाक्रम की परिस्थितियों में उसके मानव-जीवन का उधार-विकास ही पाठक के पूर्ण ध्यान का विषय बन जाता है और वह उन घटनाओं के सहायक घटक पार्श्वों के चरित्र-विकास की ओर दृष्टि ही नहीं डाल पाता। मारतेनु-कामीष जामुसी और तिलस्मी उपन्यास इनो प्रकार के हैं।

२ चरित्र-प्रधान

इन प्रकार के उपन्यासों में पात्रों के चरित्र का महत्व कथाचरित्र से अधिक होता है। इन उपन्यासों में घटनाओं की अपेक्षा पात्रों को ही अधिक महत्व दिया जाता है। पात्रों का निर्माण परिस्थितियों नहीं बल्कि बल्कि पात्र ही परिस्थितियों का निर्माता होते हैं। घटना-क्रम पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने का लिए ही है। ऐसे उपन्यास मानव-जीवन के विभिन्न घावों को उद्घाटित करते हैं। पार्लेस बैचनरामों उम बनुरमेन हाथी बैचनरामों के कुछ उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। प्रेमचन्द का 'पद्म' उपन्यास भी इनो प्रकार के उपन्यासों में से एक कहा जा सकता है।

३ कथोपकथन प्रधान

इन उपन्यासों में कथाचरित्र और पात्र दोनों समान मात्रा में सापेक्ष होते हैं। पात्रों के कथोपकथन से भावी घटनाओं का संकेत विभक्त जाता और वे एक के

अप्यास बुझी सामने भाती जाती है। पापों के कपोलकल्प से जगकी विचारपाठ, विविधि एवं अरिज स्पष्ट होता जाता है। इन अप्यासों में लक्षण-वर्णन की प्रधानता दिखाई देती है। इनमें मानव-जीवन के वास्तविक तथ्यों का रहस्योद्घाटन होता है। ये अप्यास अतिक्रमणपूर्वक सुन्दर और प्रभावशाली होते हैं। प्रमथन के प्रायः प्रत्येक ही कोटि के रहे जा सकते हैं।

४ वातावरण-प्रधान

इस प्रकार के अप्यासों में पापों और ब्रह्मणों के अनुगत के साथ ही देश-काल अथवा उच्च वातावरण का भी निबन्ध है जिसमें अप्यास की कथावस्तु का विकास होता है। इसमें देश (स्वान) तथा काल का ऐतिहासिक निबन्ध अथवा रूप में निहित होता है। इन अप्यासों पर एक निश्चित युग की संस्कृति, राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का भी प्रभाव होता है। अप्यासकार उच्च ऐतिहासिक युग के वातावरण का अन्तर्गत अथवा निबन्ध अपने युग के प्रकाश में करता है। इस तरह इन अप्यासों में इतिहास के तथ्यों तथा लेखक की अपनी कल्पना का समन्वय स्वाभाविक रूप में दिखाई देता है। बाबू कृष्णचन्द्रजी बर्मो तथा चतुरसेन शर्मा के अप्यास इस कोटि के हैं।

५ शैली-प्रधान

भाषा का कोई भी अप्यास निश्चित रूप से इस शैली के अप्यासों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वाक्य में कोई अप्यास ऐसा हो भी नहीं सकता जिसमें कथावस्तु, पात्र, अरिज निबन्ध आदि से अप्यासकार की शैली को ही अत्यन्त महत्व प्राप्त हो।

६ शैली-प्रधान

को अप्यास एक निश्चित अर्थ को लेकर काव्यमय कथावस्तु के आधार पर लिखे जाते हैं वे इसी कोटि के अप्यास हैं। इस ही अर्थपर्यन्त अप्यासों को अप्यास कहना ही अर्थ है। ऐसे अप्यास लेखक मनोरंजन के साधन ही होते हैं, इनमें अर्थ-व्यक्ति को कोई शक्ति नहीं होती। अर्थ-प्रधान अप्यास अपने पाठकों के सामने एक निश्चित आदर्श प्रस्तुत करते हैं। बाबू प्रमथन, चिन्मय शर्मा "शैली", अन्तर्गत अथवा आदि के अप्यास इसी कोटि के हैं।

७ रस-प्रधान

रस का रसान तो सभी अप्यासों में होता है किन्तु कुछ अप्यास ऐसे भी होते हैं जिसमें अन्तर्गत पात्र आदि के अर्थव्यक्ति को कोई महत्व न हो आदर्श रसोपेक्ष ही

ही उपवासकर का प्रयोग लक्ष्य हो जाता है। कियारोमान तोल्सावी दे० कान्गन गनो आदि क अचिकीत उपवास इमी प्रकार क है।

उपवास के लक्ष्य—उपवास के निर्माकिय छ तत्व है—

१ कथा वस्तु

जीवन-निर्वाह की दृष्टि से मानव-जातन की अनेक थकियाँ हो सकती हैं, किन्तु मर्त्री मनुष्य एक ही प्रकार क रासों, भावनाओं और विचारों से प्रेरित होते हैं। यही प्रेरणा मनुष्य क मूल-दृष्टि ह्य-विधाय धारि के भावा की काम देती है। अन्तरे उपवास का महत्त्व इमी म है कि यह मनुष्य की इन स्थितियों का स्वाभाविक विष उपस्थित कर हर। उपवास में इमी बातों पर अधिक ध्यान देना चाहिए जो जीवन को उत्साहपूर्ण उदात्त तथा उदात्तमान बनान में सहायक हों। उपवास में यह विशेषता धारि के निर कथावस्तु में निम्न-निर्दिष्ट बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—उममें जीवन से सम्बन्धित कोई आवश्यक बात छूट न सक और परस्पर विरोधी बात को भी स्थान न मिल।

२—उपवास के लक्ष्य छल एक मूल्या में मुहरना से बँधे हों।

३—घटनाओं का क्रम ऐसा हो जिनमें क परस्वाभाविक और घनद्वन न बात पड़े।

४—उमकी घटनाओं का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ बन।

५—कथावस्तु का आधार वास्तविक जीवन हो, न कि कुछ विविध घटनाओं का गच्छन।

६—उपवास छल अलग घटनाओं के अनुकूल और मुहर हो।

७—कथावस्तु के विकास की दृष्टि में मुहर कथावस्तु के मात प्रामाणिक कथावस्तु को भी स्थान दिया जा सकता है। किन्तु प्रामाणिक कथावस्तु का मूल कथावस्तु के विकास में सहायक होना आवश्यक है।

८—उपवास का कथावस्तु में रोचकता स्वाभाविकता और प्रवाह होना आवश्यक है।

२. पात्र

उपवास क पात्र लेवे हा जिनका करर ह्यें लौकिक और स्वाभाविक विचार हैं। उनमें यह शक्य होनी चाहिए कि क मर्त्री मनुष्य का जीवन और वास्तविक जीवन और मनोभावनों की श्रम कर मके और वास्तविक मन की प्रभावित कर मके। उनका जीवन और वास्तविक जीवन अलग अलग होना बन और उनके जीवन वास्तविकी को स्वाभाविक रूप में समझा जा सक। उपवासकार प्रान पात्रों का इन प्रकार चरित्र-विकास काम में काम कररं विरक्तता कथा और कभी अभिनय म काम लेता है। यही प्रकार में उपवासकार प्रान पात्रों का चरित्र-विकास लक्ष्य के दृष्टि में

करता है। वह पार्श्वों के भावों विचारों स्वभावों और उपदेशों को समझना उनकी व्याख्या करता और समझ कारक बतलाता है। दूसरे प्रकार में लेखक प्रत्यक्ष लड़ा होकर पात्रों को अपने कथोपकथन और व्यापार से अपने सम्बन्ध में दूसरे पार्श्वों की टीका-टिप्पणियों से अपना चरित्र चित्रण करने को स्वतन्त्र छोड़ देता है।

उपन्यास की कथा कहने के तीन ढङ्ग हैं—पर्यपुस्तक भाषक उत्तमपुस्तक भाषक और पत्रात्मक। पहिले ढङ्ग में बिरलपद्यात्मक या प्रत्यक्ष प्रख्याती से चरित्र चित्रण की प्रामियात्मक प्रख्याती अधिक जमाबशासी और जाकपक होती है किन्तु इस प्रख्याती का उपयोग बही तक होना चाहिए जहाँ तक धोपग्या सकता मष्ट न हो। मन्थे उपन्यास से माने जाती है जिनमें उपर्युक्त दोनों प्रख्यातियों का बचाप्रसंग उपबोग किया जाता है।

कथावस्तु और पात्र का सम्बन्ध

मुख्य रूप से उपन्यास दो प्रकार के होते हैं एक ठो वे जिनमें पार्श्वों की प्रखानता होती है और व्यापार की शृङ्खला का स्थान होता है। दूसरे वे जिनमें व्यापार की शृङ्खला का स्थान प्रधान होगा है और पार्श्वों का उपयोग बटनाचक को सुचारु रूप से बमाने के लिए ही किया जाता है। जहाँ कथावस्तु का अधिक स्थान रखा जाता है वही पार्श्वों से वस्तु के अनुसार काय लेना प्रावरक हो जाता है जिससे चरित्र-चित्रण में घसबतता या जाती है। जहाँ चरित्र-चित्रण का ही स्थान रखा जाता है वही चरित्र के जगत विकसित होने और अनुसार बटनाचक के जाने बड़ने से कथावस्तु का सामबस्य प्रायः सिपड़ जाता है। अतः दोनों का उचित मिश्रण ही उचित है। जब तक कथावस्तु और चरित्र चित्रण एक-दूसरे से प्रापित होकर जल्ले तब तक वे अपने बर्देरव की पूर्ति में सफल न हो सकेंगे।

३ कथोपकथन

कथोपकथन का उचित प्रयोग उपन्यास का जाकपक बड़ा हैगा है। उपन्यास के इस तत्व द्वारा हम उसके पार्श्वों से बिलेप परिचित होते हैं। मद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य कथावस्तु का बिकास माना जाता है पर कथोपकथन के द्वारा पार्श्वों के हर्ष-विषाद राम-उप प्रकृति प्रादि का स्पष्टीकरण किया जाता है। कथोपकथन के द्वारा ही चरित्र का बिरसेपक और व्याख्या की जाती है और इसकी सफलता पर ही उपन्यास के उद्देश्य की सफलता प्रावलम्बित है। जो बातें देखने में घसबन जान पड़ती हैं, उनका ध्योग भी कथोपकथन में बड़ी साबभार्गी से किया जाता चाहिए।

हम किसी पात्र का अपना चरित्र चित्रण करना चाहते हैं और जैसी स्थिति में तथा जिन घबतर पर वह कुस बड़ रहा है उसी के अनुकूल उक्त कथोपकथन होना चाहिए। मात्र ही उनका कथोपकथन सरल स्पष्ट और सुन्दर भी हो। कथोपकथन

एसा हो त्रिनमें धनित्र की मुद्रणा हा पर हमके माप ही बहु स्वामात्रिक धीर
 वास्तुविना भी हा ।

४ रम

रम का सम्बन्ध त्रिनता नाम में है उतना हा उपस्थान में भी है । उपस्थान के
 विभिन्न स्थानों में त्रिन रम की प्रभावना हाती है उमीक अन्तर्गत वह प्रमद धाने
 पाठों के मन पर प्रभाव डालता है । पर धरपर र कि एक ही सेतक में सब रमों के
 मन्त्र का शक्ति मही होती है, पर बहु त्रिन रम का मन्त्र करता जायता हा उपस्था
 प्रभाव इन उम रम की एक त्रिभुज मीमा का ध्यान रम कर हा करता बाह्य ।
 असाहस्यता हास्यता का प्रभाव उपस्थान का आशान्त धीर मुद्रणा बड़ा देता है,
 पर यदि वह धरनामना की नामा तक पहुँच जाये ता घण्टि मा हा सकता है । धन
 उपस्थानकार को वह धरपर ध्यान रमना बाह्य कि बहु उप का धरमन स्थिति तथा
 मनाबाह्य प्रभाव क अन्तर्गत हा । प्रत्येक उपस्थान में किमा एक रम की प्रभावना
 हाती है तथा प्रमद र की के त्रिमता और मागत म करण रम का अन्तर्गत म रमों
 के मन्त्रना उपस्थान में धीररम की धीर मन्त्र " रमना क मन्त्रा उपस्थान में हमें
 मुद्रणा रम की प्रभावना दिगा देती है ।

५ दशाहाल अधिका बानाधरम

उपस्थान के वातावरण में तात्पर्य उमन शक्ति धारण विचार उद्भूतनाम शक्ति-
 विचार और परिशिष्टि माद में है । इन हम का मातो म विमन्त्रित कर मन्त्र है—
 सामात्रिक और एतिहासिक । ऐस उपस्थान बटन कम होते है त्रिनमें बाधन या मन्त्र
 के ममी धमा धीर स्वल्पा का मन्त्रण हा । धन बहु धारपरक है कि सामात्रिक
 उपस्थाना म बाधन और मन्त्र क धरि-मन्त्र-धरि विर रगे धीर व एउ हो त्रिभु
 हम निरन प्रति देना है । एतिहासिक उपस्थाना म सामात्रिक उपस्थानों की धरणा
 बाता रण धरणा धरणा म का धरणा ध्यान रमना पन्ना है बाह्य उम में र किनी
 एक धरणा म धरणा धरणा का विर धरि करता जायता है । इन प्रकार के
 कुछ उपस्थान ता एतिहासिक धरणाओं से युक्त हाते है और कुछ एतिहासिक धरणाओं
 क धारण कर निरन कर है । धा अन्तर्गत क रमों क एतिहासिक उपस्थान एति
 हासिक धरणा क धारण पर हा सिधे म है ।

६ उद्भय

उद्भय में तात्पर्य बाधन का अन्तर्गत धरणा धरणा म है । कुछ ताता का म
 है कि धरणा धरणा का उद्भय धरणा है । इन उमम धरणाधरणा तथा
 " धरणा धरणा है किन्तु ताता का धरणा धरणा धरणा धरणा धरणा धरणा धरणा

जीवन की व्याख्या है। उष्णकटि के उपन्यास जीवन के तत्त्वों और उद्देश्यों से हानि केवल मनोरंजन के साधन नहीं होते। उल्टम उपन्यास वे हैं जिनमें मानव जीवन के तत्त्वों निश्चयता ही उद्देश्यों के साधन-ही पात्र मनोरंजन की भी पर्याप्त सामग्री हो।

उपन्यास में जीवन का व्याख्या हो प्रकार से हो जाती है। कुछ लेखक जीवन सम्बन्धी घटनाओं और बातों का उनके वास्तविक रूप में ही अपने पाठकों के सामने रख देते हैं। वे जीवन या संसार का सदिग्ध रूप इस रूप से प्रकट कर देते हैं कि जिससे कुछ नैतिक शिक्षण अपने आप ही स्पष्ट हो जाती है। दूसरे प्रकार के उपन्यास वे प्रकृत्य बरिषों की मासोचना और कार्यों की व्याख्या करके कुछ नैतिक शिक्षण उपस्थित किया जाते हैं। इस स्थिति में वह अपनी प्रति का आप ही मासोचक बन जाता है और उम्मीद यह बन जाती है कि आपका व्याख्या उसके पाठकों की मासोचना और व्याख्या बन जाती है।

उपन्यास में नीति का भी स्थान है पर वास्तविकता के परभाव। लेखक बट जाया का चित्रण इस रूप से करता है कि उसमें नैतिक शिक्षा का अपने आप ही समावेश हो जाता है। प्रथम उपन्यासकार नैतिक शिक्षा देने के लिए विचारक या उपदेशक का रूप धारण नहीं करता वह मानव जीवन की व्याख्या द्वारा ही विभिन्न जीवन शक्तों की सहायता से अपने उपन्यास में नैतिक शिक्षा का समावेश कर देता है।

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य का विकास

यद्यपि उपन्यास साहित्यिक काल की रचना मानी जाती है तथापि इसका आरम्भ लुकी कवियों के प्रेमावधानों से सम्भव माना जाहिए। ये प्रेमावधान अन्वयन के पुट के छन्द लिखी गई प्रेम कथाएँ हैं। ऐसा मान पड़ता है कि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों पर इन प्रेमावधानों का बहुत प्रभाव रहा है। यही कारण है कि हम हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में प्रेम की प्रधानता देखते हैं। इन उपन्यासों में प्रेम का इतना अधिक स्थान है कि उपन्यास की परिभाषा ही प्रेम की आत्यन्तिक कथा बन गई किन्तु वास्तविकता यह है कि उपन्यास की सीमा प्रेमकथा से नहीं बंधी जा सकती। प्रथम उपन्यास का जो मानव जीवन के विभिन्न रूपों में बुरा बन गया है।

'परीक्षा गुप्त' सन् १८८२ में प्रकाशित हिन्दी का पहला उपन्यास है। इसकी रचना नामा धीनिवाचाल से की गी। यही में साहित्यिक उद्देश्यों की रचना आरम्भ होती है। मध्यम इनो समय भी रत्नकर के 'मूलन बरिष' और देवकीनन्दन खत्री के 'अज्ञानता मन्थन' उपन्यास प्रकाश में आये। इनमें में भी लुकी का उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ। यह अनेक आरम्भिक कथनाओं से बुरा एक साहित्यिक उपन्यास था। इन उपन्यासों की रचना का प्रतिष्ठि का एक कारण लेखक की साहित्यिक और मनोरंजन लाल शक्ति भी है। इनके परभाव भी किशोरीमान दोस्ती ने भी

उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय काम किया। उन्होंने 'उपवास' नामक एक पत्रिका आरम्भ की और उसमें सवभय १५ उपन्यास प्रकाशित किए। पत्नी आ की तरह मोम्बामी की के उपवास भी साप्ताहिक से किन्तु उनमें आ प्रेम क नाम पर विवाहिका का विवास ही अधिक था।

श्री गोपालराम पहमरी ने भी इन्हीं दिनों 'आसुस' नामक एक पत्र विवाहा और उनमें सततन पाँच वरुण आसुसा उपन्यास प्रकाशित किए। उनमें से पत्रिका उपन्यास अक्षेप के आसुसी उपन्यासों पर आधारित था। इन तीनों उपन्यासकारों की कृतियों में जीवन और जयन्त का स्वल्प विवरण भय ही न था पर हममें को सन्देह नहीं कि इनमें किसी के उपन्यासों के लगभग आरंभ और विवास में बहुत बड़ा योग दिया है।

मार्तण्डु कान ५ अन्य उपन्यासकारों में श्री बासुहृण्य भट्ट (भूतन अक्षर) और श्री अराम एक मुख्य हैं। राधाकृष्णशम (निजहाय हिन्दू) राधाकृष्ण गोम्बामी (विषय विपत्ति) कानिक प्रसाद लखी (जया) बलभुक्त गुन (कानिसे) आदि विवास रूप में उपन्यासनीय हैं। इनके पत्रकार ही बाबू कृष्णपर मिह (सर्वजिनेग दुर्गेश महिदी), राधाकृष्णशम (स्वगतना) अक्षयमाधवग मिथ (राज्यधी इन्डा राधागनी), राधाकृष्ण गोम्बामी (विराज मगमरी) आदि इनके उपन्यास सफल विवाह के उपन्यास-क्षेत्र में उपस्थित हुए।

हिन्दी काल में 'हरी' के उपन्यास-साहित्य का और भी अधिक विवास हुआ। इन युग में सफल उपन्यास उन्नीस शुरुआती कर्मी मराठी और अगला न हिन्दो में आये। अन्त में अनूचित उपन्यासों में अक्षयक और शरदक के उपन्यास मुख्य हैं। इन युग के उपन्यासकारों में बाबू अक्षयक सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। उन दिनों कमी उपन्यासकार कहीं की गति का अर्थ एक नये गद्य का निर्माण करने में लगे हुए थे। आ-समाज के द्वारा मुगल आशोक बन रहा था और मरतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन भी मजबूत रूप प्राप्त करना शुरू करने लगे हुए थे। अक्षयक ने इन तीनों में अग्रणी की और उनका काल में उपन्यास रचना आरम्भ की। उनके उपन्यासों पर इन तीनों आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि अक्षयक के उपन्यास देश का अर्द्ध-वैयर्थ विधि प्रकार का साप्ताहिक उक्त का विवरण करने के साथ ही साप्ताहिक आन्दोलन का सुसंघटन करना भी था। उनका अन्तर्गत न केवल उनके उपन्यासों का अर्थ-विश्लेषण सामाजिक उपन्यास बना किन्तु और उनका उपन्यास-क्षेत्र इनके विवास में उद्देश्य का योग्यता के द्वारा पर आगे बढ़ कर गया।

द्वितीय जन्म में जो अथ उपन्यासकार सामने आये उनमें अनुरसेन शास्त्री और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त द्विवेदी-काम से लेकर वर्तमान काम तक अनेक सफल उपन्यासकारों का आदिर्भाव हुआ और इनके प्रत्येकानुसंग से आज हिन्दी का उपन्यास साहित्य अत्यन्त समृद्ध परलभित और पुष्पित दिखाई दे रहा है। इन उपन्यासकारों ने प्रसंग-प्रसंग विषयों को लेकर सुन्दर उपन्यासों की रचना की। इन्हें हम मुख्य रूप से चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं।

प्रथम श्रेणी में हम विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और अनुरसेन शास्त्री के अतिरिक्त बरचकर प्रसाद, पारब्रह्म बेबन शर्मा 'उषा तथा उपेन्द्रनाथ अरु को स्वामि से सकते हैं। ये सभी सामाजिक समस्याओं को लेकर अपने उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द की परम्परा का धारण करने वाले हैं। इनमें से प्रसाद जी का 'कंकाल और तितली' उपन्यास कौशिकजी के माँ और मिथारिणी शास्त्रीजी के 'हृदय को प्यास और 'नीसी' अथवा के 'बुधबा की बेटों' तथा दिल्ली का इलाहाबाद और अरु जी के 'गिरणी बीबा' आदि उपन्यास अधिक उल्लेखनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में बीनेन्द्रकुमार, नयनतीररत्न बर्मा इत्यादि जोरों अतिशय हीरान्तर वास्तविक अर्थों आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उपन्यासों को अति उच्च उपन्यास कहना ही अधिक उचित होगा। इनके उपन्यासों में पार्थी का मनोरेखादि अति बड़ी सुन्दरता से लिखित किया गया है। मुनीता परम 'बर्त व्यापक सुखी आदि बीनेन्द्र जी के अतिरिक्त उपन्यास हैं। नयनतीररत्न बर्मा के उपन्यासों में तीन वर्ष, बिजनेस आदिरी दस और टुंग-मंगु रास्ते अधिक अतिरिक्त हैं। वहीं को रत्ना संग्रामो अथ और आमा मुक्तिपथ सुबह के नून आदि भी इत्यादि आदि के उपन्यास हैं। अन्तर एक जीवनी तथा 'नदी के द्वीप अथवा जी रचना' हैं।

तृतीय प्रकार के वे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने साम्यवादी दृष्टि से अपने उपन्यासों की रचना की है। इनमें राहुल साठव्यास और यशपाल को अति उच्च माना जा सकता है। 'सिंह अनापति' तथा 'बन्धु स गमा भी राहुल जी के और दादा अमरेश देश श्रेणी मनुष्य के रूप आदि यशपाल जी के उपन्यास हैं।

चौथे प्रकार के उपन्यासों में मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यासों का ही स्थान है। हम अन्तर के उपन्यासों में अनुरसेन शास्त्री का अन्तही की नगर न्यू यशपाल का 'रम्य अन्तहीनाथ बर्मा के अरु अन्तर विराटा की पतिनी 'अन्तही की राता 'तदधीर्बाई' मुनियनी 'मुक्ति विक्रम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित आद्यपट्ट की आ मकका का अन्तही भी यही करता उचित होगा।

हम विश्वसे यह भी जानें हैं कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य विविध चाराओं में

विभाजित होकर द्रुत गति से भागे बढ़ता जा रहा है। इन समयों की वर्षों में इन साहित्य का जो विकास हुआ है वह हिन्दो के लिए कम तब की बात नहीं है। इन साहित्य का सबसे अधिक विकास वर्तमान काल में हुआ है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के वर्तमानकालीन विकास में हमें पारबाराय साहित्य से बहुत बड़ी सहायता मिली है किन्तु यह पक्षरय कहा जा सकता है कि हमारे उपन्यासकारों ने पारबाराय उपन्यास कारों का अनुकरण पौल बन्द करके नहीं किया। उन्होंने पश्चिम की उपन्यास-कला का अध्ययन किया और पश्चिम देश के विभिन्न लोगों के मानव जीवन का दर्शन कर र्णन कला का इन देश के जीवन के अनुरूप उपन्यास लिखने में उपयोग किया।

भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जिन उपन्यासों का प्रकाशन हुआ उनमें हमें विविध विषयों कि रूप हीमियों और नये-नये शिक्षणों का प्रयोग मिलता है। इन काल में जो नये उपन्यासकार सामने आये हैं उनमें बबेन्द्र सत्याजी यज्ञरत्न शर्मा बमबीर भारती चंचल फुल्लोग्रनाथ रेणु घनश्याम भागर भद्रमीनारायण श्याम घनश्याम गौराम रोबड़े मुबरात उपदेशी मित्रा भगवती प्रसाद बाबरेयी, नागाशुभ याद श्रीगुरुनाथ प्रादि विशेष उल्लेखनीय हैं।



बोदान पर एक दृष्टि

'बोदान' एक समस्या-रचना उपन्यास है। इसमें स्व० प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है और उन्हें सुमझने का एकदम किया है। इस उपन्यास में प्रतिबिम्बित प्रथम समस्या ग्रामीणों के वैदिक जीवन की है। ग्रामवासियों में भी अनेक गुण होने हैं, पर शिक्षा के अभाव कड़ि-बड़ता तथा उनके धारण व्यवहार से उन्हें सबैक पिसते चूना पड़ता है और अनेक परिश्रम करने पर भी वे अपने जीवन को सुखी नहीं बना पाते। वे कठिन परिश्रम कर अन्न उत्पादन करते हैं पर कृत्रिम्य तथा-व्यवस्था प्रचलित सामाजिक मर्यादा और अर्थ विभाजन की विपत्तियाँ उन्हें सभल और सुखी नहीं बनने देती और वे अपने छोटे-सुरत और बेवबाबी होते हैं कि अपनी दुर्गति और कष्टपूर्ण जीवन में भी ईरबरेष्वा समझ कर संतुष्ट रहते हैं। वर्तमान राजनीतिक स्थिति की अज्ञानता और अपने अधिकारों की अनिश्चिता के कारण उन्हें अमानुषिक अर्थ चारों का शिकार होना पड़ता है।

दूसरी ओर श्री अन्धकार ने नागरिक जीवन के दो पात्र अपने उपन्यास में उपस्थित किए हैं जो बर्तका और पूजापाठमों के सापेक्ष में अज्ञान हैं। अन्धकार और प्रोफेसर मेहता होपकरम का प्रतिनाचल करते हैं अन्धकार अन्धकारपूर्ण अज्ञान का होपकर पूजापति और मेहता शोचन-यग का प्रतिनाचल करते हैं।

'बोदान' को दूसरी प्रमुख समस्या पारिवारिक जीवन को सुख-शांति से सम्बन्धित है। अन्धकार की दुर्गति है, पर अन्धकार जीवन सुखी नहीं है। अन्धकार और योचिन्दी का पारिवारिक जीवन कष्टपूर्ण है। अन्धकार मिस मासों का आकर्षण मिस्टर मेहता की ओर है पर विवाह का प्रयत्न उपस्थित होते ही वे एक कठोर परीक्षा बन जाते हैं।

अन्धकार ने आदर्शपूर्ण जीवन को सुखी बनाने का उपाय अधिक अन्धकार में स्थित पाता-बतमाया है। अन्धकार यह है कि अन्धकार से स्वाभाविक ही मनुष्य की बर्तक बन जाती है और उसके जीवन में पूर्वीचार के दोष पा जाते हैं। अन्धकार का अन्धकार मिस मासों के प्रति आकर्षण अन्धकार प्रमाण है। पूजापति अन्धकार से प्रेम भी करता है तो अन्धकार अपने अन्धकारी जीवन की तन्त्रि के लिए ही, वह अन्धकारी सम्बन्ध पसन्द नहीं करता।

मेहता घोर मानवी का प्रेम भाव की ठामठी महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका सम्बन्ध उस शिक्षित समाज में है जिन्हें बिबेरी कातावरण का ही प्रबिक व्यावहारिक ज्ञान है। यह स्वच्छन्द प्रेम स्त्री-स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी धान्दोलन का परिणाम है। यह धार्शनिक भावना में प्राचीन भारतीय घोर प्राबुद्धि पारचाय्य भावनों का सघन है। मि स्वप्ना की स्त्री भारतीय मारी का प्रतिनिधित्व करती है। वह पति से बाध बाध विरहद्वन्द्व हाथ घी पति-सेवा में विमूल्य नहीं होती। मिम मानवी पारचाय्य भावना की प्रतीक है। स्वप्ना का सत्ता का प्रति प्राबुद्धि है पर वह उन्हें धर्मनितियों पर गवाही रहती है। स्त्री-स्वातन्त्र्य पर दिया गया मि मेहता का मायल उस समय घोर मुहम बिबेचना का परिणामक है जो भारतीय सामाजिक जीवन का मुहम घोर उन्नत बनान तथा प्रबन्धन सामाजिक सेवा का पूर करन के लिए प्राबुद्धि प्राबुद्धि है। उन्नतगत स्त्री शिक्षा के विरोधा नहीं पर व स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य स्त्री का घटना बलव्य गममने घोर पति के काम में महायत्न बनाता मात्र मानते है स्त्री की शिक्षा के द्वारा गणतन्त्रवादिनी बनाना चाहते हैं वनना में उन्नतवादी विनयी नहीं। मिमेज स्वप्ना के मुह में स्विया का सत्त्वयता-सम्बन्धी धार्शनिक पर व्यक्त किए हस्तों में प्रेमबर्ध पती बाध वह रहे है।

उपन्यास का उद्देश्य और गान्दान

कथानक पात्र माया शर्मा, कपोरकवन घोर देराकाल का प्रतिबिम्ब उपन्यास के मुखर उद्देश्य है। यह हम केने कि 'गोमल' में इन उद्देश्यों का निर्वाह कहा तक हुआ है।

१ कथानक

प्रमर्ध जी में घननी कथा-मायवी का प्रकार में सन्निधि की है। एक ही कथने घनकवन घोर परिधान के द्वारा भीरु दुमर विमर्ध माय'दक पत्रों में प्रबन्धन प्राबुद्धि पत्राघों के तब सेकर। 'गोमल' की कथा का बिबाम सगद न बह प्राबुद्धि इन में बिबाम है। प्रथम परि धेद में ही शरी गय मातृ की अँट का कथा कथ माया गया है। माय में उसकी घोषा में अँट हा जाती है। शरी की गाय मिमल की घना घोर घोषा का स्त्री मिमल का आशा बंध जाती है। शरी राय मातृ के पर कथा है। उपन्यास की मधारी हा कथा है। गय मातृक शरीर में बिबामों द्वारा काम कथा का शत्रु प्राबुद्धि शत्रु का प्रबन्धन बनने है घोर हाग शत्रु प्रबन्धन की बिबाम सेकर लोटा है। लोमर दग्निधेद में माया का कथा मिमल आता है घोर लोमर की गय मिमलने का बिबाम। पट्टर प्रबन्धन प्रबन्धन का कथा की प्रतिबिम्ब की घोर प्राबुद्धि होता है या घननी प्रबन्धन पत्र की प्रबन्धन में है।

होरी की गाय घाटी है। नाँव मर से उसे प्रहंसा मिलती है। पर उसके ईर्ष्यामू भाई हीरा से स्वयं— 'भगवान् चाहें तो बहुत दिन गाम पर मैं न रहूँगी। हम चौकसे हो बाते हैं।

पश्चिम परिच्छेद में गोबर को उसकी 'प्रियवस्तु' प्राप्त हो जाती है। पर पाठक इसके अनुचित संबंध का परिहार पर पढ़नेवाले प्रमाद की कल्पना कर चितित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा-विकास के साथ पाठक उत्सुकता बढ़ाने के लिए बिना कुत्रिम सपादानों का सहारा लिए स्वाभाविक परिस्थितियों का ही प्रयत्न किया है।

गाम मर जाने पर होरी बनिदा से हीरा की करतूत बतलाता है। वह बहुत रोکنे पर भी यह रहस्य प्रकट कर बेगो है। परिश्रम बानने के लिए पाठक उत्सुक हो जाता है।

कभी-कभी प्रमत्त भी ने हो समस्याएँ एक साथ ही उपस्थित कर पाठक की जिज्ञासा बढ़ाने का प्रयत्न किया है। भुनिदा के द्वारा के घर जाने पर हो समस्याएँ उपस्थित हो जाती है। एक तो गोबर कहीं गया होगा और दूसरे होरी को समाज से क्या दण्ड मिलता है? यहाँ दूसरी समस्या पर लेखक ने घणिक महत्वपूर्ण समझकर पहिले प्रकाश डाला और पहिला का पाठका को उत्सुकता के लिए पीछे डाल दिया।

प्रेमबन्ध जो कोई एक-न-एक समस्या प्रस्तुत कर पायों को एक बटित स्थिति में डाल देता है और पाठक वह जानने को उत्सुक होता है कि अब क्या होगा? और इसके पश्चात् ही एक साधारण-सा सहारा देकर कठिनाइयों का घन्त कर देने है। और कथा घाने बहने लगती है। सोना के बिनाह क निर्घन जुटाने के लिए होरी को ऐसा ही उपस्थित किया है।

कथा-विकास की दृष्टि से तीव्रतर बनाने वाली घटनाओं के लिए प्रेमबन्ध भी पहिले से ही भूमि तैयार कर लेते हैं। होरी को भीला से गाम प्राप्त होने का बचन मिल जाता है। पर उसके मन में कामना और बंगी के द्वारा अवरोध पड़ा करने को संका था जानी है और पाठक घाने की बात जानने को उत्सुक हो जाता है।

पहिले मानती था मेहना को घोर पाकियन होती है। पर वह प्रेम की पट्ट प्रभृति की श्वास्या कर उसे ध्यमन्न कर देता है। दोनों एक ही मकाम में रहते हैं और इन घणतमता की स्थिति में भी मानती मेहना की नृह व्यवस्था में सहम्यता देती है। पर महीना वह मेहना की मिलने का अवसर नहीं बनी। एक दिन संभव के रोन को घाघान मुदरर मेहना मानती के घर पहुँच जात है और उनका संभव के प्रति उमड़ने वाली कल्पना-भावना देखकर घन्त हृदय में प्रेमावध उमड़ जाता है। हाँ मेहना उसको

घोर आकषिप्त होते हैं पर मानसो धन एकांतिक जीवन की मावकता घोर धनो पुर्यता पर सन्धाय प्रकट करती है। दोनों का सम्भाव्य दोनों को प्रम-विमोर कर देना है घोर मिलन-रूपन समीप हो जान पड़ता है। इसी समय भुनिया जाय जाती है घोर रत्न में भङ्ग हो जाता है। क्या-मङ्गलन की कुरामता ने ऐसे स्मरणों को प्रत्येक वमा-त्कार पुण्य घोर धानपक बना दिया है।

२. पात्र

प्रियधन्य की न धन धन्य उप दासों की पनेछा हममें धर्मिक पात्रों को स्वाम दिया है पर मिर्जा गुरोद के धार्मिक कोई भी पात्र धनावरपक नहीं जान पड़ता। घोर प्रत्येक पात्र के उपस्थित करन में लेगक का एक निरिक्त उद्देश्य है। मस घोर भुरे भाइया का आदेश लिए हारी क दा भाई है। उसकी दा कन्नाएँ हैं दाता से मौब म प्रबन्धित वा सामाजिक कुरीतियाँ व्यक्त होती हैं। माबर न दो सङ्के होते हैं एक शतिया की माब भरन क लिए घोर दूसर मासरी के मातरक की परीक्षा के लिए। मौब के दूसर बग का प्रतिनिधित्व करन के अन्त भासा उपस्थित किया गया है। अन्य पात्रा में मिर्गुरो माशरीन पत्रबरी घोर मयन है। इनक उदग ही काय लेगक न हमारे सामन रख है, अिठमें न होरी घोर उसके परिवार की गति-विधि परिष्कारित होती है। माशरीन मिलिया के उद्धार के लिए उपस्थित किया गया है। गिरधर नवसभी घोर हेमोड क रूप में धागा है। नाहरा की मर्ति अउ-विवाह का पुनरिच्छाम बतलान क लिए की गई है।

नगरिक पात्रों में मि महता, मिल मासरी मिस्टर घोर निमय राधा मिर्जा गुरोद राम नाहर घोर मोबारलाब मुख्य हैं। प्रथम दा का लेगक न वैवाहिक जीवन घोर मायी-स्वतन्त्रता की समस्या पर विचार करन के लिए प्रस्तुत किया है। राधा पू जोबार्द-नय का प्रतिनिधित्व करते हैं। मोबारलाब के रूप में लेगक न मजदूर-नशाबा की मनोबंश व्यक्त की है। राम नाहर उमीशारा का प्राज्ञानधित्व करते हैं। इन प्रकार उपस्थापनार न मोशन क द्वारा जीवन की वा धाराले धामोण्य घोर नागरिक तथा पू जोबारा घोर शक्ति बग—एक कर में धन प टर्कों के सामन रखा है।

राधनाथ क एक पुत्र घोर एक पुत्री है। शिविधन र्ति घोर राधा सुयवगाव मिल उनक प्रतीक है। एक की दुमति उनकी बच्चा कानी है और दुपरें वा उनका पुत्र। दाते रूप म हन सब पात्रों का तीन बर्णों—राधक शक्ति घोर सुधारक म विचारित कर गवत है। उन्नाड सुधारको म १ पात्रक शक्ति, धनधारता जनमेवका शक्तरी मोर बर्णों को रखा है। उनम कुछ स्वाभाविक रूप में शक्तरी के गणक

है और कुछ ईष्मन्वित पृथ्वीवासियों को नीचा दिखाने को सुभारक बन गए हैं। कुछ स्वायत्त शक्ति के नेता बन गए हैं, जैसे बाल्कारनाथ ।

३. भाषा

'गोदान' की भाषा सरल सुगोब और प्रवाहपूर्ण है। जिस प्रकार वैदिक जीवन में पारस्परिक समावेष के लिए लिप्यन्त रचने की आवश्यकता नहीं समझी जाती उसी प्रकार प्रमथम्बजी ने भी अपने पात्रों की रचि संस्कार और योग्यता के अनुसार स्वच्छाण्डा से भाषा का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता रखी है।

भाषा मनोभावों की व्यञ्जना का साधन है। जिस प्रकार रचि और अस्कार का प्रभाव व्यक्ति के विचारों पर पड़ता है उसी प्रकार भाषा पर भी। उपन्यास के सभी पात्र एक ही रचि संस्कार या धारण के नहीं होते इसलिए उनकी भाषा में भी भिन्नता रहेगी और इस भिन्नता का मूल कारण वह बातावरण है, जिसमें वे पात्र जन्मे और पले हैं। 'गोदान' के पात्र भाषा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित हैं ग्रामीण और शहरी। ग्रामीणों में भी कुछ उच्च रूप के पात्र हैं। हम देखते हैं कि ग्रामीणों की भाषा और शहरी पात्रों की भाषा में उनके बातावरण के अनुसार लेखक ने कुछ भिन्नता रखी है और इसी प्रकार ग्रामीण पात्रों में भी उच्च वर्ण के पात्र हैं उनकी भाषा ग्रन्थ ग्रामीणों से कुछ अधिक परिभाषित है। नागरिक पात्रों में हम मिर्जा की भाषा ग्रन्थ नागरिक पात्रों से कुछ भिन्न धरम पते हैं। वह हिन्दुओं के बीच ही रहता है। फिर भी उसकी भाषा सरल सुगोब और प्रवाह्य होने के साथ ही पात्रों के अनुकूल भी है। ग्रामीणों की भाषा में हमें ठेठ ग्रामीण धरमधरम और ठगून ठगों की प्रभावता मिलती है। उटकी बामर हेटा, महानर सुखक दुस्ता, मठावन चमेरी पुच्छर धारि ऐसे ही शब्द हैं। कुछ भ्रमेरी शब्द भी ग्रामीण रूप में ग्रामीण पात्रों के मुह से बहकाए गए हैं। मन्ना हरमुनिवा अरीबाना पुनुस कामिस इत्यादि। 'गोदान' में कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग अर्थ की सम्पूर्णता के लिए किया गया है। यथा—अपोल प्रोबाम बोटिंग एवेरट कौसिस फेम बाइरेक्टर एलेक्शन पामिनी फर्म पन्डिक मिनिस्टर परसेंट शुबर धारि। पर इन शब्दों का प्रयोग करत समय भी उन्होंने हिन्दी की प्रकृति और परम्परा का ध्यान रखा है। उन्होंने अंग्रेजी शब्दों का अनुबन्ध रूप हिन्दी के अनुसार ही किया है। यथा मिनिस्टरों कीमिसों किनास्करों प्योरयों कम्बिच्छों म्युनिस्तिपैस्टिया बोधों धारि। जैसे अंग्रेजी के उन शब्दों का जो हिन्दी में सुम-सिम गए हैं प्रयोग करना अनुचित नहीं है। 'गोदान' में हमें कुछ सहयोगी शब्द भी मिलते हैं। यथा बहन-बन्डे बाँध-बाँध बट-बन्धन नगर-नगराना बीस-बनिये, बाँध-तहसीकरन पात-नमान बुड़े मुते धारि। इनमें पात्रों की भाषा में अधिक स्वाभाविकता या गई है।

'मोहन की माया म कुछ रूप भी है। यथा धीर' लहर का अनावरणक
— धीम धीर श्याम धीर शीम धीर प्रेम। पुनरा रूप से निम्न मायाधो के शब्दों
एक स्थान रचना है। यथानवस्थाप रिक्तकली, तमारा समाप्त विद्यगी
इ आदि।

शैली

'मनोरंजन उपन्यास का प्रथम उद्देश्य है। यद्यत् आ उपन्यास मनोरंजक नहीं,
सपत्न उपन्यास नहीं कहा जा सकता। मनोरंजकता के लिए भावपूर्ण शब्दों
का आवरण भी पठना का बलन भी प्राकृतिक रूप से किया जाये
हू भी मनोरंजन हो जाती है और यदि मनोरंजन ही पर उनके बलन का कम
रग हो, तो वह भी सुनतवासा का मनोरंजन नहीं कर सकती। उपन्यासमूलक
बही शैली प्रशस्तताय समझी जाती है जो अतिव्यक्त व्यक्ति को भी अल्प मर
पहुन के लिए सामायित कर दे। यह विशेषता ही प्रसन्नता की शैली में बनमान
प्रारम्भ में उद्देश्य है जो की अतिव्यक्तता शैली स्वीकार कर ली और अती में
प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उनही शैली में मूल्य एक प्रकार की अरुणता
विमल समाज के अल्प मूल्यता धीर बन भा जाता है। जहाँ कोमल भावों
में बना है जहाँ माया मधुर धीर कोमल हा गई है। जहाँ अल्प को उद्यता निन्दी
है बही शैली भी अल्प धीर अतिव्यक्त बन गई है। जहाँ निरस्वार अतिव्यक्तता अल्पता
भाव की भावना है बही शब्दों का अल्प एम कम का 'मनना है विमले में भाव
का जाये। अशास्त्रवाप्य होरी के पर धान पर अतिव्यक्त के लहर देगिला—
'मेरे पर आई क्यों? X X आय जहाँ उनके मगे हों। X X हयें बना करता
पर या लिए।'

प्रसन्नता ने अती शैली में अल्पकारों को भी स्थान दिया है, पर उनका उपयोगी
ता को मोक्षयति धीर भावों की स्थापना के लिए हा रिया है।

४ कथापद्धतन

प्रत्येक व्यक्ति को अल्पधीन पर लक्षण अल्पिक प्रभाव उनकी प्रकृति अल्पता अल्पकार
पहुना है। अल्प परभाव पात्र को अल्प विम विमय धीर अल्पविम अल्पिक का
न है। अल्प वागों का अल्प में अल्पकर रिया गया कथापद्धतन ही अल्पविम
प्रभावमाना होता है। अल्पिक के अल्प अल्पों में अल्पता अल्पता अल्प
जाता है—'जना न हा भाई भाई में अल्पता अल्पता अल्पता, जो अल्प
अल्पता! अल्प अल्प अल्पता अल्पता ही अल्पता अल्पता अल्पता अल्पता अल्पता अल्पता

गले पर छुरी चल रही थी तो भना ह्म कंठे बोमते ! उधकी प्रकृति के मनुस्म ।
किठना सुन्दर और प्रस्युख ध्यम् है बनिया के इन लम्बों में ।

होरी— मुझे मुझ नहीं है ।

बनिया— 'हो' काहे को मुझ सभेगी माई ने बड़े बड़े मद्दू बिमा दिए हैं ग ।
मनवान् ऐसे सपुत माई सबको रें । यह बालपटुता का एक सुन्दर उदाहरण है ।

कथोपकथन में चरित्र को स्पष्ट कर देने का भी सुख होना चाहिए । ऐसे ही स्थल
कथोपकथन की दृष्टि से उत्कम कहे जाते हैं, जिनसे चरित्र के बिरसेपथ में सहायता
मिले ।

होरी और बनिया में कुछ समय तक ध्यम्पुख हीको बातें होती रहती हैं । अंत
में बनिया परान्त होकर लाली मिरजई पगडी जूते और लम्बालू का बटुवा का बेटी
है । होरी मौलें लरकर बहता है— क्या समुरास जाना है, जो पाँको पोसाक माई
है ? समुरास में भी तो कोई बवान साली-सलज्व नहीं बँटी है बिसे जाकर दिनाई ।

बनिया— "एसे ही तो बड़े सजीसे बवान हो कि साली-सलज्वें तुम्हे बेसकर रीम्
बायेगी ।"

बोलों की बटुता हास्य में परिणत हो जाती है । यह है प्रेमचंद की की लीनी
की बिसेपता ।

कथोपकथन के समय पात्र की भावभंगी का स्वाभाविक स्पष्टीकरण सेलर की
सुदर्भता का दोटक है । प्रेमचंद की ने इसका अपने कथोपकथन में बराबर ध्यान
रखा है ।

कुछ कथोपकथन प्रवरय ही बड़े लम्बे हों गये हैं, जो इस दृष्टि से दोपपुख ही
समझे जायेंगे ।

६ दुराकास

'गोरान हम एक घोर घाम की सामाजिक दशा सामिक मनीजुति सामाजिक
रुद्ध सामिक बिपमता और नैतिक दुष्टिकोख से पारचित कराता है घोर दुसरी घार
नपर म प्रचलित गई लम्पता से दसा घोर के पारधारिक जीवन का बड़ा दुन्दर और
स्पष्ट बिबख हने पोदान में मिलता है । अनमेल बिबाध, अनियमित बहुला-दारा उत्पन्न
बिदशाबाध, दुख क-या ।सबको का कठकर नैहर भाम बाला, कम का पाखटपूर्व कम
बनीवार दमन बादि सामीक बिब इसमें बड़े स्वाभाविक रूप से बिबित किए हैं ।

चरित्र चित्रण

प्रमचन्द ने सभी वर्गों के पात्रों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है । उन्होंने
सभी सुख-बोले और जीवन का सम्यक चित्रा है । इसीसाए उनके पात्रों में मगपत

बिरोधपूर्ण होती जाती है। चरित्र चित्रण में उन्होंने किसी वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं कियाया। जिस वर्ग के पात्रों के प्रति अहम महानुभूति दर्शाई है उसकी उपयुक्त घबमारों पर कुछ ही बतलाई है। दोनों की आलोचना करने में समक नहीं रही एक निमग्न डाक्टर-मा उपस्थित होता है। समाज शरीर की स्वस्थता के लिए दोनों का आरक्षण आवश्यक है भी। इसीलिए उन्होंने जमीदार विमान पुनिम बर्बात डाक्टर महान्त शिलापिचारी राजकमचारी सभी के दोषों की आलोचना की है। क किसी पात्र को वैचन धडा या बुणा से नहीं रगत। उन्होंने मानव मान के गुण-घबगुणों के समन्वय का बड़ी मफनतापुत्र निर्वाह किया है। इसमें उनके पात्र घोर उन पात्रों का चरित्र चित्रण सत्वाभाविक मरी ज्ञान पन्ना। उन्होंने जो ज्ञान जिनसे कहमारी चाहिए, उता स बहमाई है।

प्रेमचर न प्रत्येक स्थान पर पात्रों का मानवित स्थिति का चित्रण सम्पुण रूप से किया है। यथा मि० मरुता का हाट कवन मुनकर राय मात्र को आधान पहुँचा बर्बात साहूब क माय पर बन प मय घोर मन्नादर मोरारनाथ के मुख पर जैसे काभय मय मई। क गुर ममष्टिवाद के पुत्राए व पर मीय बर में घाम न मयाना बाह्य व।

—(पृष्ठ ५५)

एन ही उन्होंने मी तरुबाव के पुत्राएँ का उत्पान पनन मी बड़े मुदर डग से कियाया है। पहल के उन्हें सब मापन भुनमकर बहन डँबा बड़ा देन है और उनमें अभिपान या उ बन होन पर ऐसे घोर का भ्रष्टा देने है कि वह ज्योन पर घा गिरता है उ-होन मन्ना और उयमाहूब का चरित्र हना प्रचार विविन दिया है।

मुन शक्ति और समोर भारतीय मन्तृति की बिरोधना है। मरन एव मोपा-साहा भावन ध्योन करते हुए मीका घोर रवाग में मदि रहना उनका लय है। प्रेमचर भारतीय मन्तृति के इन प्रध को गारात में दिखन न कर मरु। उन्होंने "मोनात में दिगमाया है कि घाम के जममरुन बहे जानबास बातावरण में मी मह भावना बिदमान है। उगपाग की भाविषा पनिया का लभाम जरा उम है पर साह्य की भी बह मति है। उमका मर साह्य उम मयद हमे दिग ई देना है उब बह धम और समाज के टवेदारा को मरचार कर निविदा चमालिन को जमय घाभय देनी है। बह विजनी निमय है समाज को घय परतरा मे। इसी प्रकार भोना का घाविषा में देग कर बह जमने पन्ना की परबद्ध न बर उये बबा गुबा मूगा के देनी है।

बातागत पटेशरी, मरु विमरी मागराम मोरव रग के पात्र है पर उनमें भी हुनरो के बट में महानुभूति जन्म ने की भावना प्ररुव है। पटेशरी होरी को जह

से खोवकर फेंक देना चाहता है। पर होरी के मचेत होने का समाचार पाकर वह चौंका जाता है और उसकी धारणा में हाव बँटाता है।

नागरिक पार्श्वों में त्याग और सेवा का समाव रहता है। पर वहाँ भी मि लक्ष्मी को पत्नी गोविन्दी, मिस मामती और डा महुता में त्याग और सेवा को मानना देना जानी है। मामती निबन्धों को सेवा मूल्य करती है। उसने मङ्गल की जो सेवा की और उसकी सेवा में कष्ट उठाया वह सगो मी से ही सम्भव है। गो बन्दी का सेवामात्र मेहता को उसका पुकारी बना देता है। सबैव तिरस्कार की बुद्धि से देखनेवासे मिस्टर ज्ञाना भी अर्थ में उसकी सेवा और त्याग का मूल्य समझने को विवश होते हैं। डॉक्टर मेहता अपनी हजारी की कमाई गुप्त-राम में उमाप्त कर देते हैं। होरी का हीरा की अनुपस्थिति में अपने अर्थ से अधिक पुनिवा क अर्थ की परवाह करना उसके त्याग और सेवा मानना का ही प्रमाण है। प्रमचर ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि सेवामय त्याग का सचाहरण धामने रखा जाए तो कोई भी उद्यम और बुद्धिमान् प्राणी उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा। इतना ही नहीं पर इसके मान-स्वभाव में भी एक धनुष परिवर्तन हो सकता है। मि मेहता और मामती के अर्थ से लेखक ने यही सिद्ध किया है।

प्रमचर के हरिण सावजनान और सबकासीन है। उन्होंने अपना सबैव ऐसे व्यक्तिपों से कहलाया है, जो सांसारिक सुख का पूरा उपभोग करने के परवाह उबार से विरक्त हो गए और जि हाग पर-सेवा ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया। प्रमचर के इस उद्यम का विकास मामती में पूरा निकसित मिलता है। वह मेहता से कहती है—
“ससार को तुम जैसे धामका की बरकरत है, जो अपनेपन को इतना फँसा बँ कि सारा ससार अपना हा जाय। मैं एक प्रतिभावान् व्यक्ति की धारणा को काराधार में बन्य नहीं करना चाहती। तुमने ससार के प्राणियों की धारण पुकारें सुनी है, तुम उसकी ओर से अपने कान बन्द नहीं कर सकते। अपनी विद्या और बुद्धि को अपनी अभी हुई मानवता को और भी इसाह के साथ उमी रासत पर (सेवा माग पर) से जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे चलूंगी। अपने जीवन के साथ अर्थ जीवन भी सावक कर दो। (पृ० ७५)

अब हमारा पूंजीवादी-वर्ग मानवों के द्वारा लिए गए इस सबैव को सुनेवा और उस कायल्प में परिखत करेगा तभी देस की मानवता में प्राण धारेंगे और हम गुण और शक्ति का अनुभव करेंगे।

सुधुक्या * स्वरूप और विकास

कहानी की परिभाषा के संबंध में मिल्ल-मिल्ल विद्वानों के मिल्ल-मिल्ल मत हैं। पारशास्य कहानी-साहित्य के जन्मदाता एडगर एलन पो के मतानुसार "कहानी रस उद्रेक करनवाला एक ऐसा व्याख्या है जो एक ही बार पढ़ा जा सकता है। एच० बी० बेल्ल कहते हैं कि कहानी यही है जो लगभग २० मिनट में छाहस और कहरना के साथ पढ़ी जा सके।" बाबू श्यामसुन्दर दास न लिखा है "व्याख्यायिका एक निरिच्छत सरय को सामने रखकर सिखा गया माटकीय व्याख्या है। कुछ सोय कहानी को उपन्यास का संक्षिप्त रूप समझते हैं। प्रेमचंद जी के कथनानुसार "कहानी एक रचना है जिसमें जीवन के किसी एक क्षण या किसी एक मनाभाव को प्रकटित करना हो उस सेपक वा उदरय रहता है। उसके चरित्र शैली और कथा-विन्यास सब उगी एक भाव को पुट करते हैं। यह एक एका ममता है जिसमें एक ही पीछे का माधुय धपन ममुप्रउ रूप म दृष्टिगाचर हीना है। अनेत्र भी कहानी को एक ऐसी मूय मानते हैं जो निरन्तर समाजाल पाठ को कोशिला करती रहती है। धरय को कहानी को जीवन प्रतिष्ठाया मानते हैं। भी चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कहते हैं कि पटनात्मक इनहरे विनय का नाम हो कहानी है।

पहले कुछ सोय कहानी में तीन हजार से बाह्य हजार शब्दों का होना आवश्यक मानते थे पर अब शब्दों का कोई बन्धन नहीं माना जाता। एक कहानी छी शब्दों की भी हो सकती है और पन्द्रह हजार शब्दों की भी।

धम्य साहित्य की तरह कहानी-लेखन का भी एक निरिच्छत उदरय होता है। कहानीकार पहिल धपनी कहानी के उदरय की पुति क लिए पटना बलन पात्र कपोपकथन धारि के धाधार पर कहानी सिगठा है। कहानी के एक निरिच्छत उदरय म पूर्ण होन के कारण उसकी उपन्यास से धलग धपनी एक स्वतंत्र शैली बन गई है। बामाल कहानी प्राचीन कहानिया से भी धमन है। प्राय का कहानी-लेखक पाटक क सामने गड़ा होकर उमगे प्रत्यक्ष बाँने करता-मा मान्य होना है। उमकी शैली पाटक के धंतरय मित्र की-नी होती है। उसकी मह शैली प्रत्यक्ष शैली धपना व्याख्यायन शैली कही जा सकती है।

कहानी भारत म बिनी व्यक्ति बिदेग के जीवन का एक एका मुंठ विष है, जिसमें उदरय जीवन म संबंधित एक पटना विदयन का विनय होता है। य एका पटना हाउ है जिसका जीवन से संबंधी संबंध होता है। इस पटना का प्रभाव मा व्याक होता है।

इमीलिए उस बटना पर आधारित कहानी से उसके पाठक अप्रभावित नहीं रह पाते । प्रत्येक कहानी में कोई-न-कोई रुचक घटक होता है । यही संकेत कहानी को प्राणमयी बनाता है । यही कारण है कि कहानों में बटना के काल्पनिक विवास का भी महत्व है वह चरित्र घटना कथावस्तु का महत्व नहीं है । वह बटना छोटी होती हुई भी तथ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है । यह तथ्य जितना व्यापक होता है कहानी उतनी ही प्रभाव पूर्ण होती है । संभवतः इमीलिए सर ह्यू वाम पोस ने कहा है— 'कहानी कहानी होनी चाहिए चर्चा एक तो उल्टे बटित बटना का कोई भीम-व्यापी महत्व होना चाहिए । दूसरे वह बटना प्राकृतिक होनी चाहिए । उसका विकास तीव्र बति से इस प्रकार होना चाहिए कि वह एक कीड़हन के साथ चरम बिन्दु तक पहुँच जाय ।

यस कहानी का क्षेत्र बेचस बटना एक ही सीमित पक्षी रहा मानव-जीवन का कोई उत्सव घटना मनोवैज्ञानिक संरम भी उसका आधार बन गया है । प्रमचन्दबी ठो यहाँ एक मानते हैं कि 'वर्तमान प्राकृतिकता का आधार ही मनाविज्ञान है । बनावें और पाठ उसी मनोवैज्ञानिक संरम को स्थिर करने के लिए सामे जाते हैं । उनका स्थान बिलकुल गोल है । वह ही एक बटना मन-स्थिति घटना बाह्य परिस्थिति है, जिसमें मनावैज्ञानिक संरम या मनावैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन संभव हो । साचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'प्राकृतिकताओं की बड़ी शक्ति है । वे समाज की प्रवृत्तियों को यहाँ धमिष्यण करती हैं यहाँ उनके टीक विस्थापन सुचारु घटना निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं । इमलिए कहानी में संगापन या पूरूपन कहानी-रचना भी कोई सेवा नहीं कर सकता ।

कहानी-तत्व

कथावस्तु, कथोपकथन चरित्र चित्रण ऐतहासिक घटना आगावरण बर्तन-शैली और उद्देश्य कहानी के तत्व हैं । किसी भी कहानी का परीक्षण इन्हीं तत्वों के प्रकाश में किया जाता है । किसी कहानी की निरोपार्ण भावने के लिए भी उस कहानी की इन्हीं तत्वों की कमीदों पर बसकर देखा जाता है ।

कथावस्तु

कथावस्तु का पाँच घंग होते हैं—शोषक प्रस्तावना मुख्य भाग चरम विवास और प्रसव । यात्र कथ बिना शायक की कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं किन्तु प्रत्येक कहानी का शोषक घटक है । कहानी का शोषक ऐसा होना चाहिए जिसमें कहानी के रूप का संकेत हो और साथ ही वह प्राकृतिक और मनार्थक भी हो । शोषक देखकर ही पाठक के मन में उस कहानी के पक्ष की इच्छा उत्पन्न होती चाहिए । प्रस्तावना में कहानी के मुख्य पात्रों का संकेत होना के साथ ही कहानी का चरम भी हो । मुख्य भाग में कहानों का सम्पूर्ण मुख्य भाग या जाता है और वह अन्तः विवास करता हुआ

चरम बिन्दु पर पहुँचना है। कहानी का ध्येय इस ढंग से द्रिया जाता है कि बहु पाठक के हृदय पर हवावा प्रभाव छोड़ सक और बहानीकार का उद्देश्य सफल हो सक।

कथापकथन

कहानी का कथोपकथन बहानी के कथावस्तु का विकास करता हुआ उसके पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करता है। कथापकथन के द्वारा ही पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति का पता लगता है। अतः कथोपकथन कहानी का एक बहुत आवश्यक घटक और महत्वपूर्ण अंग है। यह चरित्र-चित्रण में सहायता करने के साथ ही कथानक के मुख्यवस्तु का विकास एवं भाषा शैली का निर्माण करने में भी सहायता करता है। अतः आवश्यक है कि कथोपकथन भाषा की स्वाभाविकता के साथ-साथ समय और परिस्थिति के भी अनुकूल हो।

चरित्र-चित्रण

कहानी में पात्र की संख्या कम-से-कम होती है। पटनाप्रधान बहानियों के सिवाय अन्य बहानियों की संख्या भी परीक्षा चरित्र-चित्रण के द्वारा ही की जाती है। कहानी के अन्त में पात्रों की मुक्ति पात्र होते हैं। कहानी में उपन्यास की तरह पात्रों के चरित्र का व्यापक विकास नहीं किया जा सकता किन्तु पात्रों के चरित्र की एक स्पष्ट स्वरूप प्रदर्शन दिगर्त जा सकती है और इसी स्वरूप के आधार पर उस पात्र के सम्पूर्ण चरित्र का अनुमान हो जाता है। अतः पात्रों के चरित्र-चित्रण में बहानीकार को बहुत सफल रहना पड़ता है। चरित्र-चित्रण बचन द्वारा संकेत द्वारा, वाक्यांश द्वारा और पदनामों द्वारा द्रिया जाता है। इनमें वास्तविकता संक्षिप्तता स्वाभाविकता और आसक्ति का व्यापक अपना आवश्यक है।

दृश-दृश्य

दृश-दृश्य की परिस्थिति में ही कहानी के वातावरण का निर्माण होता है। इस वातावरण में पात्रों के चरित्र का विकास होता है और पाठकों का मन भी कहानी के वातावरण से ही प्रभावित होता है। अतः आवश्यक है कि दृश-दृश्य अथवा वातावरण का चित्रण स्वाभाविक पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुकूल आवश्यक किन्तु संक्षिप्त हो।

भाषा-शैली

भाषा की सुन्दरता ही कहानी के प्रभाव का आधार है। अनेक चरित्र का वर्णन करने का भाषा अंग होता है। कहानी करने का यह अंग भी कहानी सुनने वाले के हृदय को आसक्ति करता है। दृश-दृश्य कहानी में शैली का बहुत अंग है। कहानी के अन्त में अनेक संकेत होते हैं। अतः अन्त-अन्त में ही दृश-दृश्य शैली का अन्त-अन्त में ही

बाबरी जैसी घाब में कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। भावजन रसा-निबन्ध के रूप में भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। कहानी चाहे जिस शैली में लिखी जाय किन्तु उसकी भाषा प्रभावशाली सरस प्रवाहपूर्ण तथा विविध भावों को स्पष्टता के साथ प्रकट करने वाली होनी चाहिए। भावजन हिन्दी में चार भाषा-शैलियाँ प्रचलित हैं एक प्रभाव भी को सुख ससङ्गत-प्रचुर भाषाशैली दूसरी प्रेमकथन भी की सरस सरस धीर पात्रानुभूत भाषाशैली तीसरी उद्यमी की साप्ताहिक शैली और चौथी यद्यपि भी की माधुर्य युग्म-युक्त सरस भाषाशैली।

उद्देश्य

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक कहानी का एक निश्चित उद्देश्य होता है। बेवक मगोरबन के लिए लिखी गई उद्देश्यहीन कहानी को कहानी कहना ही व्यर्थ है। पहिले की कहानियों का उद्देश्य पाठकों को कोई शिक्षा प्रथमा उपदेश देना हीठा था किन्तु कहानी का यह उद्देश्य प्रायः पीछे बत गया है। प्रायः की कहानी का उद्देश्य पाठकों में भागृति स्फूर्ति साहस प्रथमा किसी एक रस विरोध की श्रेतना को जग्य देना है। यही कारण है कि वर्तमान कहानी का उद्देश्य समेकनारमक अधिष्ठ और उपदेशारमक कम होता है। कहानीकार अपनी कहानी के द्वारा समाज को स्वस्थ समत और प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करता है; यह धर्म-विरवाधो सामाजिक कर्मियों और कर्मधोरियों पर प्रहार करता है और इस प्रकार एक धारना समाज की रचना में सहायक होता है।

कहानी के इन उल्को की कसौटी पर खरी उतरने वाली कहानियाँ ही सच कहानियाँ हैं। कहानी का विकास इस ढंग से होना चाहिए कि उसके विवाध की प्रत्येक सीढ़ी पर पहुँचते ही पाठक प्रागे की बात जानने को उत्सुक दिखाई दे और उसका चरम विकास पाठकों के मन पर एक प्राकृतिक तथा जमत्वारपूर्ण प्रभाव डाल सके। श्रेष्ठ कहानियाँ अपनी दक्षिण कुछ धोरठों के द्वारा ही पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में समथ होती हैं।

हिन्दी-कहानी-साहित्य का विकास

मनुष्य का जीवन स्वयं एक कहानी है। इस मनुष्य के जन्म के साथ ही कहानी का भी जन्म मात्रा जा रहता है। प्रादिम युग का मनुष्य जन्म-विवाध करता हुआ एक धरना से दूसरी धरना में पहुँचता गया; उसकी बुद्धि विकसित होती गई, यह संचार के नये-नय रूप देखता गया उसके मन में नये-नय धार वधा ही मए, उसके मरिठक म नय-नय विचार धारै मए और उसके जीवन की नई-नई कहानियाँ बनती गईं। इन कहानियों का गया रूप का यह कहना संभव नहीं है। इसना धरनय

कहा जा सकता है कि लोक-कहानियों का जन्म मनुष्य के विकार को इन्होंने स्वर्णियों में हुआ होगा।

बेशर्त में हमें कुछ कहानियों के मूल मिलते हैं किन्तु ये मूल सांकेतिक हैं। इनमें से कुछ मूर्खों के घाबार पर उतारिपट्ट काम में कहानियाँ लिखी गईं। इन कहानियों की रचना कुछ विचार प्रबल विद्वानों को समझने के लिए हुई थी। इनके विषय कुछ कहानियाँ उस समय की सामान्य जनता में भी प्रचलित रही होंगी। ये लोक-प्रचलित कहानियाँ भी घात्र प्राप्त नहीं हैं।

राजसे पुरानी कही जान वाली कहानियाँ "गुणार्णव" को मानो जाती हैं। उनके द्वारा रचित ये कहानियाँ पैशाचा भाग के "वल्कलकहा" नामक खंड में संकलित थीं। पैशाचा वा यह खंड घात्र प्राप्त नहीं है पर इन कहानियों का संसृष्ट स्वरूप "कथामरिस्तामर" तथा "बहून् कथा मत्रयी" के रूप में प्राप्त है।

इनके परबान् हमें जानक कथार्ण दिशादेत खंडख घादि की कहानियाँ मिलती हैं। इनके विषय ईशप को कहानियाँ भी प्राप्त हैं। ये सब लोक-कहानियाँ हो सकती जा सकती हैं। इन कहानियों का उद्देश्य कोई-न कोई शिक्षा प्रबल उपदेत देना था। ये कहानियाँ घात्र की कहानियों से बिभट्टन प्रभव हैं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन कहानियों के कथा-मूल को देखकर ही पहिले रहन कहानी-लेखकों को घात्र की कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली होगी।

द्विती तथा अन्य अन्तर्गत भागधों में बर्षों पहिले से महाकाव्यों घोर संस्कार्यों की रचना होनी घा रही है। इन काव्यधों की रचना भी किमी एक कथानक को लेकर की गई है। घात्र इन घथा में भी हवें कहानियों के रूप मिलते हैं। मूठे कवियों में भारत में प्रचलित घात्र प्रम-कहानियों क घाबार पर घरने काव्य-धों की रचना की है किन्तु घापुनिक कहानियों का घारम्भ इन प्रम-गाथाधों क रचना-काल से भी नहीं माना जा सकता। ये कहानियाँ सबका घापुनिक काल को देत हैं।

हिन्दी-कहाना-साहित्य

कुछ विद्वान् विरोधीपान गान्धारी द्वारा लिखित "रतुमती" कहानी को हिन्दी की घापुनिक खंड की पहिली मौनिक कहानी मानते हैं। यह मन् १९०० ई में प्रकाशित हुई थी। इनके परबान् खंड पहिला की "दुर्गा" वाली कहानी मानो जाती है। बाबर अन्तर्गत मन् १९११ ई० में प्रकाशित प्रकाश की की "घात्र" कहानी को घापुनिक खंड की पहिली कहानी मानकर प्रमा को की घापुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य का प्रबलक मानते हैं। जो कुछ वा जो पर इनमें लन्देह नहीं कि हिन्दी के कहानी-साहित्य में पहिले रहन खिल कहानियों में प्रबल कथा से खंडना घोर खंडको से प्रसूदित थीं। ये

कहानियाँ सरस्वती' और 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। भारतेन्दु-काल में श्री योषाजिराम महमदी द्वार अग्रणी से कुछ आधुनी कहानियाँ भी हिन्दी में आई गई थीं। श्री पाव तीमन्तन और बम महिमान भी बँगला की सुन्दर कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रकार भारतेन्दु-युग में हिन्दी के कहानी-साहित्य का केवल धारण ही हो सका। इस साहित्य को वास्तविक रूप और भीमिका प्रदान करने का श्रेय वर्तमान काल को ही है।

कहानी-साहित्य के विकास की दृष्टि से हम वर्तमान काल को तीन खंडों में विभाजित कर सकते हैं प्रसाद-युग प्रमचन्द्र-युग और नवयुग।

प्रसाद-युग

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १८११ में प्रकाशित श्री जयसंकर प्रसाद की "काम" कहानी से वर्तमान युग की मौलिक हिन्दी-कहानियों का लेसन और प्रकाशन धारण होता है। "इन्दु" पत्रिका में प्रसाद की क सिंघाय की अग्रभर शर्मा मुलानी जी० पी० श्रीवास्तव आदि अग्र्य कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित होती रही। प्रसाद की नै वाचिक सामाजिक राजनीतिक ऐतिहासिक आदि कहानियाँ लिखी हैं। रामसेन ज्ञान्या प्रतिष्ठापन आंधी विद्रोही मधु, पुरस्कार, आकाशवाणी इन्द्रजाल आदि प्रसादकी ही कहानियाँ हैं। नाट्यमय लेखी नाटकीय कथोपकथन और संस्कृत-प्रचुर भाषा प्रसाद की ही कहानियों की विशेषता है। श्री जी पी श्रीवास्तव की आधिकारिक कहानियाँ हास्यरस से परिपूर्ण हैं। शिरकम्मरनाथ शर्मा शैशिक, क्वालादत्त शर्मा आदि प्रसाद-युग के अग्र्य प्रसिद्ध कहानीकार हैं। पंडित सुरेश प्रमचन्द्र जेठी प्रसाद "हृदयेश" आधिकारिक प्रसादसिंह तथा रामकृष्णदास ने भी इसी युग में कहानी-लेखन धारण कर दिया था। इन कहानी-लेखकों में से हम सभी कहानियों को देखते हुए श्री जयसंकर प्रसाद "हृदयेश" आधिकारिकप्रसाद सिंह और रामकृष्ण दास को आधिकारिक कहानीकार और प्रमचन्द्र सुरेश कोशिक क्वालादत्त शर्मा जेठी को अग्र्यकहानीकार कह सकते हैं। "कामो में कॅपना" आधिकारिक प्रसाद सिंह की "रक्षा बंधन" और "ठाई" कौशिकजी की "जसने कहा था" तथा "मुखमय जीवन मुलानीजी की विरही लोकप्रिय कहानियाँ हैं। जेठीजी की कहानी के संबंध में आचार्य ज्ञान पी ने लिखा है—“इसमें अंधकार के बीच मुर्ख की अरुण अंधकार के मोठर आधुनिकता का अरुण उत्थम धारण निपुणता के साथ सम्पुष्टि है।” इसकी घटनाएँ ही बाल रही हैं पात्रों के बालने की धनका नहीं।

प्रमचन्द्र-युग

प्रमचन्द्र की के हिन्दी-कहानी-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करते ही एक नये युग का आरंभ होना। इन दिशादिशा अक्षय दिशा में आदि से भी हुई वैभव

मनोरंजन के लिए निम्नी जानेवाला कहानियों के स्थान पर मानव-जीवन के विविध पक्षधर्मों पर लिखा कहानियाँ धाने लयी । प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक मर्य के आधार पर सामाजिक जीवन के विकास चक्र में अपनी कहानियाँ के कथानक चुन घोर जीवन के मर्य का अपनी कहानियों में प्रकट किया । उन्होने मानव जगत् की घीटा-बड़ा मर्या समस्याओं को अपनी कहानियों में स्थान दिया । यद्यपि उनकी कुछ कहानियाँ धनिक जीवन में भी संबंधित है तथापि उनकी अधिकांश कहानियाँ किसानों मजदूरों मध्य श्रामोण्डों तथा दलितों के जीवन पर आधारित है । इस प्रकार प्रेमचन्द न हमारे कहानी-साहित्य की विविध रूपों में सुमिश्रित कर समझिसाली घोर स्वावलंबी बना दिया । उनकी कहानियों पर अपने मृग की राजनीतिक सामाजिक धार्मिक धार्मिक सभी प्रवृत्तियों के प्रभाव मिल जाते है ।

पंडित मुरारि शिवपुरान महाय इसाचण जोड़ी मनोरंजन प्रम खंडीप्रसाद हुरवेरा चतुरसेन शास्त्री धीनेश्वरकुमार बाणदेव बचन शर्मा उष मयवती प्रसाद बाजोरा धार्मिक प्रमचन्द-मुष के धर्म प्रमुग कहान-बार है । इन सभी कहानीकारों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य की समझिसाली बनाने में मूल्यवान् योग दिया है । इनमें से उष धीनेश्वरकुमार घोर इसाचण जाती का कहानी-साहित्य को मई दृष्टि बन का धर्म प्राप्त है । श्री उष में एक इयनिकारी के रूप में हिन्दो-कहानी-चक्र में प्रवेश किया । उनका-ना मध्याय विनय बनविद् हो धर्म कहानीकारों का कहानियों में मिल । उनकी अधिकांश कहानियाँ सामाजिक जीवन से दृष्य है । इनमें जीवन क दोना पक्षधर्मों को चक्र मयाय रूप में प्रकट किया गया है ।

श्री धीनेश्वर मानव जीवन के चित्रकार है । उन्होने अपनी कहानियों में इन इन्हीं संबंधों का तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों का बड़ा सूक्ष्मता में चित्रण किया है । उनका कुछ कहानियाँ धार्मिकरूप क पुर के कारण समझन में बलि हो गई है । श्री इसाचण न एक मई भाव-भाव लेकर इन चक्र में प्रवेश किया । मानव-मनोमार्थों का सूक्ष्म चित्रण घोर जीवन-मार्थों का विवेचन उनकी कहानियों की विशेषता है । उनकी कुछ कहानियों में जीवन का बाह्य तथा धार्मिक संसार को सुन्दर रङ में ध्यत हुआ है ।

नवयुग

धा मठान निवाचमरायण गुण मरगनीचरम वर्मा धरम चण्डगुण विद्यामंवार धर्मगुणिकर डेहर बनारसी धर्ममयाय भाणर निचमया धर्मम यातान शक्रे धरन पहाडो रणुन-धर्मिद् धीधम शर्मा देवी-भाय चतुर्वेदी ममशरवार मरे धार्मिक मरनुष के कहानीकार है । हमारे में कहानीकार मायाशर मायमयाय मयाशर धर्मिकार धार्मिक मरने में विमिश्रित है । जाई या हा पर इनमें मरुदे मया इत इन तथा धर्म मनेय मरीधिन कहानीकारों हाय मरने के कहानी-साहित्य के विकास में

महत्त्वपूर्ण सहायता मिल रही है। इस समय देश की समस्या से लेकर भोक-कम्पास और जन-उत्थान तक की भावनाओं से पूछ कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इनके विनाय मनोवैज्ञानिक दार्शनिक और वैज्ञानिक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं।

यह राजनीतिक और सामाजिक जागृति का युग है। भारतीय स्वतंत्रता के परचाट नये विचारों नई भाषनाओं और नई धार्मिकधारों का जन्म हुआ। परिष्कृत स्वल्प पात्र का कहानीसाहित्य बहुसंख्य और बहुरंगी बनता जा रहा है। युग बदल रहा है, जीवन बदल रहा है, धारणाएँ और बस्तुएँ बदल रही हैं तथा उनकी परिभाषाओं और मूर्तियों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसी परिवर्तन के प्रकाश में हमारे सामने नये-नये कहानीकार नई-नई शैलियाँ और नये-नये शिल्प लेकर आ रहे हैं। इस काम में महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। शिवरानी प्रमोद तथा देवी मिश्रा महादेवी बर्मा सुमित्रा कुमारी जोहान कमला जोषी हेमवती देवी सेवानी पाठक सत्यवती मलिक अन्वकिरण सौनदेवता धारि क द्वारा भी हिन्दी के कहानी-साहित्य के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली और मिलती जा रही है।

विचार वाद्यों की बुद्धि से बहापल रावेय राबब राहुम साङ्ग्यायन समुत्तमान नागर समुत्तय नरेन्द्र शर्मा रामेन्द्र मादव विष्णु प्रसाकर धारि की कहानियों पर साक्ष्यकारी प्रभाव है। इनमें से यशपाल की ने लक्ष्युय के हिन्दी-कहानी-साहित्य में संभवतः सबसे अधिक मोनडाल क्रिया है। विचार प्रधान कहानी-लेखकों में विद्याराम शरन कुण्ड कर्णपामाल मिश्र मधुसूदनचरण बर्मा धारि प्रथमी हैं। देवेन्द्र सत्यापी तथा मम्मयनाथ कुँव के भी कुछ कहानो-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नये टेकनिक को लेकर कहानी लिखनेवालों में हमारी लक्षित पोडो के भी कलाकार उल्लेखनीय हैं, जिनमें मोहन राकेश धनन्धप्रकाश बिन मार्कण्डेय मधु मंडारी रमेश बच्चो धारि मुख्य हैं। इन विनों मोरारजी दासस्टाय बेहद पसन्दक गोर्की कुमिन धारि धनेक प्रसिद्ध विदेशी कहानीकारों की कहानियाँ भी हिन्दी में आकर हमारे साहित्य की समृद्ध कर रही हैं। प्रायः हिन्दी का कहानी-साहित्य किसी भी समृद्ध भाषा के कहानी-साहित्य से टक्कर ले सकता है।

महत्त्वपूर्ण सहायता मिल रही है। इस समय सेक्टर की समस्या से लेकर लोक-कल्याण और जन-उत्थान तक की भावनाओं से पूरा कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इनके सिवाय मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं।

यह सामाजिक और सामाजिक जागृति का युग है। भारतीय स्वतंत्रता के परचाएँ नये किचार्ते नई भावनाओं और नई भावनाओं का जन्म हुआ। परिष्कार स्वल्प भाव का कहानीसाहित्य बहुसंख्ये और बहुसंख्ये बनता जा रहा है। युग बदल रहा है, जोड़न बदल रहा है। बाँटव्याँ और बस्तुएँ बदल रही हैं तथा उनकी परिभाषाओं और मूल्यों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसी परिवर्तन के प्रकाश में हमारे सामने नये-नये कहानीकार नई-नई शैलियों और नये-नये सिद्ध भेकर जा रहे हैं। इस काय में महिमाएँ भी लोभे नहीं हैं। सिद्धगामी प्रेम-भक्त तथा देवी मित्रा महादेवी जहाँ सुबहा कुमारी चौहान कमला चौधरी इंसानी देवी लेखनी पाठक सत्यवती मलिक चन्द्रकिरण सोनरेवना धारि के द्वारा भी हिन्दी के कहानी-साहित्य के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली और मिलती जा रही है।

विचार-वाचनों की दृष्टि से पद्मनाभ रामेश रावण साहित्यिक समुदाय कायक प्रमुख मन्त्रेण्ड शर्मा राजेन्द्र पाठक विष्णु प्रभाकर धारि की कहानियों पर काव्यप्रवारी प्रभाव है। इनमें से बसनाभ जी ने नवयुग के हिन्दी-कहानो-साहित्य में संभवतः सबसे अधिक योगदान किया है। विचार प्रवाह कहानी-लेखकों में सिद्धाचार शरण गुप्त कर्णपालास मिश्र भद्रवतीचरण जहाँ धारि प्रवर्णी हैं। देवेन्द्र सत्याजी तथा मंगलनाथ गुप्त के जो कुछ कहानो-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नये टेकनिक को लेकर कहानी लिखनेवालों में तुमारी लखीरिठ पोडो के जो कलाकार जल्लेखनीय हैं, जिनमें पोहन राकेश घालम्बकाठ जैग माकपदेव मधू भंडारी रमेश बच्ची धारि मुख्य हैं। इन रिर्ता मोगासाँ टामस्टाय बेखर पसबक गौकी कुप्रित धारि घनेक प्रविष्ट बिदेशी कहानीकारों की कहानियाँ भी हिन्दी में आकर ह्वारे साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। घाम हिन्दी का कहानी-साहित्य किसी भी समृद्ध मापा के कहानी-साहित्य से टनकर ले चकटा है।

आलोचना : स्वरूप और विकास

आलोचना समालोचना और समीक्षा शब्द लगभग एक ही अर्थ के शब्द हैं। आलोचना अर्थात् समाज या विचारों के समीक्षा और शासन आदि को भी हो सकती है। किन्तु यहाँ आलोचना से तात्पर्य केवल साहित्यालोचना है। साहित्यालोचना संश्लेषण के विद्यमान क्रिटिसिज्म Literary Criticism का पर्यायवाची है। क्रिटिसिज्म शब्द का अर्थानि शब्दों के 'क्रिटिकोम' शब्द से माना जाता है। क्रिटिकोम कृति प्रथम साहित्य का अध्ययन सुख प्रक्रिया गुणगोप-विशेषण उत्कृष्टतम स्थिति में लेखक का व्यक्तित्व आदि सभी बातों साहित्यालोचना के अंतर्गत आ जाती है। प्लेगो के मतानुसार साहित्य का निर्माण बड़ी साहित्यकार कर सकता है जो स्वयं सत्यानुगुणो भावनावादी और उत्कृष्ट कौशल का चरित्रवान् है। प्रागे जमकर प्रस्तुत में 'सत्याहित्य' शब्द के स्थान पर 'संभावित सत्य' की प्रयुक्ति की। यह पारंपारिक आचार्यों का दृष्टिकोण है। भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। यहाँ प्रारंभ से ही धामोचकों की सोमा धामोच्य साहित्य तक ही रही है। यहाँ कारण है कि संस्कृत के धामोचकों ने धामोच्य-कृति के वास्तविक अध्ययन एवं शास्त्रीय विश्लेषण तक ही अपनी समीक्षा अथवा आलोचना समाप्त रखी। यह वास्तव में अंध का अन्तर्भाव ही है। समीक्षा शब्द का अर्थ भी प्रारंभ में यहाँ समझा जाता रहा है। हिन्दुओं को मात्र को धामोचना वास्तव में भारतीय और पारंपारिक समीक्षा शैली का एक समन्वय है। धामोच-रचना हमारी है और दृष्टि परिष्कार की।

पारंपारिक आलोचना दृष्टि और भारतीय आलोचना दृष्टि में अंतर होते हुए भी ऐतिहासिक अंतर नगण्य है। पारंपारिक विद्वान् बल्कि, ऐतिहासिक अंतरों के कारण आलोचना के अर्थ मानते हैं। इसी प्रकार भारतीय आचार्य शब्द अर्थ और रस को आलोचना के अर्थ मानते हैं। पारंपारिक आलोचक काव्य के अन्तर्भाव के आधार पर ही काव्य की उत्कृष्टता अथवा निष्कृष्टता का निश्चय करते हैं। भारतीय धामोचक आलोचना में रस अन्तर्भाव, रसि अर्थ आदि के आधार पर काव्य-निश्चय करते हैं। यहाँ भी पारंपारिक और भारतीय आलोचना दृष्टि में कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता किन्तु भी हम यह अन्तर्भाव नहीं कर सकते कि पारंपारिक दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से अधिक व्यापक है। यहाँ भारतीय आलोचना हमें एकान्ता दिखाई देती है, यहाँ पारंपारिक आलोचना संपूर्ण है। अंतर्भाव यहाँ कारण है कि जो हमारे धामोचकों ने कोई भी एक दृष्टिकोण अथवा आलोचना-शैली स्वीकार न कर शायद के समन्वित रूप को अपनी आलोचना का आधार बनाया है।

बाबू रयामसुन्दरदास के भगवानुमार

किसी ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुण-दोषों का विवेचन करना और उस पर अपनी मत स्थिर करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उसकी व्याख्या मानना पड़ेगा। किसी ग्रंथ को आलोचना करते समय हम उस ग्रंथ का और उसके कर्ता का वास्तविक प्रतिश्रय जानकर उसके सम्बन्ध में अपनी मत स्थिर करना चाहते हैं। यदि साहित्यकार अपने साहित्य में जीवन की व्याख्या करता है, तो एक भ्रामक आलोचक हमें उस व्याख्या को समझने में सहायक होता है। इस आलोचक का साधारण पाठकों की ओर का अधिक ज्ञान-सम्पन्न होना स्पष्ट है। उसका अध्ययन अधिक गभीर विस्तृत और पूर्ण होता है और इसलिए वह साहित्यकार की कृति के विभिन्न अंगों पर सम्यक प्रकाश डालने में समर्थ होता है और पाठकों को जीवन की व्याख्या समझने के नये माग बतलाता है।

आलोचना से दो काम होते हैं एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विलक्षण व्याख्या हो जाती है और दूसरे उसके सम्बन्ध में एक निश्चित मत स्थिर करने में सहायता मिलती है। आलोचक ये दोनों काम पुनः-पुनः न कर एक साथ ही करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि समालोचक का काम केवल व्याख्या करना है। उसे अपनी मत स्थिर कर उसे पाठकों पर व्यक्त न करना चाहिए, क्योंकि उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और आगे आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत मान्य नहीं मान पड़ता है। बिना कृति पर अपनी मत प्रकट किए आलोचक का काम पूर्ण हो नहीं हो सकता। आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह आलोच्य कृति के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म निरीक्षण कर यह बतलाए कि विषय भाव और कला की दृष्टि से वह कृति कैसी है। उसमें जीवन-जीन से कुछ है और जीवन-जीन से दोष है। वह चाहे तो उसी विषय के दूसरे अंग से उसकी तुलना भी कर सकता है। वह ऐतिहासिक नैतिक सामाजिक साहित्यिक सभी दृष्टियों से उस पर विचार करता है। प्रत्येक दृष्टि से उसका यह हय यही रहेगा कि वह स्वयं उस अंग तथा जनता को समझे और दूसरों को भी समझाए।

आलोचना का उद्देश्य

एक तो किसी भी कृति पर सबका मत एक नहीं हो सकता। दूसरे यह भी सम्भव है कि उसी कृति को दो और तीन बार पढ़ने पर हमें अपना पक्षिण मत भी बदलना पड़े। इसीलिए आलोचक का काम बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण है। वह अपनी आलोचना द्वारा पाठकों का मन प्रवृत्त करता है, इसीलिए वह किसी कृति को पढ़कर जो मत स्थिर करे वह बहुत ही सोच-विचार कर करना चाहिए, अन्यथा वह लेखक के सामान्य न कर लेना को उसका प्रभाव बतल्य है। कृतिकार के प्रति आलोचक की मता

जाड़े में हो, पर सहाय्यपूर्वक तो होनी ही चाहिए, अन्यथा वह सेबक की धामा तक न पहुँच सकेगा। और ऐसी स्थिति में वह उसका साथ स्थायी कर ही न सकेगा पर उससे अपना मत स्थिर करने में भ्रम ही सम्भव होगी।

आलोचक के गुण

सबसे पहिले सांख्यिक को विद्वान्, बुद्धिमान्, मुक्तप्राणी और निष्पक्ष हीना चाहिए। सांख्यिक का मुख्य काम सामान्य मंत्र को उसके वास्तविक रूप में देना है। यह सभी सम्भव है, जब उपरान्त गुण होंगे। यदि वह विद्वान् न होगा तो वह मंत्र के गुणों को न समझ सकेगा यदि बुद्धिमान् न होगा तो और-नीर विषय में असम्यक होगा और वह निष्पक्ष न होगा तो उसका विषय निरसक भ्रमपूर्ण और धांधल होगा।

इन गुणों के अतिरिक्त सांख्यिक में एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता है। कभी-कभी देना गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी उनको अच्छी सांख्यिकता नहीं कर पाए जिसकी अच्छी सांख्यिकता उनसे कुछ कम बुद्धिवाले सांख्यिक कर सते हैं। इसके कारण यही है कि सांख्यिकता के लिए जिस प्रकार की बुद्धि और निष्पक्षता की आवश्यकता होती है उसका उतने प्रभाव उतना है। वास्तविक बात तो यह है कि सांख्यिकता भी एक प्रकार की कला है और उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उस अपने मन और व्यक्तिगत विचारों पर भी अधिकार रखना पड़ता है।

तुलनात्मक सांख्यिकता

किसी पुस्तक की सांख्यिकता करते समय जब उसी विषय की और भी एक-दो पुस्तकें सामने रखकर उन पुस्तकों से तुलना करते हुए सांख्यिक प्रश्न की सांख्यिकता की जाती है, तब वह तुलनात्मक सांख्यिकता नहीं जाती है। इन प्रकार की सांख्यिकता से एक ही विषय पर विभिन्न-विभिन्न ग्रन्थकारों के विचार प्रतिपादन-रूपों का दृष्टिकोण विषय प्रतिपादन और व्यक्तीकरण की व्याख्यात्मकता याद की जाती है और इस प्रकार उस दृष्टि की समुचित व्याख्या करने तथा उस पर अपना मत व्यक्त करके बुद्धि और स्पष्टता में व्यक्त करने में सहायता मिलता है। यथा ५० वर्षों के लोगों की विद्वान् की और ५० वर्षों के विद्वान् की विद्वान् की सांख्यिकता है। ऐसी सांख्यिकता से मध्यम-मार्ग का ज्ञान तो होता है पर साथ ही माहिर्य में निरसक बुद्धि-बकट भी एकत्र नहीं हो पाता। इन प्रकार के सांख्यिकतात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है वह शब्द साहित्य के अर्थ-पर और मन में ज्ञान साहित्य होता है। यदि हम ऐसे साहित्य को शब्द साहित्यिक ज्ञानात्मक इतिहास की बुद्धि नहीं, तो कोई सत्यज्ञान न होगी।

आलोचना और साहित्य सृष्टि

कुछ विद्वानों का मत है कि समालोचना से पूर्व प्रकाशित ग्रंथों के ही गुण-दोष प्रकट होते हैं। उससे नवीन साहित्य को जन्म देने में कोई सहायता नहीं मिलती। कुछ लोग तो आलोचना को नये साहित्य की सृष्टि में बाधक भी समझते हैं। पर हम इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। यदि हम उसे साहित्य का बाधक भी मान लें तो बाधक दत्त भी प्रकारान्तर से बाधक ही सिद्ध होता है। पर वास्तव में इसे बाधक समझना ही गलत है। जैसे स्वतंत्रता के उन्मुखता से परिणत हो जाने पर शासन की ओर से प्रतिक्रिया को आवश्यकता होती है वैसे ही प्रसृत साहित्य की सृष्टि पर लपटाया गया प्रतिक्रिया साहित्यकारों को अनुचित मार्ग पर जाने से रोकता है और उचित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। आलोचक वास्तव में लेखकों के मार्ग के अन्वेषण-पत्थर हटाकर सतत मार्ग सुलभ और प्रशस्त करता है, और उन्हें छोड़कर जाने से बचाता है। इस प्रकार आलोचक एक ओर प्रतिक्रिया पर साक्ष्य करता है और दूसरी ओर उन्हें नवीन साहित्य का मुक्त करने की प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार आलोचक तो एक प्रबलक और सहायक होता है, साहित्य-सृजन में बाधक नहीं।

भारतीय आलोचना-पद्धति

भारतीय भाषाओं में छः आलोचना पद्धतियों का उल्लेख किया है—भाषाय-पद्धति टीका-पद्धति शास्त्रार्थ-पद्धति सूत्रि-पद्धति खंडन-पद्धति तथा लोचन-पद्धति।

१ भाषाय-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार आलोचक काव्य-कृतियों का परीक्षण रीति-धर्मों के माध्यम विद्वानों के आधार पर उत्कृष्ट प्रथम निष्कर्ष बोधित किए जाते हैं।

२ टीका-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार मूल ग्रंथ की टीका करने के प्रतिरिक्त कवि का आशय तो स्पष्ट किया जाता है और इसके साथ ही उक्ति-धर्मों को विशेषज्ञों एवं रस-मार्ग-कार, ध्वनि आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक होता है। इस प्रकार की आलोचना में रस-विद्वानों की विशेष आलोच्य ग्रंथ का ही अधिक महत्त्व होता है।

३ शास्त्रार्थ-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार धर्मों और प्रमाणों के द्वारा प्रतिक्रिया के मत का खंडन और अपने मत का समर्थन किया जाता था।

४ सूक्ति-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार आलोच्य ग्रंथ की सुन्दरताओं का विवेचन किया जाता था।

५ जड़न-पद्धति

इस पद्धति के अनुसार भालोच्य कृति के केवल शेषों पर बुद्धिपाठकिया जाता था ।

६ सोचन पद्धति

इस पद्धति में भालोच्य ग्रंथ को पूर्वतः समझकर उसके अन्त-सौम्य भाव-वाचीय अन्ति-वैचित्र्य आदि पर सम्यक प्रकार कासा जाता था । भाव की भालोचना-पद्धति का यही प्राचीन पद्धति मूलाधार है । हमने पारंपार्य भालोचना-पद्धति के उपादेय तत्त्वों के प्रकाश में इसी भारतीय पद्धति का परिष्कृत रूप स्वीकार किया है । प्राचाम नन्ददुमारे काव्येयी ने इसे ही साहित्यिक समीक्षा-पद्धति कहा है । यद्यपि ये प्राचीन पद्धतियाँ अब लुप्तप्राय होती जा रही हैं तथापि हिन्दो में इन पद्धतियाँ के अनुसार भालोचित ग्रंथों का उचना अभाव नहीं है । पंडित परमसिंह शर्मा की "बिहारी सतसई", लाला भगवानदोग की बिहारी-बोबिनी' आदि टीका-पद्धति में उचित रूप 'बिहारी और देव शास्त्राच पद्धति में उचित रूप है ।

आलोचना के प्रकार

साहित्य जब अपने स्वरूप का विरसेपय स्वयं करने समता है तब समालोचना का अगम होता है । यह साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है । बिना समालोचना के साहित्य अपूछ है । इसके चार प्रकार माने गये हैं—

१ सैदाण्टिक Speculative समालोचना जिसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है । साहित्य क्या है ? उचना अत्य क्या है ? प्रत्यक्ष सामग्री को कला अन्त-रूप में और किन माध्यमों से प्रकृत करती है ? इन प्रश्नों पर विचार करके कला के विषय में कुछ सम्मति निर्धारित करना इस प्रकार की समालोचना का विषय है । रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष होते हैं । एक कर्म का पक्ष और दूसरा पाठक का पक्ष । अतः काव्य क्या है केवल इस पक्ष का अनुशीलन किन्तु बुद्धि से और केसा होना चाहिए, पाठक को साहित्यमिच्छक कसी हो परम्परागत साहित्यमिच्छक के काव्य का अनुशीलन करने में क्या बुद्धियाँ होती हैं वसी साहित्यमिच्छक बाधनीय है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्पत्ति पर पहुँचना सैदाण्टिक समीक्षा की सर्वप्रथम क विषय है । यह अत्यन्त एक प्रकार से भालोचना का शास्त्रीय पक्ष है और शेष प्रकार की भालोचना विभिन्न-विभिन्न दुष्टियों से उसके प्रयोग । समालोचक को समरप रचना चाहिए कि इन सिद्धान्तों का आधार साहित्य है अतः जब सिद्धान्तों में कोई कृति अज्ञ हो तब मूल आधार अर्थात् साहित्य को और बुद्धि बोझानी चाहिए ।

२ व्याख्यात्मक Inductive समालोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता मिलती है। वास्तव में व्याख्या का विश्लेषण ही प्रधान वस्तु है, जिस पर चारों प्रकार की समालोचना धर्मसंबन्धित है। इस व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निष्पन्न कर सकते हैं। भावमयी समालोचना के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वल्प-ज्ञान आवश्यक है, जो कि व्याख्या से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार की समालोचना श्रेष्ठ व्यापक और समीचीन समझी जाती है। समालोचक कितनी भी रचना का अध्ययन एक ध्येयक के रूप में करता है व्यापकता के रूप में नहीं। वह रचयिता के हृदय बुद्धिकोण और मूल से सदाशतपूर्वक अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके अपनी धर्मसंज्ञा को अनुसरता से सहायता की धोर से जाता है। इस प्रकार वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है। पर यह धारणायक है कि रचना के धर्म-प्रत्यय को स्पष्ट रूप से देखना चाहिए, उस समझ का धर्मसंज्ञा भले ही हो।

दूसरी बात यह है कि व्याख्या का तात्पर्य कितनी रचना में केवल उपर्युक्त बूझना या कितनी पाठ के अन्तर्-विचारण प्रथम कथानक को प्राथोपान्त न देखकर किसी एक कथन प्रथम बटना के आधार पर व्याख्या करते हुए लेखक पर सहसा प्रसंगिक का दोषारोपण न कर देना चाहिए। तीसरे व्याख्या रचने में धारणें हुए समय पर ही अधिकतर धर्मसंज्ञा होनी चाहिए बाहर के किसी कृत्रिम साधन पर नहीं।

कवि धारणी रचना का सहा है। उसने अपनी कृति को जो रूप दिया है, वही उसका वास्तविक रूप है उसके अतिरिक्त उसे दूसरा रूप न देना चाहिए। किसी कवि के शृंगार-प्रिय होने पर उसको निर्दोषमयी कल्पितियों को भी शृंगारिक न समझ लेना चाहिए क्योंकि यह भी हो सकता है कि अपने जीवन की विरक्त अनुभूतियों ने ही उसे साहित्य-नृजन में प्रवृत्त किया हो साधना-अनुभूतियों ने नहीं। हमें रचना से चलकर रचनाकार के धारण तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

किसी नियम या निश्चय का उल्लंघन करते देख किसी कवि या लेखक को दोषी नहीं उद्घोषना का संकल्प क्योंकि ये निबन्ध-काल्प की तरह उद्घोष-निर्मित नहीं है। दूसरे कोई एक नियम को छोड़ रहा है, इसका वह मतलब है कि वह दूसरा क्या नियम बना रहा है, इसलिए भी उसे दोषी नहीं उद्घोषना का संकल्प। नियमों के उल्लंघन द्वारा कला का विकास होगा और वह समीच बनती रहती है। यह भी धारणायक है कि समालोचक व्याख्या करते समय अपनी धोर से कोई निश्चय प्रथम निकालने का प्रयत्न न करे।

३ : निष्पन्न रूप समालोचना Judicial Criticism हमें सामान्य विद्वानों के धारण पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निष्पन्न किया जाता है।

इस प्रकार की सामाजिकता व्याख्यात्मक सामाजिकता के ठीक-बिपरीत होती है। सामाजिक धर्मोपेक के रूप में किसी कृति का अध्ययन न कर व्यापारिक के रूप में करता है और यह देखता है कि काव्य एक निश्चित आधार के अनुसार है या नहीं। वह अपनी साहित्यानिदधि के मापदंड से कृति को देखता है। नवीनता पर नियंत्रण रखता है। यह साहित्यिक कृतिमें की अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने का प्रयत्न करता है। ऐसी सामाजिकता साहित्य का प्रगति में बाधक होती है। यह एक भ्रमपूर्ण सामाजिकता है। इसमें सामाजिक कला के सम्पूर्ण स्वल्प उपादान उपकरण माध्यम आदि का मूल्य निर्धारित करना चाहता है जो अशक्य है।

हमारे निर्यात देने के लिए किसी प्रामाणिक मापदंड की आवश्यकता होती है, पर सामाजिक के पास ऐसा कोई मापदंड नहीं होता, वह अपने धर्म-करण से ही काम लेता है। अतः उसके निर्णय सर्वमात्र्य और तट-प्रतिशत सत्य होना आवश्यक नहीं है। यह आवश्यक है कि यदि सामाजिक का अध्ययन नमीर और व्यापक हो तो साहित्यिक धर्म-करण कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा दोनों को विचार में रखकर साहित्यानिदधि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है, जो निर्णय करने में सहायक होता है।

इस प्रकार की सामाजिकता में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो ऐसी सामाजिकता व्याख्या के बिना व्यापक और उचित नहीं हो सकती। ऐसी सामाजिकता में हमें सामाजिक कृति से उठना परिश्रम नहीं होता जितना कि सामाजिक की व्याख्या से। दूसरे इस प्रकार बिये बिये निर्यात व्यक्तिगत निर्यात होते हैं, जो एक-दूसरे के विपरीत भी हो सकते हैं, जिससे एक से अधिक सामाजिकों का निर्यात देखने पर हम उनके मिस्र मतों के कारण सामाजिक कृति को उसके वास्तविक स्वल्प में समझ ही नहीं पाते। इस प्रकार की सामाजिकता करनेवासे सामाजिक तीन प्रकार के होते हैं। पहिले वे जो अपने ही और भावानुभूति के अनुसार निर्यात करते हैं वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों की निगाह से सम्पत्ति स्थिर करते हैं और तीसरे वे जो नियमों के विरोध ही होते हैं, पर उन्हें ही नियमों के परे। ये सबने बड़े निर्णायक माने जाते हैं।

४ स्वल्प अथवा आत्मप्रेम सामाजिकता Free or Subjective विनये सामाजिक सामाजिक विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना उत्सवीय या उससे इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर यह भावना में ही बह जाता है। सामाजिक कृति या विषय उसके भावों का आत्मप्रेम बन जाता है। ऐसी सामाजिकताएँ रचनात्मक साहित्य की कृतिमें हो जाती हैं। जब सामाजिक विवेचन-पद्धति को छोड़कर केवल अपने व्यक्तिगत रसि या अर्थि की अपनी सामाजिकता का आधार बना सता है, तब

इस प्रकार की समालोचना का जन्म होता है। इसमें आलोच्य कृति को प्रशंसना प्राप्त न होकर आलोचक के दृष्टिकोण को ही प्रशंसना प्राप्त होती है। यह सबसे अधिक निम्नकोटि की और भ्रामक आलोचना है। आलोचना की दृष्टि से ऐसी आलोचना का कोई मूल्य नहीं है, पर इसका रचनात्मक साहित्य में स्थान प्रबल है। व्यो-व्यो साहित्य में व्यक्ति-प्रशंसना बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिक्य होता जायेगा।

आलोचना-साहित्य का विकास

हिन्दी में आलोचना-साहित्य का जन्म भारतेन्दु-काल में होता है। भाषात्मक वच की अन्य प्रमुख विधाओं की तरह इस विधा के जन्मशता भी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही कहा जाना चाहिए। उन्होंने स्वयं 'कवि वचन मुद्रा "हरिश्चन्द्र पत्रिका" तथा "हरिश्चन्द्र मीमांसा में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखकर एवं 'मुद्राराक्षस की भूमिका" और "नाटक" की रचना कर हिन्दी में आलोचना-साहित्य का सुनपत किया था। 'हाहाय्य' हिन्दी प्रबोध' आदम्ब कारम्बिनी "कवि वचनकार" आदि पत्रिकाओं में भी उस काम के लेखकों में आलोचनात्मक लेख लिखे। इन लेखकों में ज्ञानप्रिय बन्नीनारायण चौधरी 'प्रमथन' पंडित बालकृष्ण मट्ट बालमुकुन्द गुप्त भी निवासदास तथा प्रतापनारायण मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डिबरी-काल में हिन्दी के आलोचना-साहित्य का महत्वपूर्ण विकास हुआ। इस साहित्य की स्वयं पंडित महाश्रीप्रसाद डिबरी के द्वारा की गई सेवाएँ अत्यन्त मूल्यवान् हैं। उनकी "कालिदास की निर्दुरता" नामक कृति संभवतः हिन्दी के आलोचना-साहित्य की प्रथम पुस्तकाकार कृति है। उनकी "नैयम चरित चर्चा" और "विद्यार्थ-देव चरित चर्चा" पुस्तकें भी आलोचनात्मक शैली में ही रचित हैं। नागरी प्रचारिणी-पत्रिका का प्रकाशन आलोचना साहित्य के विकास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। इनके प्रथम वय में ही व० दंगप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' बाबू जयप्रकाश दास का 'समालोचनादर्श' और अग्निहोत्री व्यास का 'वचनमीमांसा' लेख प्रकाशित हुआ। कुछ समय के पश्चात् 'समालोचनादर्श' और 'वचनमीमांसा' पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए, जिनसे उत्कृष्टतम साहित्यकारों की आलोचनात्मक दृष्टि प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली। इन दोनों पुस्तकों में आलोचना-विद्वानों का विशद बयान उदसम्प है। इनमें से 'समालोचनादर्श' दोष के 'एतेषां ज्ञान विद्विधिम' का काव्यानुवाद है। इस नाम के अन्य समालोचक 'मिमथम्बु' पद्मसिंह शर्मा दृष्ट्यविहारी मिश्र साक्षात् बचवान् शैल बाबू श्यामसुन्दर दाट आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दु-काल की आलोचना पर एक बड़ी सीमा तक रीतिकाल का भी प्रभाव था यह डिबरी-काल में निःशय हो गया। हिन्दी-आलोचना को एक निरवत रूप

स्वरूपा और शैली प्राप्त हुई। त्रिनेत्री के संपादन में प्रकाशित होनेवाली 'सरस्वती' में समय-समय पर अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे और हिन्दी आलोचना-साहित्य के विकास का माप प्रशस्त होता गया। त्रिनेत्री के प्रतिरिक्त मिश्रबन्धुओं के द्वारा भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। उनका 'हिन्दी भवराज' आलोचना-साहित्य का एक मूल्यवान् ग्रंथ है। इस ग्रंथ के द्वारा हिन्दी में 'तुलनात्मक आलोचना' का सूत्रपात होता है। इसके परचात् पं० पद्मतिष्ठ शर्मा ने 'बिहारी सठसई' की तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने बिहारी को काव्य-साहित्य के उच्चासन पर धासीत किया। यह देखकर पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारो' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी और देव को बिहारी से स्पष्ट धोषित किया। समकालीन मही देवकर नामा भगवानदीन ने "बिहारी और देव" पुस्तक की रचना कर मिश्र बन्धुओं के धासों का मुक्तिपुस्तक उत्तर दिया। पं० संयाप्रसाद भूमिहोषी ने आलोचना के सिद्धांतों को व्याख्या करने के लिए 'समासोचना' नामक पुस्तक की रचना की। हिन्दी में इसी पुस्तक के प्रकाशन से सैद्धांतिक आलोचना प्रारंभ होती है।

आलोचना-साहित्य के विकास में बाबू रघुनाथसुन्दर बाबू का योग भी अत्यन्त मूल्यवान् है। इस समय तक निरवविद्यासना के उच्चवर्गीय विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में कोई आलोचनाशास्त्र का ग्रंथ नहीं था। बाबू साहब ने इस स्थिति को पूर्णतः साहित्य-आलोचना' ग्रंथ की रचना करके की। इसके प्रतिरिक्त उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं जो कि कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। "कल्पक रत्न" भी बाबू साहब की एक आलोचनात्मक कविता है।

त्रिनेत्रीकाल के उत्तर मध्यकाल में प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव एक समर्थ समासोचक के रूप में हुआ। वास्तविकता यह है कि प्राचार्य शुक्ल के द्वारा ही हिन्दी के आलोचना-साहित्य को परिपक्वता प्राप्त हुई। उन्होंने एक ओर हिन्दी के प्राचीन कवियों के काव्य पर विस्तृत और गवेषणात्मक प्रकाश डालकर उनके काव्य की सर्वांगीण महत्ता हमारे सामने व्यक्त की और दूसरी ओर भारतीय तथा पारंपारिक आलोचना-सिद्धांतों का गहन अध्ययन कर उनके आधार पर आलोचना को एक सर्वोच्च शैली प्रस्तुत कर इस काम के आलोचकों का माप-प्रदर्शन किया। हमें तुलसी-संवाक्यी काव्य-संवाक्यी अमरवीर्य छार, धारि की विस्तृत मुद्रिकाओं में शुक्ल जी की परिष्कृत आलोचनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। उनका "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" भी आलोचना-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके इस ग्रंथ से हिन्दी के ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक समीक्षा का सूत्रपात होता है। उन्होंने इस इतिहास-ग्रंथ में कालक्रम से हिन्दू के सभी

प्रमुख कवियों की काव्य-कृतियों की प्रवर्तन और बहिरंग परीक्षा धातोचनात्मक ढंग से करने का प्रयत्न किया है। उन्होने इस प्रश्न में तथा अन्य धातोचनात्मक प्रश्नों में भी जो बृहत्कोष उपलब्ध किया है वह अत्यन्त पाठित्यपूर्ण गहन और विरलेपद्यात्मक है। उनको ये धातोचकार्य विशेषतात्मक एवं व्याख्यात्मक होने के साथ ही सवमान्य साहित्यिक गिष्ठान्तों पर आधारित है। प्राचार्य गन्धर्वनारे बाबुपेयी का यह कथन सबका मस्य है— 'हिन्दी-समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में सुकल जी ने सुय-प्रवर्तक का कार्य किया वह हिन्दी के इतिहास में सर्वैव स्मरणीय है। हमें प्राचार्य सुकल को धातोचना-व्यक्ति के प्राक्त का विकास उनके परचाय प्राचार्य विरवनाथप्रसाद मिश्र आन्ध्रवनी पांडे पद्मसाल पुष्पानाम बच्ची कृष्णसंकर सुकल रामकृष्ण सुकल डाक्टर रामकुमार बर्मा प्रायि की कृतियों में मिसता है। 'बाबुमय विमला' और 'बिहारी' प्राचार्य विरवनाथप्रसाद मिश्र के सुकलजी के प्राक्त पर लिखित धातोचनात्मक ग्रंथ है। मिश्रजी ने कुछ अन्य ऐतिहासिक कवियों के साहित्य पर भी इसी समीक्षा-व्यक्ति में धातोचनात्मक ग्रंथ लिखे हैं। इनमें भूपय्य और बनारस्य प्रमुख हैं।

विदित आन्ध्रवनी पांडेय ने सुकल-परम्परा प्रवृत्त करने के साथ ही एक स्वतंत्र विवेचनात्मक शैली में हिन्दी कवि-वर्षों 'सुलसीदास' 'साहित्य संदीपनी' 'हिन्दी-वच-निर्मल' प्रादि की रचना की है। पाण्डेयजी ने प्रायः उक्त साहित्य की ही धातोचना की है या अनुसंधानों द्वारा प्राप्त हुए हैं और विचारप्रस्त रहे हैं। 'प्रसाद जी की नाट्यकला' 'धातोचना समुच्चय' प्रादि की रामकृष्णसुकल की धातोचनात्मक कृतियाँ हैं। निर्मोक्त्या मौलिकता और स्पष्ट आध्यात्मिक सुकलजी की धातोचना की विशेषताएँ हैं। 'विरव साहित्य' बच्चीजी की और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' श्री कृष्णसंकर सुकल की इनी परम्परा को कृतियाँ हैं। डाक्टर रामकुमार बर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का धातोचनात्मक इतिहास' लक्ष्मीधर बाबुपेयी ने 'धार्मिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा 'धार्मिक हिन्दी-साहित्य' डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने 'धार्मिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' और डाक्टर मोमानाब ने 'हिन्दी साहित्य' का निर्माण कर प्राचार्य सुकल द्वारा उद्भूत ऐतिहासिक हिन्दी-धातोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। डाक्टर जयलक्ष्मणप्रसाद लक्ष्मीजी के 'हिन्दी वच-शैली का विकास' एवं 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' को भी हम इसी परम्परा के अंतर्गत स्थान दे सकते हैं।

डॉ. श्यामसुन्दरदास जी परम्परा में धातोचनात्मिक शैली का लक्ष्मीधरदास 'मुर्दा' बाबु मुलाबराय रामसिंह मिश्र डाक्टर पोशाबराय बल कृष्णलाल प्रायि के नाम उल्लेखनीय हैं। धातोचनात्मक शैली लक्ष्मीधरदास का, 'काव्य में धार्मिक

“संज्ञानाद” सुबोध को का सिद्धांत और धर्मधर्म बाबू सुभाषराय का “काम्य-रूप” रामचंद्र मिश्र का तथा “हिन्दी काम्य में निपुण बारा” डाक्टर बड्डियाल का प्रतिष्ठित ग्रंथ है। समाप्ति-साहित्य के ऐतिहासिक ग्रंथों में सेठ कर्णामाताल का “काम्य-कल्पद्रुम” रामचंद्रोटी शुक्ल का “काम्य प्रदीप” लालचर त्रिपाठी प्रवासी का “काम्य-परिचय” प्रमुद्रराय मोतल का “ब्रह्म भाषा में साहित्य-निरूपण” सोतायाम सास्त्री का “साहित्य सिद्धान्त”, पुस्तोत्तम शर्मा का “रसगंधर्व” आदि उत्कृष्टनीय हैं।

हिन्दी के काम्य समाप्ति में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य तन्त्रुमारे बाबोपेयी डाक्टर मनेन्द्र इलाचन्द्र ओशी डाक्टर रामचंद्राश शर्मा आदि विशेष उत्कृष्टनीय हैं। इनमें से डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवशास्त्रो समाप्ति हैं। उनका यह मानवशास्त्रो बुद्धिबोध “कबीर” साहित्य का मम आदि कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप से परिचित हैं। “हिन्दी साहित्य की भूमिका” भी द्विवेदी जी की एक मूल्यवान् समाप्ति-कृति है। “भारत के कृष्ण” तथा “कल्पलता” उनके समाप्ति नामक निबंधों के प्रमुख संकलन हैं। उन्होंने साहित्य को सर्वत्र मानव-जीवन के समीप रखकर देखा है।

आचार्य मन्त्रुमारे बाबोपेयी हिन्दी के एक निर्भीक सामिक और कलाकारो समग्र समाप्ति हैं। उनकी प्रत्येक समाप्तिनामक कृति में हमें उनका स्वतंत्र दृष्टिकोण दिखाई देता है। वहाँ उन्होंने काम्य को समाप्ति को है वहाँ उन्होंने हृदयस्पर्शिता और आनंद को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कलाकारिता हीनत्वमयी है। साहित्य-को मौलिकता रचना प्रवृत्ति मान-सौन्दर्य आदि ही उनकी समाप्ति के मुख्य आधार हैं। “मूर संदभ” “महाकवि सुखास” “हिन्दी साहित्य कीसर्षो शताब्दी” “साधुनिक साहित्य” तथा “साहित्य तथा प्रश्न” “बसंतकर प्रसाद” आदि बाबोपेयी जी को प्रमुख समाप्तिनामक कृतियाँ हैं। आचार्य बाबोपेयी ने हिन्दी के समाप्ति-कोष में उक्त समय प्रवेश किया जब आचार्य शुक्लजी के उत्तमाल समाप्ति-परम्परा के समर्थक के रूप में आचार्यो काम्यकारा का विरोध कर रहे थे। इस स्थिति में उन्होंने अपने समाप्ति-कारा द्वारा इस नवीन काम्यकारा को आ प्रोत्साहन दिया वह निरंतर ही प्रसन्नोद है।

बाबोपेयीजी ने अपने “हिन्दी की मनीषा-सैतियाँ” निबंध में चार हीनियों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम “विरह साहित्यिक सैती” है। आचार्य शुक्ल बाबू रामचन्द्रराय हजारीप्रसाद द्विवेदी बच्चो आदि इसी सैती के समाप्ति हैं। द्वितीय सैती “विरहपछात्मक” धरबा मनोवैज्ञानिक है। यह सैती मनोविरहो पक्ष को महत्त्व देती हुई साहित्य-रचना और आस्थापन के रूढ़ियों को नवीन बनाया करती है। इन सैती पर आचार्य का प्रभाव है। डाक्टर रामचंद्राश शर्मा इलाचन्द्र

खोटी धजय डाक्टर लगाने मलिनबिभोचन शर्मा यदि इस शैली के पुरस्कर्ता हैं। तृतीय शैली मानसवादी विचारधारा को लेकर घबरा रही है। यह 'प्रतिवादी समीक्षा शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समीक्षा-शैली के संबंध में बाजपेयी जी का मत है कि इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे प्राथमिकता से बहुत कम साहित्यिक होते हैं। दूसरे यह समीक्षा-शैली कवि की समस्त मानवीय चेतना का प्राकसन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का ही प्राकसन करती है। जिससे इसके निष्पन्न अपूर्ण और एकपक्षी होते हैं। स्वयंवरसिंह चौहान समुद्रराज प्रकाशचंद्र गुप्त राधेय रावत यदि इस शैली के प्रमुख समालोचक हैं। यद्यपि डाक्टर रामबिभास शर्मा का बुद्धिकोस भी मानसवादी कहा जा सकता है, तथापि उनकी समालोचना-वृष्टि इन समालोचकों से अधिक व्यापक प्रथम है। समालोचना की शुरुआत शैली यह है जो किसी भी मतवाचक प्रथम परम्परा का समुद्रराज न कर उससे प्रथम दूर रह प्रथम मत प्रकट करती है। इस शैली को "व्यक्तिमूलक प्रथम 'प्रभावानि रक्त' शैली कहा जा सकता है। इस शैली का शेष यह है कि यह प्रथम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं एक नयी रचना बन जाती है। इस स्थिति में यह कभी-कभी प्रथम समीक्षा-रूप ही जा सकती है।

निबन्ध स्वरूप और विकास

निबन्ध का दर्भ "बैसा हुआ" धरवा मुनंगठिन मेक है । इस दृष्टि से किनी बस्तु, दूरय बटना विषय धरवा धरनि पर धरने धर्यनन, निरोधन धौर धनुमक के धाधार पर सुन्दर धौर धाधपुख विधार धतोरंरक धौर धरमाधराली शैली में लिपिबद्ध करला निबन्ध-लेखन समझ धायला धौर इन धरकार जो लिखा धाय । बहु निबन्ध कहलाएया । निबन्ध बध में हो हाते है पध में लही । धुधरे शररी में मुष्यबस्विन रीत से लिखित धध रचना को निबन्ध कहते है ।

निबन्ध-लेखन के आधार

संक्रलित सामग्री धौर लेखन शैली हो निबन्ध लेखन के आधार हैं । किसी जो विषय पर निबन्ध लिखने के पहिले उस विषय से सम्बन्धित सम्पूख सामग्री एकत्रित कर लेना धावरयक है । जैसे धरि किसी बाग पर निबन्ध लिखना हो तो पूरे बाग का धुमकर धाठीकी से देख लीजिए । धरवेध-डार ध धारंभ कर उस बाग की बनावट मिध-मिध धरकार के फूलों को धरारिपी नमलों का जमाध धाप के धोटे धौर बड़े फूलों तथा पीरों के स्थल धरि बोध-बाध में मंडप या फुंड हो तो उनको बनावट विविध फूलों धौर शैलों के नाम धाप के बोध को गलिया धरि क सम्बन्ध में धाप धरनी नोट बुक में लिख लीजिए । यह धापले संक्रलित सामग्री होनी । इन सामग्री के आधार पर सुन्दर धौर धाधपुख धंय स उस बाग पर निबन्ध लिख लीजिए ।

धरि किसी समारोह पर निबन्ध लिखना हो तो उसके धारंभ से धान तक को सब तैयारी कारण क्रमक्रम बनावट ब्यवस्था धौर उस समारोह या मेले की धाधपुख धौर महत्वपुख बातें पहिले क्रम में लिख लीजिए । यही धायकी संक्रलित सामग्री होनी । इस सामग्री के आधार पर धरना निबन्ध लिख लीजिए । इसी धरकार धाप विन विषय पर निबन्ध लिखना धाहें उससे सम्बन्धित पूरी सामग्री पहिले तैयार कर लीजिए धिर निबन्ध लिखिए ।

शैली

निबन्ध-लेखन में शैली का बड़ा महत्व है । धान धरनी संक्रलित सामग्री से धरने निबन्ध का शरीर बना मध्य है पर धरि उस शरीर में प्राध नहुधा तो बहु निर्मीक शरीर किसी काम का न होवा । धान उस शरीर का शैली के धरध ही धाधधान् बना सधते है । धानकी लेखन-शैली धरनी सुन्दर होनी निबन्ध बधना ही सधेक धौर धरमाधरामी होवा ।

श्रीमती अज्ञेय डाक्टर लक्ष्मण लसिनबिलोचन शर्मा यदि इस शैली के पुरस्कर्ता हैं । तृतीय शैली मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर अग्रसर होती है । यह 'प्रगतिवादी समीक्षा शैली' के नाम से प्रसिद्ध है । इस समीक्षा-शैली के संबंध में बाबूदेवी जी का मत है कि इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे धारण-कता से बहुत कम साहित्यिक होते हैं । दूसरे यह समीक्षा-शैली कवि की समस्त मानवीय चेतना का धारणन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का ही धारणन करती है । विशेषे इसके निर्याय अपूछ और एकांगी होते हैं । शिवदानसिंह चौहान अमृतशम्य प्रकाशचंद्र पुष्प रंगीय रावण यदि इस शैली के प्रमुख समालोचक हैं । यद्यपि डाक्टर रामबिलास शर्मा का बृहिकोश भी मार्क्सवादी कहा जा सकता है तथापि उनकी आलोचना-वृत्ति इन आलोचकों से अधिक व्यापक अक्षर्य है । आलोचना की अतुल शैली यह है जो किसी भी मतभाव ध्यवा परम्परा का अनुकरण न कर लक्ष्य संख्या दूर रह अपना मत व्यक्त करती है । इस शैली को "व्यक्तिमुखी प्रववा प्रमावाभि रक्षक' शैली कहा जा सकता है । इस शैली का शेष यह है कि यह अत्यन्त स्वतंत्र होने के कारण स्वयं एक मरी रचना बन जाती है । इस स्थिति में यह कभी-कभी अपना समीक्षा-क्य ही जो सजती है ।

निबन्ध स्वरूप और विकास

निबन्ध का पद "बोधा हुआ" पदवा मुर्मगठित लेख है। इस दृष्टि से किसी कम्प्यू, कृत्रिम बलिया विषय पदवा कृत्रिम पर घटने सम्बन्ध, निरोधन और धनुमन के माधर पर मुन्दर और भावपुष्ट विचार मनारंजक और प्रभावशाली शैली में निबन्ध करणा निबन्ध-लेखन समग्र बापगा और इस प्रकार को लिखा बाप। बहु निबन्ध कहसाएगा। निबन्ध बल में हो हते है पद में नहीं। हमरे कर्णों में सुषवस्वित्त ऐत से निबन्ध पद रचना का निबन्ध बहते है।

निबन्ध-लेखन के आधार

संकलित सामग्री और लेखन शैली हो निबन्ध लेखन के आधार है। किसी भा विषय पर निबन्ध लिखने के पहिले उस विषय से सम्बन्धित मन्गुष सामग्री एकत्रित कर लेना आवश्यक है। जैसे यदि किसी बाग पर निबन्ध लिखना हो तो पूरे बाग को घूमकर बागिकों में देख लोबिए। प्रवेश द्वार से शुरुआत कर उस बाग की बनावट मिश्र-मिश्र प्रकार के फूलों का बगारियाँ गमलों का जमाव बाग के छाटे और बड़े बुच्चों तथा पीछों के स्थान परि बोध-बोध में मंडन या कुंज हो तो उनका बनावट विविध फूलों और शैलों के नाम बाग के बाग को गनिनों आदि के सम्बन्ध में बाग घटना नाट बुक में लिख लोबिए। यह बागको संकलित माननी हामी। इस सामग्री के आधार पर मुन्दर और आकषक रूप में उस बाग पर निबन्ध लिख लोबिए।

यदि किसी ममारोह पर निबन्ध लिखना हो तो उसके आरम्भ से शुरु तक को सब तैयारी कारण कार्यक्रम घटनाएँ व्यवस्था और उस ममारोह या शैली को आकषक और महत्त्वपूर्ण बातें पहिले रूप में लिख लोबिए। यह बागको संकलित सामग्री होनी। इस सामग्री के आधार पर घटना निबन्ध लिख लोबिए। इसी प्रकार घाव त्रिम विषय पर निबन्ध लिखना बाहू उससे सम्बन्धित पूरे सामग्री पहिले तैयार कर लोबिए, फिर निबन्ध लिखिए।

शैली

निबन्ध-लेखन में शैली का बड़ा महत्व है। घाव घटनी संकलित सामग्री से घटने निबन्ध का शरीर बना मकूठ है, पर यदि उस शरीर में प्राण न हुआ तो वह निर्जीव शरीर किसी काम का न होगा। घाव उस शरीर को शैली के द्वारा ही प्राणवान् बना लहते है। घावको लेखन-शैली त्रिमनी मुन्दर होनी निबन्ध घटना ही शरीर और प्रभावशाली हाम।

शैली के अन्तर्गत हो जायें हैं — सिद्धने का डंग और भाषा । सिद्धने का डंग प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना होता है । पं० रामचन्द्र मट्ट पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक माने जाते हैं । इनमें से पं० रामचन्द्र मट्ट ने अपने निबन्धों में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर कुछ निबन्धों में ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इनकी निबन्ध-लेखन-शैली को विशेषता है । इन्हीं के समकालीन एक निबन्ध-लेखक पं० प्रतापरायण मिश्र ने अपने निबन्धों में हास्य व्यंग्य और विनोद को अधिक स्थान दिया है । वे बड़े-से-बड़े विषय में हास्य और विनोद का सफलतापूर्वक समावेश कर लेते थे । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छोटे-बड़े सभी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं । उनके निबन्धों के उपयुक्त निबन्धों में प्रभावशाली सरल भाषा का प्रयोग हुआ है । बीच-बीच में हास्य का भी स्थान है । इससे द्विवेदी जी के ये सरल निबन्ध भी बड़े मनोरंजक और प्रभावशाली बन गये हैं । पं० रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-शैली शुद्ध साहित्यिक है । भाषा बड़ी प्रभावशाली और उच्चकटि की है, जिससे उनके निबन्ध साधारण निबन्धों की पृष्ठ के बाहर हैं ।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखन की अनेक शैलियाँ हैं ; आप जो शैली पसन्द करें उसमें निबन्ध लिख सकते हैं । पं० जगन्नाथ शर्मा मुन्नेरी और पं० पद्मसिंह शर्मा भी हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक थे । इनमें से मुन्नेरी जी के निबन्धों में व्यंग्य का पुट अधिक है । पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में ठीका व्यंग्य और उच्च-मिथित हिन्दी है । ये ही इनकी लेखन-शैली को विशेषताएँ हैं । आपको निबन्ध-लेखन रुझाने चाहिए जो हो पर ध्यान रखिए कि आप जो निबन्ध लिखें वह प्राणवात् हो । भाषा स्वाभाविक हो । सोच-सोच कर कठिन शब्दों का प्रयोग करने से भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और उसमें प्रवाह नहीं आ पाता । वाक्य छोटे स्पष्ट और प्रभावशाली हों । वाक्यों का क्रम हो । मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा प्रभावशाली बन जाती है । यथास्थान उनका प्रयोग कीजिए । आपको लेखन-शैली में बड़ी सम्मिश्रण भी बड़ी हास्य और विनोद का भी स्थान रहे, पर इसमें भाङ्गान्त न घाना चाहिए । हास्य या विनोद ऐसा हो जिससे हृदय खिल जाय उसमें कुरूपता न घाने पावे । उचित शब्दों का प्रयोग एक कला है । बार-बार के अन्वय से मन को बाध उचित और प्रभावशाली शब्दों में कही जा सकती है । कुछ अच्छे निबन्ध साधारण में पढ़ने पर आप उचित शब्दों का प्रयोग सहज ही सोच सकते हैं । उन्हीं शब्दों का प्रयोग कीजिए, जिसका अर्थ आप समझने हों और जिसे शुद्ध रूप में लिख सकते हों । सुन्दर और प्रभावशाली निबन्ध कठिन शब्दों के प्रयोग से नहीं पर सरल और प्रभावशाली शब्दों के उचित प्रयोग से ही लिखे जा सकते हैं । संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग कीजिए, न उच्च-धरती शब्दों के भोज में पड़िए ।

वाक्य ऐसे हों जो सरलता से समझे जा सकें। साधारण वाक्य हों। ध्वनिक सम्बन्ध वाक्य न लिखना ही अच्छा है। घाप वाक्य-रचना में मुद्दाबतों और सोकोक्तिवों के सिवाय धर्मकारों का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर उन्हीं धर्मकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें घाप छीक तरह से समझते हैं। दूसरे धर्मकारों की भरमार करना भी अच्छा नहीं है। धर्मकारों के प्रयोग से भाषा में सुन्दरता घाटी है, पर इनके ध्वनिक प्रयोग से भाषा अस्वाभाविक और प्रवाहहीन भी बन जाती है। वाक्य रचना में व्याकरण के नियमों का ध्यान रखिए। स्वान-स्वान पर आवश्यकतानुसार अल्प-विराम अथ-विराम पूर्वविराम प्रत्ययवाचक अथ चन्द्र-शेषक शोभन-चिह्न आदि का उचित प्रयोग होना चाहिए।

अपुन्य निरोपताओं को देखते हुए विद्वानों ने निबन्ध-लेखन की निर्माकित चार शैलियाँ निरिचत की हैं —

१. ध्यास शैली

इस शैली के अनुसार निरिचत विषय अथ सरलता से विस्तार में बखन किया जाता है। पृथ निबन्ध छोटे-छोटे वाक्यों में लिखा जाता है और जहाँ तक सम्भव होगा है, सामासिक शब्दों या शब्दावतियों का प्रयोग नहीं किया जाता। इस शैली में प्रायः बखन-कारमक और विवरणवाचक निबन्ध लिखे जाते हैं।

२. समास शैली

इस शैली में लिखे निबन्ध संक्षिप्त सूत्रबद्ध और सरल होते हैं। स्वान-स्वान पर सामासिक शब्दों एवं शब्दावतियों का उचित प्रयोग भी किया जाता है।

३. बिन्दु शैली

यह निबन्ध-लेखन की भाव-प्रधान शैली है। इसमें मानव-हृदय में उठनेवासी सम्बद्ध तथा असम्बद्ध भावनाओं को एकत्र कर निबन्ध-लेखक भाषा में एकठा स्थापित करने का प्रयत्न करता है। आचारमक निबन्ध इसी शैली में लिखना उचित होता है।

४. धारा शैली

इस शैली में विषय का निरूपण आक्यक अंश से अंश के साथ किया जाता है। सम्पूर्ण निबन्ध में एक प्रवाह दिखाई देता है। विचारमक निबन्धों की यही शैली होती है।

निबन्धों के प्रकार

निबन्ध सामान्यतः चार प्रकार के होते हैं। वर्णनात्मक विवरणवाचक विचारमक और आचारमक।

शैली के अन्तर्गत हो जाते हैं — लिखने का ढंग और भाषा । लिखने का ढंग प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना होता है । प० बालकृष्ण मट्ट वं महावीरप्रसाद द्विवेदी और प० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक माने जाते हैं । इनमें से प० बालकृष्ण मट्ट ने अपने निबन्धों में अस्फुट शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर कुछ निबन्धों में प्राचीन शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इनकी निबन्ध-लेखन-शैली को विशेषता है । हिन्दी के समकालीन एक निबन्ध-लेखक वं प्रतापनारायण मिश्र ने अपने निबन्धों में हास्य व्यंग्य और विनोद को अधिक स्वागत किया है । वे बड़े-से-बड़े विषय में हास्य और विनोद का सफलतापूर्वक समावेश कर लेते थे । प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छोटे-बड़े सभी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं । उनके विद्यालयों के उपयुक्त निबन्धों में प्रभावशाली सरल भाषा का प्रयोग हुआ है । बीच-बीच में हास्य का भी स्वागत है । इसके द्विवेदी जी के से सरल निबन्ध भी बड़े मनोरंजक और प्रभावशाली बन गये हैं । प० रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-शैली शुद्ध साहित्यिक है । भाषा बड़ी प्रभावशाली और उष्णकोटि की है, जिससे उनके निबन्ध साधारण विद्यार्थियों की पहुँच के बाहर हैं ।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखन की अनेक शैलियाँ हैं । आप जो शैली पसन्द करें उसमें निबन्ध लिख सकते हैं । प० बालकृष्ण मट्टा पुणेरी और प० परसिंह शर्मा भी हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक थे । इनमें से पुणेरी जी के निबन्धों में व्यंग्य का पुट अधिक है । प० परसिंह शर्मा के निबन्धों में टीका व्यंग्य और उद्धृ-मिश्रित हिन्दी है । मैं ही इनकी लेखन-शैली को विशेषताएँ हैं । आपको निबन्ध-लेखन शुरू चाहे जो हो पर ध्यान रखिए कि आप जो निबन्ध लिखें वह प्राणवान् हो । भाषा स्वामाधिक हो । सोच-सोच कर कठिन शब्दों का प्रयोग करने से भाषा अस्वामाधिक हो जाती है और उसमें प्रवाह नहीं आ पाता । वाक्य छोटे स्पष्ट और प्रभावशाली हों । वाक्यों का क्रम हो । मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा प्रभावशाली बन जाती है । यथास्वागत समका प्रयोग कीजिए । आपको लेखन-शैली में जहाँ सम्भव हो वहाँ हास्य और विनोद का भी स्वागत रहे, पर इसमें भोजनपत्र न घाना चाहिए । हास्य या विनोद ऐसा हो जिससे हृदय खिल जाय उसमें सुरूपता न घाने पावे । उचित शब्दों का प्रयोग एक कला है । बार-बार के अन्वय से मन को बात उचित और प्रभावशाली शब्दों में कही जा सकती है । कुछ अच्छे निबन्ध सावधानी से पढ़ लेने पर आप उचित शब्दों का प्रयोग सहज हो सोच सकते हैं । उन्ही शब्दों का प्रयोग कीजिए, जिसका अर्थ आप समझने हों और जिसे शब्द रूप में लिख सकते हों । शुद्ध और प्रभावशाली निबन्ध कठिन शब्दों के प्रयोग से नहीं पर सरल और प्रभावशाली शब्दों के उचित प्रयोग से ही लिखे जा सकते हैं । संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग कीजिए, न अनु-स्मरणी शब्दों के मोड़ में पड़िए ।

वाक्य ऐसे हों जो सरलता से समझे जा सकें। साधारण वाक्य हों। प्रबिक समझे वाक्य न लिखना ही अच्छा है। भाषा वाक्य-रचना में मुहावरों और लोकोक्तियों के सिवाय धर्मकारों का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर जन्हीं धर्मकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें भाषा ठीक तरह से समझते हैं। दूसरे धर्मकारों की धरमार करना भी अच्छा नहीं है। धर्मकारों के प्रयोग से भाषा में सुन्दरता घाती है पर इनके प्रबिक प्रयोग से भाषा धर्मात्मिक और प्रबाहलीन भी बन जाती है। वाक्य रचना में व्याकरण के नियमों का ध्यान रखिए। स्वान-स्वान पर धावरवक्तानुधार धर्म-विराम धर्म-विराम पृथिविराम प्ररगवाचक धर्म बन्ध-बोधक बोधन-बिन्दु धादि का उचित प्रयोग होना चाहिए।

उपयुक्त विरोपताओं को देखते हुए विद्वानों ने निबन्ध-लेखन की निम्नांकित धार शैलियाँ निरिचत की हैं —

१. न्यास शैली

इस शैली के धनुमार निरिचत विषय का सरलता से विस्तार में बर्णन क्रिया जाता है। मूख निबन्ध छोटे-छोटे वाक्यों में लिखा जाता है और जहाँ तक सम्भव होगा, सामासिक शब्दों या शब्दावलियों का प्रयोग नहीं क्रिया जाता। इस शैली में प्राय बर्णन वारमक और विवरणात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं।

२. समास शैली

इस शैली में लिखे निबन्ध संक्षिप्त सुन्दर और सरल होते हैं। स्वान-स्वान पर सामासिक शब्दों एवं शब्दावलियों का उचित प्रयोग भी क्रिया जाता है।

३. विच्छेन शैली

यह निबन्ध-लेखन की मात्र प्रथम शैली है। इसमें मानव-हृदय में उठनेवाली सम्बन्ध तथा धर्मबन्ध भावनाओं को एकत्र कर निबन्ध-लेखक धार्मों में एकठा स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भावात्मक निबन्ध इसी शैली में लिखना उचित होगा है।

४. धारा शैली

इस शैली में विषय का निरूपण धारमक ढंग से धेन के साथ क्रिया जाता है। सम्पूर्ण निबन्ध में एक प्रबाह दिखाई देता है। विचारमक निबन्धों की यही शैली होती है।

धेन-धों के प्रकार

निबन्ध सामान्यतः धार प्रकार के होते हैं। बलगात्मक विवरणात्मक विचारमक धीर भावात्मक।

१ बयानात्मक निबन्ध (Descriptive)

किसी वस्तु, दूरय स्थान समारोह, मेमें घोर यात्रा के बखान पर लिखे निबन्धों का स्थान बयानात्मक निबन्धों के अन्तर्गत है। इस प्रकार के निबन्धों में बयान की ही प्रधानता होती है। इसीलिए ये बयानात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस श्रेणी के निबन्धों में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता। सबसे घोर वास्तविक वर्णन ही इन निबन्धों की विशेषता है। बयान इस रूप से किया जाए कि पढ़नेवाले के सामने घातकी बनिष्ठ वस्तु या दूरय का वास्तविक चित्र ही उपस्थित हो जाए। पढ़नेवाला यह अनुभव करे कि वह स्वयं घातकी बनिष्ठ वस्तु या दूरय देख रहा है। ऐसा निबन्ध सभी घातक लिख सकते हैं जब कि वह वस्तु, दूरय या घटना सचमुच ही घातने देखी हो। ऐसे निबन्ध कभी कल्पना के सहारे नहीं लिखने चाहिए। घातका कल्पना के सहारे लिखा निबन्ध कभी भी स्वाभाविक घोर प्रभावपूख नहीं होगा।

२ विवरणात्मक (Narrative) निबन्ध

किसी बटित घटना देखा हुआ स्थान घातक कहानी जीवन चरित्र किसी ऐतिहासिक घटना प्रकथा स्वीकारों पर लिखे निबन्ध इस श्रेणी के निबन्धों में आते हैं। इन निबन्धों में बयान नहीं पर विवरण होता है। इसीलिए ये विवरणात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार के निबन्ध सिकटे समय क्रम-क्रम पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। किसी घटना या स्थान का विवरण देते समय जो बातें पहिल हुई हों या जो पहिले देखा गया हो उसका विवरण पहिले घोर उसके परचात् की बातों का विवरण उसके परचात् क्रम से देना चाहिए।

घातक-कहानी घोर जीवन-चरित्र दोनों ही चरित्र प्रधान निबन्ध होते हैं। घातक कहानी में उस कहानी का चरित्र-नायक स्वयं घातने मुख से घपना जीवन-चरित्र कहता जीवन में बटित घटनाएँ कथभाता घोर इस प्रकार घपना पूख परिचय बूतरो को देता है। घातक-कहानी निर्जीव वस्तुओं की भी होती है यथा कलम लकड़ार, चन्की पुस्तक समाचार-पत्र गरी पबल मोटर वाड़ी आदि। घातक-कहानी-सेवक निर्बिष्ठ वस्तु की अगम विकास घोर उपभोगिता से सम्बन्धित बातें घपने ज्ञान घोर अनुभव के आधार पर वस्तु की घोर से कहता है। कुछ बड़े भोग भी अपनी जीवन-कहानी अपनी कलम से लिखते हैं, जिसे घातक-कथा कहते हैं। महारत्ना यात्री डा राजेन्द्र प्रसाद पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि ने घातक-कथा के रूप में घपना जीवन-परिचय अपनी कलम से लिखा है। यदि घात घपने जो महापुरुष बना सकें तो घात भी बड़े होने पर घातक-कथा लिख सकते हैं। महापुरुषों-द्वारा लिखी गई ऐसी घातक-कथाएँ अन्धों के लिए अनुकरणीय होती हैं। महापुरुषों पर भोज-निन्दा घोर भोक-प्रशंसा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसीलिए ये स्वलिखित घातक-कथा में घपने जीवन से सम्बन्धित सभी

घण्टी और बुते बाते निर्भवतापूर्वक कह देते हैं। भाग्यो घण्टी ऐसी घातकता लिखनी नहीं है पर कुछ कौमोपयोगी वस्तुओं की घातकताही अवरम लिखनी है। इस प्रकार की घातक-कहानी लिखने में घातक सेहन-सैली का बड़ा महत्व है। घाय जिस वस्तु की घातक-कहानी कहना चाहते हों वह इस ढंग से कह शोचिए कि मुझे बाले मृत्य हो जाएँ।

३ विचारारमक या विवेचनारमक (Reflective) निबन्ध

किन्नी वितेय विषय पर निम्ने गये विचारपूख निबन्ध विचारारमक निबन्ध कहलाते हैं। मरत, घाहिया बह्यचय स्वाभियाण यष्टुवेबा मित्रभयिता सराधार अनुशासन घादि विषयों पर निम्ने गय निबन्ध हकी कोटि के निर्बंध होंगे। ऐसे निबन्ध दो प्रकार के होते हैं—विरलेपकारमक और घातोचनात्मक। यदि घाय घयने निबन्धों में इन विषयों का केवल विरलेपक करेगे तो वह विरलेपकारमक निबन्ध होगा पर यदि विरलेपक करने के साथ ही घाय उनके मुन-सोपों पर भी घयने विचार व्यक्त करेता वह घातोचनात्मक निबन्ध होगा। यथा “मरतता” विषय पर निबन्ध लिखते हुए, मरतता की परिभाषा मरतता का स्वरूप मरतता को प्राप्त करने बाले महापुरुषों क उदाहरण सरतता पर विभिन्न विद्वानों क मग सरतता के निर्बद्धि मे लाभ निर्बद्धि न करने से हानि घादि बनताएँमे तो घायका यह विरलेपकारमक निबन्ध होगा पर इन विषय को घाधार बनाकर घाय किन्नी व्यक्ति समाज या देठ को घासाचना करेये या मरतता पर व्यक्त किए मय विभिन्न मर्तों के पक्ष या विपक्ष में घयना मठ व्यक्त करेये ता घायका निबन्ध घातोचनात्मक होगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के भाद-विबाद या एक घयका प्रचलित लोकोक्तिपों में निद्रिग लभ्य पर निद्रि निबन्ध भी विचारारमक निबन्धों का यछा में ही घाएँगे। ये निबन्ध घ्रास सैली और ममाम शीनो बालों में निखे का मफते हैं। विवेरो की तथा बाधू श्यामकुन्दरदास न इस प्रकार क निबन्ध ब्याम शीनो में तथा घाघाय शुवन जो न घनास सैली में लिख है।

४ भावारमक (Emotional) निबन्ध

ये मग में उठनबालो घावतापों को प्रकट करन बाले निबन्ध होते हैं। हमारे हृदय में मुख कुछ हूय विषाद श्लेष पूजा घादि के कोमय कठार, मबुर प्रयथा कइबे भाव उठने रहते हैं। भावार्मक निबन्धों में इन्ही भावों का एक प्रवाह हागा है। मन्मीर विचारों और चिन्ताओं मे पूख या बिनन मे पूख निबन्धों का इनमें स्थान नहीं होगा। मन्क कनो-कमी ऐसे निबन्धों क निबन्ध में बरतना मे भी काम नेता है। बर्षनात्मक वा सम्बन्ध देठ मे विरलेपकारमक वा काय मे विचारारमक वा एक से घोर भावार्मक वा सम्बन्ध घ्राय हृदय मे होना है। पध्यारक पूराविहू तथा विषोदाहरि मे घनेक मुन्दर भावार्मक निबन्ध लिखे है। इन प्रकार के निबन्ध घ्राय घाय सैली और विषय सैली में लिखे बाते हैं।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का विकास

हिन्दी-निबन्ध प्राबुद्धिक युग की रीत है। इस युग का भारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल से होता है। यहाँ हम हिन्दी के निबन्ध-साहित्य के विकास को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं— भारतेन्दु युग द्वितीय युग और वर्तमान युग।

भारतेन्दु-युग

हिन्दी-युग-साहित्य की अन्य शाखाओं की तरह निबन्ध का जन्म भी बन्धु हरिश्चन्द्र के हाथ ही हुआ है। उन्होंने उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में अनेक निबन्ध लिखे और उनके हाथ अपने काल के साहित्यकारों का ध्यान निबन्ध-लेखन की ओर आकर्षित किया। सपीत छात्र एक अक्षुब्ध अथवा स्वल्प लुप्त सूर्योदय धारि धापके प्रसिद्ध निबन्ध है। इस युग के अन्य निबन्धकारों में प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण मट्ट बरौतीनारायण चौधरी धारि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनमें प मिश्र की ने देह की स्थिति हिन्दी-शब्दार्थ समाज-सुधार धारि विषयों से सम्बन्धित अनेक निबन्ध लिखे। उन्होंने केवल निबन्ध-लेखन की दृष्टि से ही 'बाइबल' नामक पत्र निकाला। इस पत्र में अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए। हास्य और व्यंग्य का पुट मिश्रजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने निबन्धों में मुहावरों और लोकोक्तिओं का बहुत अधिक प्रयोग किया है। धापके सभी निबन्ध अत्यन्त आक्षेपक और हृदय पर प्रभाव डालने वाले हैं।

पंडित बालकृष्ण मट्ट सम्भवतः इस युग के सर्वप्रथम निबन्धकार हैं। विषयों की विविधता की दृष्टि से ही नहीं बरन् विषय-विवेचन मर्यादा-प्रभाव साहित्यिकता धारि की दृष्टि से भी मट्ट जी ने बड़ सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। धापके निबन्धों में हास्य और व्यंग्य के साथ ही मुहावरों और लोकोक्तिओं का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। उन्होंने अपने निबन्धों में हिन्दी के साथ उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। इससे उनके निबन्ध समीक्ष और प्रभावशाली होने के साथ ही बड़ पुष्ट बन गये हैं। "हिन्दी-प्रदीप" में धापके प्रमुख निबन्ध संकलित हैं। भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों में हमें मिश्रजी और मट्ट जी के निबन्धों में ही निबन्ध का वास्तविक और शुद्ध रूप देखने की मिलता है।

उत्तमप्रताप बरौतीनारायण चौधरी इस युग के तीसरे प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। धापके बहुत कम निबन्ध लिखे हैं पर जो लिखे हैं, वे विषय-व्यतिरिक्त की दृष्टि से बहुत पुष्ट हैं। निबन्धों की भाषा विरल और उल्लेखनीय की है। यह युग समाज-सुधार का युग था और देश में राजनीतिक बेतला कम पकड़ती जा रही थी। यही कारण है कि इस युग के निबन्धों पर हमें इन दोन प्रकार के धान्दोलनों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

द्विबेदी-युग

निबन्ध-साहित्य का द्वितीय उत्थान पंडित महाश्वरप्रसाद द्विवेदी के काल से आरम्भ होता है। द्विवेदी जो ने हिन्दी में मौलिक निबन्धों की रचना करने के साथ ही अंग्रेजी और मराठी के सुन्दर निबन्धों के हिन्दी अनुवाद कर अपने काल के निबन्धकारों का मार्ग-प्रदर्शन किया है। उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में अपने तथा दूसरे लेखकों के निबन्ध प्रकाशित कर निबन्ध-साहित्य के विकास में जो योग दिया वह बहुत मूल्यवान् है। साहित्य-सीकर, रसज्ञ-रंजन साहित्य-सन्दर्भ आदि भाषा के निबन्धों का संकलन है।

इस युग के धर्म निबन्धकारों में पंडित माधवप्रसाद मिश्र बालमुकुन्द गुप्त चन्द्रवर शर्मा गुप्तरी अम्भापक पूर्णसिंह बाबू गुलाबराय और बाबू श्यामसुन्दरदास का स्थान महत्वपूर्ण है। इनमें से माधवप्रसाद मिश्र न धार्मिक विषयों का सिद्धार्थ देश-प्रेम तथा हिन्दू पक्ष-स्योहारों पर भी प्रबल निबन्ध लिखे हैं। उनके धार्मिक निबन्ध लखन-संकेत से पूछे हैं। देश-प्रेम विषयक निबन्धों में उनका प्रथम वैज्ञानिक प्रयत्न हुआ है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त न अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर धारा-रिक्त अनेक उल्लेखों के निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्धों की भाषा समीर और प्रभावशाली है। धार्मिक निबन्ध विनोद-पूछ शैली में लिखे हुए हैं। पंडित चन्द्रवर शर्मा गुप्तरी ने बहुत कम निबन्ध लिखे हैं। किन्तु सभी निबन्ध उल्लेखों के और प्रभावपूर्ण हैं।

अम्भापक पूर्णसिंह ने केवल पाँच निबन्ध लिखे हैं। इन्हीं निबन्धों की उल्लेखता ने उन्हें हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में घमर बना दिया है। मजदूरी और प्रेम मन्थी बीरता धारण की सम्पत्ता न्याय-दान और पवित्रता आदि के निबन्ध हैं। इन निबन्धों को द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध कहा जा सकता है। उन्होंने जिस विषय पर भी निबन्ध लिखा है, वे पूरी तरह जगमें रम गये हैं। उनको निबन्ध-संज्ञान-शैली भावनापूर्ण है। इन निबन्धों को वैयक्तिक निबन्ध कहा जा सकता है।

बाबू गुलाबराय का स्थान द्वितीय काल के ही नहीं पर वर्तमान काल के मा निबन्ध-लेखकों में भी महत्वपूर्ण है। वे धार्मिक अपनी बड़ाबस्ता में भी हिन्दू के निबन्ध-साहित्य के विकास में जो योग देते जा रहे हैं वह परमत्त महत्वपूर्ण है। सभी तक आयेके निबन्धों के अनेक संस्कृत प्रकाशन हो चुके हैं। धार्मिक निबन्ध साहित्यिक हैं जिसमें इनका परम अग्रमन और जीवन का विरासत अनुभव दिखाई देता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक निबन्ध ही धार्मिक लिखे हैं। सभी निबन्ध समीर और विवेकपूर्ण हैं। अंग्रेजी के निबन्ध तथा आलोचना-साहित्य को हिन्दी में आने का प्रयत्न आपने ही है। उल्लेखों की संस्कृत शब्दों से पूछे हिन्दी एवं विवेकनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण बाबू साहब के निबन्धों की विशेषताएँ हैं।

वर्तमान-युग

मारुतेषु युग से प्रारम्भ होने वाला हिन्दी का निबन्ध-साहित्य क्रमशः विकसित होता हुआ वर्तमान काल में अत्यन्त समृद्धिशाली बन गया है। मात्र हिन्दी में सभी विषयों पर अनेक शक्तियों में लिखे हुए उष्णकोटि के निबन्ध प्राप्त हैं। वर्तमान काल का प्रारम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से ही माना जाता चाहिए। सबसे पहले मुसलमानी न ही उष्णकोटि के साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखकर वर्तमान काल के लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया है। भाषा की सुदृढ़ता और उष्णता मुसलमानी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। पश्चिमी निबन्ध अन्धीर और समास-शैली में लिखे हुए हैं। भाषा के द्वारा लिखे गये आलोचनात्मक निबन्धों का भी हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'चिन्तामणि' भाग १ व २ भाषा के निबन्धों के संग्रह हैं।

इस काल के अन्य निबन्धकारों में अग्रगण्य प्रसाद पद्मसिंह शर्मा प्रेमचन्द सूयकाश त्रिपाठी 'निराला' पद्मनाभ पुलनाभ बच्चो हजारीप्रसाद द्विवेदी डा० मनेन्द्र बीनेन्द्रकुमार डा पीरेन्द्र वर्मा मन्मथनारी बाबूदेवी रामकुमार वर्मा विद्यादास शरद गुप्त व विरवनाथप्रसाद मिश्र इलाचन्द्र बोसी शान्तिप्रिय द्विवेदी रामविनाय शर्मा अत्रय वंशप्रसाद पांडेय मासुदेवशरद अग्रवाल शिवराज सिंह चौहान कन्हैयालाल सहस्र विनयमोहन शर्मा आदि हैं। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध प्रसादजी के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। प्रसाद की पहिले कवि हैं और फिर निबन्धकार। यही कारण है कि उनके निबन्धों में जो हमें उनका कवि-रस मिल जाता है। सभी निबन्ध बहुत अध्ययन और विचार पूछ है।

प्रेमचन्दजी के निबन्धों का संग्रह 'कुछ विचार' के नाम से प्रकाशित हुआ है। छोटे-बड़े काव्य मुहावरों से पूछ भाषा और सरलता इनके निबन्धों की विशेषता है। सभी निबन्धों पर अनुभव की गहरी व्याप है। पंडित पद्मसिंह शर्मा के निबन्ध विद्वत्ता के साथ ही सुमधुर से पूर्ण हैं। 'पद्म पराग' शर्मा जी के निबन्धों का संग्रह है। बच्चो जी द्विवेदी मुझ से निबन्ध लिखते थे गहरे हैं। विरव-साहित्य प्रथम-पारिभाष कुछ यात्रा आदि बच्चोजी के निबन्ध-संग्रह हैं। निबन्धों की भाषा में सरलता और प्रसाद है। डा हजारी-प्रसाद द्विवेदी को साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्धकारों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। विद्वत्ता अह्वरमत्ता और भावुकता द्विवेदीजी के निबन्धों की विशेषताएँ हैं। 'घड़ोके के फूल' तथा 'विचार और विद्वत्ता' भाषा के निबन्धों के प्रमुख संकलन हैं। डा० पीरेन्द्र वर्माने हिन्दी-भाषा का साहित्य और भाषा-विज्ञान के सम्बन्धित विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे हैं। 'विचारपाठ' भाषा के निबन्धों का संग्रह है। निराला जी के सभी एक ही निबन्ध-संग्रह प्रबंध प्रभा प्रबंध-वर्णन और वाक्य के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। 'कुछ विचार' और 'बड़ की बात' बीनेन्द्र जी के निबन्धों के संग्रह हैं। डा० रामकुमार वर्मा के सत्तरह निबन्ध विचार-रत्न में संगृहीत हैं।

भाषाय मन्दसुमारे बाबुपेयी को हिन्दी के प्रातःकालात्मक और विवेचनात्मक निबन्धकारों में उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है। 'हिन्दी साहित्य' बीमकों मरी 'घातुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य' 'कुल प्रस्त' बाबुपेयी जी क प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह है। डा० नगेन्द्र न समीक्षात्मक और नाटकीय शैली में अनेक निबन्ध लिखे हैं। विचार और विवेचना तथा 'विचार और अनुभूति' नगेन्द्र जी के समीक्षात्मक शैली में लिखे निबन्धों के संग्रह हैं। 'बापू के म्यात्र मंदिर में' नाटकीय शैली में लिखे निबन्ध हैं। साहित्य-संग्रह सजना तथा विवेचना ओ हलाचन्द्र बोसो क धातुनिकालत्मक निबन्धों क संग्रह है। शांतिप्रिय त्रिवेदी पूर्णतः साहित्यिक निबन्धकार हैं। संचारिणी कवि और काव्य साहित्यिकों सामन्ती युग और साहित्य धारि त्रिवेदी जी के समीक्षात्मक निबन्धों के संग्रह हैं। श्री अश्वमेध ने 'विशंभु' में नैतिक आचार पर कला और साहित्यिक विवेचन करत हुए निबन्ध लिखे हैं। 'प्रमत्ति और परम्परा' तथा 'समृद्धि और साहित्य' डा० रामबिहारी शर्मा क विवेचनात्मक निबन्धों के संग्रह हैं। शिवदान सिंह चौहान के निबन्ध 'प्रमत्तिवाद' तथा 'साहित्य की परक' में रुकलित हैं। सभी निबन्ध प्रगतिवादी दृष्टि संपूठ हैं। श्री महम के आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह 'समीक्षात्मक' 'आलोचना क पत्र पर और समीक्षात्मक' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। डा० बाबुदेवराय अग्रवाल ने भारतीय साहित्य और कला स सम्बन्धित अनेक गहन विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। 'पूर्विका बुध' और 'कल्पवृक्ष' में आपक इती प्रकार के निबन्ध रुकलित है। डा० बिनयमोहन शर्मा के कुछ निबन्ध 'दृष्टिकाम' क नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनक प्रतिरिक्त धार हिन्दी के निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में अनेक ऐसे लेखक काम कर रहे हैं जिनसे पर्याप्त आशाएँ की जा सकती हैं।

छायावादी काव्य-साहित्य

कहा जाता है कि परिचय के "रोमैटिसिज्म" के प्रभाव-स्वरूप सन् १९१० के लगभग "छायावाद" ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और मुकुटवर पांडेय एवं प्रसाद निराला महादेवी वर्मा आदि हिन्दी के सुकवियों का नई-नई रचनाओं के साथ प्रादुर्भाव हुआ। विसम्बर १९२१ की "सरस्वती" में मध्य प्रदेश के प्रतिभाशाली युवक कवि पं. मुकुटवर पांडेय ने अपने "कविता शीघ्र निबन्ध में सर्वप्रथम 'छायावाद' की स्पष्ट व्याख्या की। तब से 'रोमैटिसिज्म' के स्थान पर यह 'मिस्टिसिज्म' का हिन्दी कव्यान्तर समझ जाने लगा और परिष्कारस्वरूप सन् १९३६ के लगभग हिन्दी-काव्य में 'रहस्यवाद' का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ विद्वान् सन् १९१० से १९३६ तक छायावादी युग और इसके परभाव रहस्यवादी युग मानते हैं। आरंभ में हिन्दी के प्राचीन आचार्यों द्वारा इसका विशेष भी हुआ और उनके द्वारा छायावाद को स्वप्नवादाचार 'बलू-कलताचार' आदि कहकर व्यंग्य किया गया किन्तु बल-प्रवाह की तरह छायावादी काव्य-प्रवाह धीरे-धीरे हिन्दी में इस कोटि के काव्य की एक निश्चित और स्पष्ट बाण बन गई। आरम्भ में इस काव्य-बाण का प्रमुख आधार 'वैयक्तिक अभिव्यक्ति' रही पर ज्यों-ज्यों इस बाण का विकास होता गया वह विपद् और वितरक रूप धारण करती गई।

छायावादी काव्य में आरंभ से ही निगूढ़ अभिव्यक्तियों की प्रधानता रही जिससे यह धार्मिक समझ जाने लगा जो एक बड़ी सीमा तक उत्पन्न भी था। कबीर के समान रहस्यवादी कवियों और आदर्शों के समान प्रेममार्गी कवियों ने भी कुछ इसी प्रकार की रहस्यमयी धार्मिक भावनाएँ व्यक्त की हैं किन्तु छायावादी बुद्धिकोण इन कवियों से भिन्न रहा है। यदि लोगों में कोई समझता है, तो वह केवल यही कि लोगों का आकर्षण 'निराकार' की ओर रहा है और लोगों ने दैह-कर्म की विचार-बाणों को विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है। छायावादी काव्य के स्वरूप से ऐसा जान पड़ता है कि इन पर कबीर आपसी उमर लैलाम और तेज सारी का एक साथ प्रभाव पड़ा है और छायावादी कवियों ने इन सबसे प्रेरणा ग्रहण की है, यद्यपि इसका मूलस्रोत यूरोप ही था। धर्मार्थ और धनार्थ की ओर धार्मिक मुकाब होने से छायावादी कवियों का धिन्ना सम्बन्ध धार्मिक विरह और सतही रहस्यमयी वस्तुओं से रहा जतना सम्बन्ध विरह की दूरस्थान वास्तविकता और सम्बन्ध प्रकृतियों से नहीं रहा। तारे, चन्द्र जगत् सम्पत्ता तथा प्रकृति के धर्म रहस्यमय उपकरण ही उनकी रचना के विषय उन्हें उनके प्रियतम' का लक्ष्य देने वाले रहे।

‘छायावाद’ की प्रेरणा परिचय से मिथी की पर वह पारनायक रोमैन्टिसिज्म या मिस्टिसिज्म की अनुकृति मात्र न था। इसका जन्म ‘ट्रिबेरी युग’ में हुआ जब कि हमारे देश में मुबारकाबो छायात्मकता का धोरण या धोरण हिन्दो-काव्य में पौराणिकता की पद्धति क्रियाशील थी। छायावाद ने एक चतुर्मुखी ज्वलन के रूप में हिन्दो-काव्य में प्रवेश किया और काव्य की प्राचीन पद्धति पर आक्रमण कर दिया। परिचय-स्वरूप काव्य-वस्तु, छन्द-विधान रूप-संयोजन शब्द प्रयोग धारि में एक सज्जा नहीं प्रयोग बैसा जाने लगा। श्री बिरबम्मर नाथ उपाध्याय के शब्दों में— प्रकृति के बड़े शरीर में प्राण पुनक भरकर पौराणिक नैतिक मूल्यों में झगड़ित उपस्थित कर, मारी के अक्षरीय सौन्दर्य की स्थापना कर व्यक्तिगत राय-विराग अन्ध-हास को बायीं दंकर ममानवादी प्रकृति के स्थान पर अन्तर्बुद्धि-निरूपिणी काव्य-प्रतिभा का सृजन कर छायावादी अष्टांगों ने एक नूतन युग का अन्वेषण किया। कुछ समय के पश्चात् ही टैगोर के मानवतावादी दृष्टिकोण का भी हम पर प्रभाव पड़ा और इन कवियों ने जाति-धर्म के गुहार की संकीर्ण मनोवृत्ति प्राचीन इतिहासिक और परम्परागत सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण की अद्वैतता कर असीमित विरह प्रेम के गीत गाने आरम्भ किए।

छायावाद के सम्बन्ध में विभिन्न-विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न-विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किए हैं उननुसार छायावाद काव्य की एक सौम्य विरोध है, जो ईसाई सत्यों के ‘छायावाद’ (Phantasmata) अथवा पारनायक काव्य-क्षेत्र में प्रचलित “प्रतीकवाद” (Symbolism) का अनुकरण है, जिसे सबसे प्रथम बंगाल ने ग्रहण किया और बंगाल से हिन्दी में आया।

डा० लयेन्द्र के अनुसार छायावाद एक विरोध प्रकार की भाव पद्धति है— जीवन के प्रति एक आभारमय दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण नव जीवन के स्वर्णों और कृत्यों पर आधारित है। इसकी प्रकृति अस्तमुखी है जिसका अन्वेषण प्रतीकों द्वारा होता है। श्री शक्तिप्रिय ट्रिबेरी इसे एक दार्शनिक अनुभूति और साहित्य की दृष्टि से एक कला मानते हैं। श्री मंगलप्रसाद पांडेय की दृष्टि में किष्का वस्तु में एक अज्ञात अज्ञान छाया की भाँकी पाता अथवा आरोप करना छायावाद है। आचार्य लन्दुसारे बाबुदेवी तथा मानव प्रकृति के मूलम किन्तु अन्तः सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का मूल ही छायावाद समझते हैं। डा० रामकुमार वर्मा आत्मा और परमात्मा के गुण आधिभास को छायावाद मानते हैं। डा० लयेन्द्र छायावाद को एक अनुभूति विरोध समझते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो छायावाद को समान और प्रकृति पर व्यक्तिवाद प्रतिक्रिया समझते हैं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध छायावादी नवि अक्षर जी के विचार भी उल्लेखनीय हैं। वे कहते हैं— जब कविता के क्षेत्र में बेदना के आचार पर स्वानुभूतिमयी अतिव्यक्ति होने लगे तब हिन्दी में जैसे ‘छायावाद’ के नाम से अभिहित किया गया। इसमें आन्तरिक स्वतन्त्र को पुनक

नवीन शैली स्वतन्त्र जागृय भावि तत्व ने । मोती के भीतर छायी शैली तरलता होती है, शैली हो कांति की तरलता धर्म में जागृय कही जाती है । इस जागृय को संस्कृत में छाया और विचित्रि के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था — छायातरल का प्रकट करने में इसका प्रयोजन हुआ था ।

जब निबरता बेचना को शैली के साथ चिर-जन्म में बाँध देती है तब यह छाया स्पष्ट की अनुभूति सूक्ष्म साम्यतर भाव को व्यक्त करते में समर्थ होती है । ये धारो करते हैं— यह छायावाच मूल में रहस्यवाच नहीं है प्रकृति विस्वासा की छाया या प्रतिबिम्ब है इसलिये काव्यगत व्यंग्यहार में धारो छायावाच की सृष्टि होती है यह सिद्धान्त भी भावक है । छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की मूर्धन्य पर निर्भर करती है । व्यंग्यवाचकता भावविशुद्धता शीघ्रसमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विच्छिन्न छायावाच की विशेषताएँ हैं ।

इससे स्पष्ट है कि छायावाच स्वानुभूति की अभिव्यक्ति विशेष है । महादेवी सभी छायावाच को स्मृत के विच्छिन्न सूक्ष्म की प्रतिक्रिया मानती हैं । उन्होंने अपने 'विशेषनात्मक यज्ञ' में लिखा है— छायावाच तत्त्व प्रकृति के बीच जीवन का उन्मील है । अतः कल्पनाएँ गहराई और विचित्रकपी हैं । इससे प्रसार और महादेवी दोनों का इसे 'स्वानुभूति' पर आधारित मानना स्पष्ट है ।

डा. मंगेश ने अपने विश्लेषण में छायावाच-संबंधी तीन भावितियों का उल्लेख किया है । प्रथम छायावाच और रहस्यवाच में कोई अंतर न मानने के कारण यह कहा जाता है कि छायावाच बोधिक है साधनात्मक नहीं । द्वितीय छायावाच 'रोमैन्टिसिज्म' का ही रूप है । इसमें वास्तविकता यह है कि रोमैन्टिसिज्म धर्म में होनेवाले एक उफान विद्रोह पर आधारित था जब कि छायावाच का धर्म धनकल मर्यादा से हुआ था । तृतीय छायावाच एक शैली मात्र है । इन भावितियों पर प्रकाश डालते हुए डॉक्टर साहब न छायावाच को एक एसी भाव-व्यक्ति बतलाया जो जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण रखती है । यथार्थ में हिन्दी की छायावाचो काव्यवाच भावनात्मक व्यक्तित्ववाच निराशा करना एवं अनन्त प्रेम को लेकर प्रकृति के मानवीकरण के साथ सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करती हुई प्रबलित हुई है । इसके कला-गद्य में हमें अर्थ धर्मकार धारि की मूर्धन्यता वास्तविक रुढ़तावसी और प्रतीकों का प्रयोग विरल रूप से दिखाई देता है । ये विशेषताएँ हमें रोमैन्टिक काव्य में भी मिलती हैं । अतः छायावाच और रोमैन्टिसिज्म में कोई विशेष अंतर मानना अधिक युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता ।

छायावाचो काव्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें यह धर्म काव्य-काराओं से स्पष्ट रूप में पुष्कल दिखाई देता है । प्रकृति-प्रतीक भ्रष्टा और अपाचर लता के प्रति निराशा एवं धारम-समर्पण को आरना भाटी के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण धारि

बसकी ऐसी ही विशेषताएँ हैं। इस काव्य के घनेक स्वानों में हमें प्रकृति परोक्ष सत्ता और नारी के बिनाच एवं धारण्य में धरुणिक समानता रिखाई बेती है। सम्भवत बही रिखरर छायावादी युग के धारंभ में कुछ लोग इस काव्य को बिनाच प्रबान मालते रहे बब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत हो। इतना भवरय है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का प्राय नारी रूप म इतन किया और उतक सौरय धारण्य प्रेम में धरुण को लग्य एवं निमग्न किया। इस प्रकार उन्होंने इन काव्य में व्यक्त जीवन-रशन को सौरय शृङ्गार और प्रेम से पूर्ण व्यक्त किया।

छायावादी को सबसे बड़ी बिसेयता उतका साम्प्रदायिकता से परे होना है। मध्य कालीन मक्ति काव्य उत काल की धारण्यकता की एक पूर्ति हो किन्तु यत्र ती स्वीकार करना ही पड़ेना कि वह किसी सोना तक साम्प्रदायिक भवरय था।

छायावाद मानव भावनाओं के व्यक्तीकरण में कौी बंधन स्वीकार नहीं करता वह बिना किसी सकोच के इन समस्त भावनाओं को व्यक्त कर देना चाहता है बिनाक दुरम बधत् से सम्भव है। वह परंपरागत धार्मिक बिचार-सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करता वह धारमानुमति में ही सौग्य-रशन करता और प्रकृति को बेउन सत्ता से धनुयाचिन होकर धारुण के धविष्ठान में रत होता है। उतकी धरिभरत काव्य-सामयो बिनाच प्रकृति के प्राण से हो रंगगुहोत है। प्रत्येक प्रतिनिधि छायावादी कवि पहले प्रकृति की और धारुण हुमा। उतने उतके धरं-उपाओं का सौर्य इतन किया और उते मानवोम सौर्य को धूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रसाध की के “धरना” और “धरुण” में हम इमी धीन्य का बिधान देखने हैं। उहूने “महर” म मानव-जोवन के बिबिध धरंओं का जोवन-रतों का समग्रय किया और “धारुण” में जोवन को बिबिध धनुमनियों को पूर बिधात के साथ उतारने का प्रयत्न किया है। महारैवी धरुण के छायावादी काव्य को धूमिका पर प्रबलील श्रंभे पर छायावादी बिचारधारा रहस्योन्मुख रिखाई बने लगे और इसके बिधात न हो हिंदी काव्य म छायावाद के परचाय रहस्यवाद की सत्ता स्वारित को।

बैसा कि पूर्ब कहा जा चुका है छायावादी कवियों ने धरुण काव्य के धरिभरत धारुण्य प्रकृति से प्ररत किए हैं किन्तु उतका प्रकृति-बिबिध प्राचीन कवियों को उरु प्रकृति के सौर्य तक हो मोनिन हा कर नही रह बरा उहूने प्रकृति-सौर्य से मानव सौर्य का ठारुण्य स्वारित करने का प्रयत्न किया है। बरुणों को इन धरिभरतों में प्रकृति का मानवीकरण देबिए—

“शान्त रिग्य र्पासना उगवल,
धरुणक धनन्ध, नौरध भूतल,

सैकल शय्या पर दुग्ध घबड़ा, तन्त्रगा गगा, प्रोप्स विरह ।
 झेटी है भान्त, कञ्जान्त निरचल,
 वो वाहा से दूरस्थ तीर—भारा का कुरा कोमल शरीर
 भाक्षिगन करने को अभीर ।”

पद्य पद्यों के 'बादल' का परिचय स्वयं उन्हीं के कवियों में सुनिए—

“हम सागर के घबड़ा हास हैं,
 जल के घूम गमन की पूत ।
 अनिल फन ऊँचा के पदचक्र
 बारिचसन वसुधा के मूल ॥

महादेवी बर्मा की इन पंक्तियों में प्रकृति का मानव प्रोपञ्च से तात्पर्य देखिए—

“स्वन्दन में चिर निस्पन्द वसा
 क्रन्दन में आहत त्रिर्य हँसा
 नयनों में वीपक्ष से अक्षते
 पलकों में निर्मरिणी मबसती ।”

उन्हीं की निम्न पंक्तियों में सर्बकार का स्पष्ट प्रामास देखिए—

‘शून्य नभ पर चमड़ लो तुम्ह-भार-स्ती
 नैरा तम में मपन छा जाती घटा,
 त्रिलर जायी जुगनुओं की पौति भी ।
 जल मुनहले भौंसुओं के हाग-सी
 तब चमक जा खोबनों को सूँवना,
 तड़ित की मुसकान में वह कौन है ?”

“बैयविराजना: प्रायावाद की विशेषता रही है। कवि विरह में भी डेपटा है उसमें 'स्व' अनुभव करता और उन्हीं परिस्थिति मुछर हो उठती है। कवियिनी महादेवी ने अपने को 'तीर भरी दुग्ध की बरणी' कहकर मानव-जीवन की गरबट्टा का विशद किया है। प्रचार जो को 'देवता का प्रवना' भी कवि के हनी 'स्व' की परिस्थिति है।

‘मातो-चित्रण' प्रायावादी कवियों का एक प्रधान विषय रहा है। उन्होंने माती या चित्रण का ज्यों में किया है—गौरव की सचिच्छत्री के रूप में और सौन्दर्य प्रम के सातपथ के प्रापार के रूप में। पद्य प्रचार निरुत्ता और महादेवी ने भी माती के चित्र उद्दिष्ट किए हैं। पद्य के चित्रण में माती का विशेष गौरव और प्रचार के

बिनाउ में तबल सौम्य प्रतिक निरुप है। निरोभात्री का नाटी-बिचय सौन्दर्य की अपिछात्री के रूप में ही प्रतिक हुआ है। उदाहरणाय विष्णुच्छित उदररु देखिए—

तारकमय नय घेया वचन,
शाशकूल कर शशि का नूतन।
मुच्छाहृष्ट अभिराम विद्धा व पितवन सं अपना।
पुलकती आ यमन्त—रञ्जनी ॥

—पन्त

करोलों में हर का मृदु भाव,
प्रबण नयना में प्रिय वताव,
सरल सकिनों में मझाव,
मृदुल अपरा में मधुर दुराय ।

—प्रसाद

मृ सुली एक उच्छ्वास-संग,
विश्वास स्वयं र्धम अंग-अंग,
नग नयनि म आलोक उतर,
कौंग अरों पर धर धर धर ।

—निराला

घायाबाद का केवस अठारह रूप की मायु में पाउ ही मया पर उमने हिन्दी-काव्य का जो सब मुरमित पुन जो ओवन-ओमय और बां नया मानवीय दृष्टिकोण दिया बहु उमरी स्मृति क लिए पर्याप्त है। संक्षिप्त में घायाबाद की रीत इतिवृत्ता एक काव्य क विरुद्ध कहना और घौम्य-मृष्टि है। अपने घाबाद प्रथम पीछनिक दृष्टिकोण के स्वात में सब मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की है। उमने विरव बेरता को अम दिया और मानव-जीवन की मबेदता भावुछता और सौन्दर्य स मनु प्राविष्ठ किया। जो उम पूर्वीवादी संस्कृति का विलोका और पनामनवादी महुते है अज्ञान उम छति रूप में ममभने का प्रयत्न लगी किया। बुज सोमों की दृष्टि में घाया-बाद जनवादी भाषतामा का विरोधी है जब कि घायाबाद के प्रमूय कवि पाउ प्रसार निराला, मझादेवी मरुद मनवतावरुल बर्मा घादि के काव्य म ह्य हरद कन से पनवादी प्रवृत्ति पाउ है। घायाबाद ने अपने मवनापीन ओवन में रोडिआलीन मानव मृगार के विरुद्ध मूम मार पविष्ट मृगार की स्वारता का है।

हिन्दी काव्य में प्रविष्ट ममो घाघों एक के परभाव दुगरी बदरती गई और मदे पुन क काव्य मई आघात उपरिचय हुई। दिना पुग की पुरातनवादिता के घाबर-न

ऊब उठा था और तत्कालीन कवि विशेष कर उच्च कवि-द्वय किसी नवीनता की लोच में था। उसे यह नवीनता 'धामाचार' के रूप में प्राप्त हुई और उसकी स्वीकृति के परभावत् ज्यों ज्यों उसका विकास होता गया प्राचीन काव्य-प्रचाराधीन और परम्परा की समाप्ति होती गई किन्तु काव्य का स्रष्टा भी व्यक्ति होता है और व्यक्ति की सीमाएँ हैं। उन सीमाओं के प्रतिम खोर पर पहुँचने के परभावत् उसका जिन्या-काम समाप्त होगा निश्चित होता है। यही धामाचार का भी हुआ। सन् १९३९ तक सन् १९१८-१९२० की स्थिति बरस चुकी थी भावनाएँ और रचने के साथ वृष्टिकाल भी बरसता था रहा था। नवोन्मेष के इस काल में धामाचारी कवियों का 'व्यक्तिवाद' की सीमा से ही सिमित कर रहना सम्भव न था। धामाचार का ध्यत इसलिए मशु हुआ कि उसमें प्रवृत्ति का समाज या शहर-वास का प्राबल्य धर्मकारों के भार से कविता-कर्मियों का चलना धूमर हो रहा था पर उसका ध्यत इसलिए हुआ कि उसमें नवोत्पन्न परिस्थिति को सम्हालन और उसकी धार्मिकताओं को पूरि करने की क्षमता न थी। व्यक्तिवाद ने धामाचारियों के हृदय से साम्ब्य की भावना का ध्यत कर दिया था जिससे उसका यह धाचार उसके ह्रास से निवतल हुआ था जिस पर वह कल्पना का पंख लया यवन-विहारी बना हुआ था। उसकी धनुभूतियों का मूस्य समाप्त हो चका था। उसके प्रतीक-धनु हो चुके थे। धम धामाचार की नोमसता धार्मिता और कस्सा की समाज को धाव शक्यता न थी। देश की राजनीतिक स्थिति इतवति से बदलती जा रही थी। धम समाज को प्रकृति-सोन्ध्य की तरलता नहीं पर मानव-बोवन-सोन्ध्य की तरलता का धावरक्यता थी। समाज कर्मियों से यह बाधी माँग रहा था जिसमें शपितों और पीड़ितों की धाकाबाध बोलती है और जिसमें वह ज्ञाना प्रज्वलित है जिसमें शक्ति शीम प्रतिकार और मानवता के धावकारों के तल बोलते हैं। धामाचार यह न वे सका जिससे उसका पतन धनिबार्म हो गया।

डा. प्रमनारायण गुप्त ने अपने 'हिन्दी साहित्य में विविध धार' नामक ग्रन्थ में धामाचारी काव्य की निम्नलिखित धवृत्तियाँ बतलाई हैं

१. सौन्दर्ये भावना

सौन्दर्यविषयक मानवमात्र की स्वाभाविक धवृत्ति है। वह विधी सुन्दर वस्तु का दर्शन करत ही उसका धाव कदन हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करन का प्रयत्न करता है। सामान्य वरक वस्तु का बाह्य सोन्ध्य दर्शन करक ही सन्तुष्ट हो जाता है, पर कवि के लिए उसका धान्तरिक सोन्ध्य ही धावक मूस्यवान होता है। प्रसाद की इता धान्तरिक सोन्ध्य से धनुमाकित हा मह्य का मानवीकरण करत हुए बहते हैं—

उठ उठ री लघु धाव लहर।

कठया की नव अगराई-सी,

मलयानिल की परिझाई सी,
इस सूने तट पर झिंक छहर ।
शीतल कोमल फिर कम्पन-सी,
दुसलित हठिले बचपन सी,
तू खोट कहीं जाता है रो ।

२ शृंगार अथवा प्रेम की भावना

घायाकारी कवि शृंगार प्रकवा प्रेम की भावना से धमिमूठ होकर अपने पत्नीकिक प्रेमपात्र को खोज में संलग्न दिखाई देता है । इसी भावना से प्रभावित होकर पंथ जो करते हैं—

ठङ्कित-भा सुमुखि । तुम्हारा ब्यान ।
प्रमा के पक्षर मार, उर पीर
गूह गर्जन कर अब गभीर,
मुझे करता है अधिक अचीर,
अगुनुओं से उड़ मर प्राण,
खावसे हैं तब मुझे निदान ।

३ कहवा का विह्वलित

कहवा मानव-हृदय को महान् विह्वलित है । इसको उपस्थिति में ही उसकी कोमलता उभरना प्रादि बलियों का क्लियासीम हाता सम्भव है । यह कहवा घायाकारी कवियों को भी बीबन-गह्वरी रही है । डा रामशुमारबर्मा प्राकाश को कवय मेर्षों से प्राध्वनत बसकर कह उठते हैं—

मर्षा का यह मंडल अवार,
असमें पड़कर तम एक बार ही
कर उठता है पात्कार ।
य फल फल माग्य अरु
नम क जावन मं सिख हाय ॥

४ प्रकृति प्रियता

'प्रकृति घायाकारी कवियों की विशेष आलम्बन रही है । उन्होंने सदा के विविध प्रतीकों के माध्यम से अपने हृदय को भावनाएँ व्यक्त की हैं । प्राकृतिक प्रतीकों का मानवीकरण घायाकारी काव्य की प्रमुख विशेषता है । कल की एक कला की अस्तित्व विहीन होनी देखते हैं और उनका हृदय मानव जीवन का मरबटाया से विहर उठता है

झर गई कछी, झर गई कछी।
 बल सरित पुलिन पर यह बिकसी,
 उर क सौरभ स सहज बसी,
 सरसा प्रात ही सो बिहँसी,
 र पूष सखिल में गई बसी।

भीमती महादेवी बर्मा का तारा धीर किरणों का मानवीकरण इन पंक्तियों में
 देखिए—

जिस दिन नारय तारों से, बोली किरणों की बलकों
 सो जाओ बलसाह हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकों।

५ जीवन-दर्शन

धारम्य में कुछ धायवादी कवियों का ध्येय 'कमा कमा के लिए मने ही रखा
 हा पर बलिदान धायवादी ध्येय काव्य से जीवन को पुषक नहीं रख सके। इतना
 हो नहीं पर उन्हों ध्येय काव्य-द्वारा मानव जीवन का तथा मूर्खान्त करने का भी
 प्रयास किया है। मानव-जीवन को मायगार्य स्थापित करने का प्रयास किया है और
 जीवन को नई दृष्टि से देखा है। यह धारम्य है कि उनका जीवन-दर्शन दुःख और
 बेदना के भार से ही अधिक प्रभावित रहा। परन्तु वे ने जीवन को सौन्दर्य का
 धारम्य और बिरह मित्र का धारम्य कहा और महादेवीजी ने ध्येय को 'नोर
 नरी दुल की बबली के रूप में प्रस्तुत किया। वे कहती हैं—

मैं नार भरी दुःख का पदली।
 विरतुत नम का काना काना
 मेरा न कर्मी अपना जाना
 परिषय इतना इतिहान यहो
 समझी कल धी, मिट जाऊ बली।

धारम्य की दृष्टि से धायवादी काव्य के दो स्वरूप हैं—शीघ्रगत स्वरूप और
 लयगत स्वरूप। शीघ्रगत स्वरूप में हम धायवादी काव्य में पूष प्रबलित धारम्य
 रक्त में धारम्यित धारम्य एवं मुक्त की प्रतिष्ठा देगते हैं। उनके नियमगत स्वरूप
 हम प्रकृति एवं उसके विविध उपादानों का विशिष्ट प्रयोग पाठ है। उन्होंने प्रकृति
 मुक्त और दुःख रक्तों पद्यों का धारम्य किया है। उन्होंने प्रकृति
 का भी मुक्त प्रकृति से ही प्रकृति को है।

कवि को जो वैयक्तिक भावनाएँ ध्येय प्रचार से उतार लेंगीं तो का सवती को

के प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से बड़ी सुन्दरता से उनके काव्य में व्यक्त हुई है। यहाँ इसका एक विशेषता 'व्यक्तिकता' भी समझी जानी चाहिए।

इसके प्रतिरिक्त गारी के तबीन स्वरूप की प्रवृत्तारुपा प्रजात सत्ता के प्रति प्रारम्भ समकाल की भावना एवं तबीन शैली का प्रयोग इस काव्य-धारा की काव्य विशेषताएँ हैं। इनमें से व्यक्तिकता और गारी के तबीन रूप से संबंधित उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। प्रजात सत्ता के प्रति समकाल की भावना प्रसाव, पंत एवं महादेवी बर्मा की प्रतिक रचनाओं में देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ महादेवी बर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

धीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद भी मरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति की जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रथम में मरा पता पद चिन्ह जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया घरदाग चन्दन में
मृत भी हूँ, कूखहीन प्रवाहिनी भी हूँ।

छायावादी काव्य में जिस व्यक्तिकता की प्रधानता है उसमें हमें वर्तमान से अंतर्गत व्याकुलता जीवन-कठूता कठिनों के प्रति बिरोध मजूर होतीय का स्मरण, सुंदर भविष्य की धारणा धारि दिखाई देती है। इन भावनाओं ने कवि को बहिर्जगत से अलगाव की धार उत्पन्न कर लिया इससे छायावादी काव्य में अन्विति का प्रभाव इतिमोक्ष होने लगा। संभव यही देखकर कुछ लोगो ने छायावादी कवियों पर पश्चात्तवादी होने का आरोप किया है।

छायावादी काव्य का तृतीय पक्ष यह है जिसमें हम मानवता का उच्च संदेश पाते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला जी के 'तुलसीदास' में यह संदेश स्पष्ट स्वरों में सुनाई देता है। छायावादी काव्य के प्रतिक स्वरण ऐसे हैं जहाँ हम मानव समानता विरह-बंधुत्व असाध्यव्यक्तता कल्याण, राष्ट्रीय जागृति धारि की भावनाएँ प्रकृति के माध्यम से देखते हैं। इनका कारण छायावादी काव्य पर विरह कवि रबींद्र का प्रभाव है। एता आगे बढ़ता है कि प्रायः प्रत्येक छायावादी को इन्हीं भावनाओं का विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के परिष्कार-स्वरूप प्रवृत्तारुपा की दिशा में हुआ और पंत की "युगवादी" का उच्च अन्विति छायावादी कवि जन-काव्य की रचना में प्रकृत दिखाई दिये। यहाँ कि पूरा कहा जा चुका है छायावादी काव्य में व्यक्तिकता प्रजात के प्रति अक्षय्य एवं अशरीरी योग्य-निष्ठ की प्रधानता रही है। व्यक्तिकता के अत्यधिक विकास की स्थिति में छायावादी कवि आन्तरिक अनुभूति की धार प्रकृत हुए। उनको इतनी प्रकृति ने हिरो के उदासीनादी काव्य को जन्म दिया।

छायावादी काव्य में भाषा और शब्द-बोझना की नवीनता तो रही ही पर इसके साथ ही नवीन शब्द-बोझना का भी स्वान कम न रहा । इन कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय शब्दों के बंधन लिखित कर उनके स्वान में नई शैली एवं नये शब्दों का प्रयोग किया किन्तु इस प्रयोग में उन्होंने शब्दों की साधारणता का पूरा ध्यान रखा । इस दृष्टि से पंथ और निराशा अपनी नहीं आ सकते हैं । पंथजी ने अपने नवीन शब्दों के प्रयोग में जिस कलात्मक शब्द-व्ययन-शक्ति का परिचय दिया वह निरक्षय ही प्रशंसनीय है । अर्द्ध-वैविध्य की नवीनता में निराशा की प्रथम स्वान दिया आ सकता है । उन्होंने नये-नये मुक्त शब्दों लिखे और उन्हें कवीत के स्वरा से धारण कर अपनी नवीन शब्द प्रयोग-क्षमता के साथ ही संयोजन का भी परिचय दिया । इस छायावादी काव्य को यह साधारणता रूप प्राप्त न होता तो समझत वह लोभ जीवन के माध्य से और भी दूर आ सकता । यदि इस काव्य का विकास "स्व" में केन्द्रित न होकर "सर्व" तक हो पाता तो यह काव्य भी एक बड़ी सीमा तक मध्यकालीन प्रगत कवियों के गीतों-सी समरता प्रभाव आकष्यक और जन-जन-उत्प्रेक्षिता की क्षमता रखने में समर्थ होता ।

भारत में कुछ लोगों ने छायावादी काव्य को रीति-भ्रामीन शृङ्गार काव्य का नवीनीकरण कहा पर वास्तव में इन लोगों प्रकार के काव्यों में बहुत अंतर है । शोना काव्य में वैविध्यता की प्रधानता प्रचर्य है पर वही रीतिकासीन शृङ्गार-काव्य में मानव की वास्तवमयी दिग्ग प्रकृति विहित हुई है वही छायावादी काव्य में मानव की आध्यात्मिक भावना की ही अभिव्यक्ति मिलती है । हमारे रीतिकासीन काव्य में जीवन बरतन का प्रभाव है पर छायावादी काव्य मानव जीवन के विविध पहलुओं पर अपनी दृष्टि से सम्यक प्रकाश डालने में समर्थ है । व्यापक अनुभूति हृदय स्पष्ट करनेवाले कलात्मक-विद्य संगीतमय शब्द-विधान और भावबन्धनी भाषा छायावादी काव्य की विशेषताएँ हैं ।

छायावादी काव्य में निहित आध्यात्मिकता कम पर नहीं यद्यपि मानवीय और सांस्कृतिक भूमि पर स्थित है । छायावादी का आध्यात्मिक कम-मूलक नहीं पर तोत्वर मूलक है । इस तोत्वर के प्रकाश में अनुप्राणित होकर ही समीप प्रेम धमीन होकर समूह चेतन और एक बन्धु तक व्याप्त हो जाता है । यही प्रकृति का प्रथम व्यापार है जिसे हम छायावादी काव्य के स्वान में देखने हैं ।

हिंदी के विद्वानों ने निम्न-निम्न प्रकार से रहस्यवाद की परिभाषा कर उसके स्वरूप का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। पं. रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में निम्न के श्लोक में जो प्रवृत्तभाव है वही भाव के श्लोक में रहस्यवाद है।

कबीर के रहस्यवाद के श्लोक डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "रहस्यवाद जीवार्थों की बहु धर्मनिहित प्रकृति का प्रकाशन है जिसमें बहु विषय धार्मिक शक्ति से अपना शक्ति व निरस्त सम्बन्ध छोड़ना चाहती है और बहु सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में धमिप्रता हो जाती है।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय कहते हैं कि 'रहस्यवाद हृदय को बहु विषय अनुभूति है, जिसके भाषावश में प्राचीन धर्मों समीप और पाश्चिम धर्मिष्ठ में उस अतीत एवं अपाश्चिम महा धर्मिष्ठ के साथ एकारमकता का अनुभव करने लगता है। सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कविनी महादेवी वर्मा रहस्यानुभूति में बुद्धि के ज्ञेय का ही हृदय का प्रेम हो जाना मानती हैं। वे "निबेधकारमक गद्य में लिखती हैं— 'जब प्रकृति की अनेकरूपता में और परि वर्तनीय विविधताओं में कवि ने एक ऐसी ठारतम्य शोभने का प्रयत्न किया जिसका एक ओर किसी शैली और दूसरी ओर सही हृदय में समाया हुआ था उस प्रकृति का एक-एक प्रसंग एक धार्मिक व्यक्तित्व सफर जाय उठा परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी व्यास न बुझ सके क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में अनुभवप्रति धारम-व्यवहार का भाव जब तक नहीं जुल जाता तब तक व सरल नहीं हो पाते इसी से हम अनेक कथा के कारण कुल पर एक मधुसूदन व्यक्तित्व धारण कर उसके निश्चय धारमनिवेदन करने लगे हैं। यही साक्षात्कार है। साक्षात्कारी को रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद नाम दिया गया।

श्रीमती वर्मा का इस कथन के अनुसार रहस्यवाद साक्षात्कार का द्वितीय सोपान है। श्री नामचरित्रिह भी इसे साक्षात्कारी कविता की प्रकृति विरोध मानते हैं। हिन्दी के रहस्यवादी कविता ने रहस्यवाद का लुप्तपाठ वेद से बतसाया और उपनिषद् शैवामम सिद्ध कबीर, नामदी धारि की रचना में उसके बरतन किए। साक्षात् रामचंद्र शुक्ल रहस्यवादी काव्य-परम्परा को धारमतीय मानते हैं। 'रहस्यवादी भावना' वास्तव में 'परोक्ष निजामा' है। जब कवि जो प्रत्यक्ष नहीं है जसका रहस्य जानने को उत्सुक हो उठता है - एक परोक्ष रहस्य को जानने को धानुर हो जाता है, तब उसका काव्य रहस्योन्मुख ममम्भ जाता है। पत्र को "प्रथम रश्मि और "मोक्ष निम्बल महादेवी वर्मा की—

"जब अतीत से हो जाया मेरी लघु साम्राज्य का मेस।

देरोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल ॥

तथा प्रसार की—

“शशि मुख पर घूँपट डाले,
अबल में दाप छिपाये
नीधन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आय,”

पंक्तियों में कवि को यही जिज्ञासा उत्पन्नता चानुरता और रहस्य—माधना व्यक्त हुई है ।

उपनृत्य विचक्षण से यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद में हृदय की भावना ही सर्वोपरि है अथ रहस्यवादी कवि का सर्वसर्व ज्ञान नहीं पर हृदय हा रहता है । वह एक विद्वान् वाशतिक की तरह ज्ञान का अक्षय्य से तन्त्र-विनय के ताप-बान नहीं बुनता पर हृदय की भावुकता का अक्षय्य से घपने चरम सत्य—“प्रिय विमल” की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है । उसकी यह विमल आकाशा कभी उसकी चरनाओं में कभी उसकी विरह-विह्वलता में और कभी अमर सयोग-मुक्त के उन्माद में व्यक्त होती जान पड़ती है । जहाँ तक शिन्धी के रहस्यवादी काव्य का सम्बन्ध है क्या वा मकता है कि जहाँ आभावाव की सीमा समाप्त होती है, वही से रहस्यवाद की सीमा आरम्भ होती है । प्रिय और प्रिया एक-दूसरे का विषय नहीं सह सकत । एक आत्मा अपने प्रिय ब्रह्म से विभूतने का अनुभव करती है तब वह उसे जाने को तड़प उठती है । पयोहा मय के लिए, बकोर चंद्रमा के लिए और चकई बकने के लिए तड़प उठता है । उसकी इस तड़प में प्रणय की प्रत्या हीनो है और वह प्रत्य प्रत्या प्रिय और प्रिया को एक दूसरे से विमले और एक-दूसरे में समा पाल—एक-दूसरे पर मिट जान को प्रयोर करती रहती है । अब यह सौंदर्य मय प्रणय प्रत्या स्पृह आसम्भना में सम्बन्धित होती है तब वह वायना को जन्म देती है किन्तु अब वह स्तब्ध से ऊपर उठकर मूढ आसम्भन का आशय प्रकृत कर अग्रसर होती तब वह आध्यात्मिक स्वरूप आरम्भ कर लेती है । इस शक्ति में हमी स्थिति को घईतवाद कहा है । इस स्थिति में प्रिय-प्रिया आत्मा और ब्रह्म की मिश्रता का अस्त हो जाता है । यही रहस्यवादी भावमूर्ति है । यही घईतवाद जायना के लेश में रहस्यवाद कहलाता है । काव्य की दृष्टि में आत्मा और ब्रह्म की अन्वयानिर्घात ही रहस्यवाद है । आत्मा और ब्रह्म की यह विलन-स्वति ही आत्म स्थिति है । इस आत्म की अनुभूति ही जोष का परम सत्य है ।

जोष की यह आत्मगानुभूति की स्थिति सहना प्राप्त नहीं जाती उसे साधना के विभिन्न सोपानों से हाथ हुए इस अस्थिम मोहन पर पहुँचना पड़ता है । आत्मा इस साधना का सोपान है । साधक इस विरह की निश्चिन्त नियमा में नियंत्रित होता हुआ परिचालित देवता है । वह प्रकृति के किन्ना-जमाओं में एक व्यक्तता और नियम बढना देवता है पर उसे कोई एता व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता जो इस व्यक्तता

का संवाचन करता है। वह वह इस दूरपमान् जगत् से परे किसी ध्युरय शक्ति के प्रति ध्यात्वा उत्पन्न करता है। इस ध्यात्वा के उत्पन्न होने पर वह समस्त ब्रह्म-चेतन में उसी ध्युरय सत्ता का प्रसार देखता है और उसको ध्यात्वा और भा वृद्ध हो जाती है। वह वा उठता है—

“तुम्हा वा खब सध्या आझोक,
हँस रहे ये सुम परिचम ओर।”

यह जीव का अपने प्रियतम से पथन परिचय है। यद्यपि वह प्रियतम का धामान पाकर उससे और अधिकाधिक बिभ्रता जाता है। अपने ध्यापको उसके चरणों में धपित कर देना चाहता है और सर्वत्र के लिए उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना चाहता है। यह “सम्बन्ध-स्थापन” की आनुरता साधना का तृतीय सोपान है। साधक सांसारिक प्राणी है। उसका संसार के निम्न प्राणियों से विभिन्न रूपों में सम्बन्ध है। वह किसी का पिता किसी का पुत्र और किसी का पति है। उसका जितके प्रति सर्वाधिक धनुराग है उनको के स्वान में वह अपने परम प्रियतम को रख कर उसके प्रति धनुराग व्यक्त करता है। यही कारण है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में से किसी ने उसे पिता किसी ने पति और किसी ने प्रिया मानकर उसके प्रति धनुराग व्यक्त किया और उसमें समा जाने की व्यपत्ता प्रदर्शित की है।

“होँ सित्त, आओ वौह खस ह्म, खगकर गले जुड़ा लें प्राण,
किर तुम सम में, मैं प्रियतम में, हा जाँवें तुन अतधान।”

—पद्म

“हम विभ्रत रहस्यवादी साधना का तृतीय सोपान है। सम्बन्ध-स्थापन के परधान् साधक उनका रूप-बिम्बन में लग जाता है। बिम्बु वह तो पश्य” है। फिर उसका रूप-बिम्बन कैसा? वह प्रक्य है इगीतिए समझाया है। इस ब्रह्म-चेतनमय बसन्तु की प्रत्येक बसन्तु प्रत्येक ध्युरय-परमाणु में उसका रूप प्रतिभाषित है। साधक ध्यान मानस पर उसको रूप-रस्य प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न करता और उनका वरान करना चाहता है। पर वह उनके रूप रस्य में लक्षण महा हो जाता। वह बार-बार प्रक्य करना और बार-बार ध्युराग होता है। यह ध्युरागना उसके ध्युरय में बिरहानुमूर्ति को बरम देती है। यही बिरहानुमूर्ति साधक की साधना का चतुर्थ सोपान है। यद्यपि महादेवी इसी बिरहानुमूर्ति से व्यपित होकर कहती है—

“जो तुम आ जाते एक धार—
झिनी कहना कितन मरिदा
पथ में बिद्ध जाते धन पराग।

गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा सम्माद राग ।
आँसू लेते थे पग पखार ॥”

बहु विरहानुभूति-रम्य विह्वलता साधक की साधना का जगुण घोषण है। इस घोषण पर पग रख साधक अपने 'प्रिय' से मिलने को विह्वल हो जाता है। उसको यह विह्वलता सतरोत्तर बढ़ती ही जाती है। वह अपनी कल्पना का सम्भ्रम अपने प्रियतम को मैत्रता चाहता है पर भेजे कहीं? वह तो साधता है। उस साधता का पटा लगाना भी उसके लिए सम्भव नहीं है। वह कभी भ्रमर को घोर कभी वनुरिक भ्रमण करने वाले वामु को धपना इत बग़ा उसी के द्वारा धपना सम्भ्रम - धपनी विरह-काउपणा— धपनी कल्पना के स्वर धपने प्रियतम तक पहुँचाने का प्रयत्न करणा घोर उससे साहस कहते—

‘जग की सजस्र काखिमा रवनी में मुख-चंद्र दिखा जाओ,
प्रेम बेणु को स्वर-साहरी में जावन गात सुना जाओ ॥’

— प्रसाद

विरह विह्वलता का प्रसन्न 'मिसन' में होता है जो साधक का धर्मिक सक्षय है। साधक की बहु बाह निरामा जो को इन पंक्तिमें से बैखिए—

“आस नहीं है मुझ और कुछ चाह,
अर्ध बिकच इस हृदय-कमल में आ तु
प्रिये! झाड़कर सधनमय छंदोंकी छोटा राह ॥”

मिलन-स्थिति में साधक घोर साम्य दो होते हुए भी एक होते हैं वे मिल होने हुए भी अलग होते हैं। महादेवो भी ने इन पंक्तिमें म गरी साधना व्यस्त की है—

“बीन मा हूँ, मैं तुम्हारी रागिनी भा हूँ ।
दूर तुमसे है, अलखंड सुहागिनी भी हूँ ॥”

हिन्दी-काव्य में ज्ञायावाद और रहस्यवाद

त्रिवेदी युग का समाप्ति के पूर्व ही उड़ी बोनी के कुछ कवि तत्कालीन काव्य में परिवर्तन की साधककला का अनुभव करने लगे थे। वे कल्पना के सहारे उमे तथा रूप प्रदान करना चाहते थे। प्रकृतियों को स्वयंता जनता दर्शय था। वामु मीमिलोत्तरण मुत्त मुहुटवर पांडेय घोर बद्रीनाथ मट्ट ऐम कविने में प्रमुख थे। मुत्तबी को 'अस्र लिंगाठ' घनुरोक मुत्तजनि घोर स्वयं धागत रचनाएँ इसी दिशा की तंत्रण-वर्तित थीं। मुत्त की म पुष्पांजलि में कहा—

“मेरे आंगन का एकपू ल ।

मौभाग्य भाव से मिखा हुआ, खासोच्छ्वास से झिखा हुआ, ससार घिटप में खिखा हुआ कड़ पड़ा अज्ञानक भूख-मूत ।”
 ओ मुकुटवर ओ न मध्यमाल की बनस्पती में बड़ हो कहा—

“मेरे लाधन की छयु सरणी,
 आँखों के पानी में तर जा ।
 मेरे उर में छिपा खजाना,
 अहकार का भाव पुराना,
 बना मुझे तू आज दिवाना,
 तन रखत यूँ में ठर जा ।”

श्री बटोगाव की भट्ट बोले—

दे रहा वीपक जलकर फूला,
 रोपी उन्मथल ममा पताका अघकार हिय हुआ ।”

प्रथम और द्वितीय कविता की रचना सं १९७४ में और तृतीय रचना इसके बाद
 थप पूव हुई थी । इस स्पष्ट है कि तत्कालीन कवि सं १९७० से ही नई दिशा का
 संकेत करने लगे थे । ये अब एक घोर अगत और जीवन के विस्तृत क्षेत्र का अन्तर्गत
 रिखाई देनवासे प्रकृति के विभिन्न तर्पों में व्याप्त शोच्य को चित्रमयी भाषा में व्यक्त
 करना चाहते थे और इसी घोर उपासना के क्षेत्र में एकदलीय भावना के स्थापन पर
 रहस्यात्मक सामग्री भावना की प्रतिष्ठा करना चाहते थे । छायावाद के जन्म के पूर्व
 भी हिन्दी-काव्य में नवीन और मार्मिक विषयों का समावेश होता जा रहा था पर इन
 विषयों के व्यन्तीकरण में नई दृष्टि का प्रभाव था । मुकुटवर और पाण्य जी ने विरोधा
 का भय त्याग इन प्रभाव को दूर करने का संकल्प लिया और काव्यात्मिकता को
 एक नई दृष्टि प्रदान करने की दिशा में प्रयास आरम्भ किया । इसी समय बंगला में
 रवि बाबू का पारंपार्य काव्यात्मिकता की रहस्यात्मक दृष्टि सिए गीत भावे और दोड़े ही
 दिनों में जनका प्रभाव तकियापी हो गया । हिन्दी के कवि भी इन गीतों और उनमें
 निहित धर्मिभ्यंजना के प्रभावविशेष न रह सके । रवि बाबू की ये रचनाएँ ‘छायावादी’
 रचनाओं के नाम से सम्बोधित की जाने लगी । इसी अनुक्रम पर हिन्दी कवियों ने भी
 अपनी नवीन रचनाओं को यही नाम दिया । बाबू मैथिलीशरण गुप्त मुकुटवर पंडित
 धारि कवियों द्वारा लिखी काव्य का विनाश किम विना में हो रहा था जसमे यह
 छायावादी दिशा मित्र थी । इनमें अग्रगुणियों की व्यंजना तो थी पर इसमें बरतु विन्यास
 की निर्गुणता और अविश्वंजना का सापेक्षिक वैविध्य ही प्रभाव था । यह काव्य
 साहित्यिक जगत् में मित्र था । इसे उत्तरवारी काव्य का प्रारंभिक रूप था ।

हिन्दो में यह रहस्यवादी काव्यधारा बार-बार कर्णों में व्यक्त हुई है—त्रिज्ञासा-मूषक
श्रीश्वय-मूषक विरहानुमूर्ति-मूषक और ताशराम्य-मूषक ।

त्रिज्ञासा-मूषक रहस्यवाद में कवि के सामने सबसे एक प्रश्न निह्व रखा है धीरे-
धीरे सज्जन के रहस्य को जानने की अनिमाया व्यक्त की है । सराहरखार्थ ये पंक्तियाँ
देखिए—

हे, अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकवा ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका सो,
मार बिचार न सह सकवा ॥
—प्रसाद

विरह के पलका पर सुकुमार,
- यिचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने मन्त्रों से कौन
सँदिरा मुझे भेजता यौन ?
—पन्त

भवनि अन्धर की गूढ़ली सीप में,
तरल माती-सा जलपि खख कौपता ।
धैरते धन मृदुल हिम के पुञ्ज में—
अ्यात्ना के रजस पारावार में,
सुरभि धन जो धपकियों दसा मुझे
नीद के उष्णवास-सा यह कौन है ?
—महादप

श्रीश्वय-मूषक रहस्यवाद में कवि ने श्रव्य प्रकृत को बस्तुओं में उठ पात शौन्दर्य
रसि का रसत रिया है या प्रकृति का मानवाकरण कर उसके शौन्दर्य का विव्रम
क्रिया है । यथा—

“भूमियों का दिग्गन्त दविजाल,
व्योति घुम्पित जगदी, का माल ।”
—पन्त
“रूपसि ! तेरा धन केश पारा ।”
—महादयी

विरहानुमूढि-मूलक रहस्यवाद में कवि अपने को प्रेमती घोर उक्त घनत्व को अपना प्रेमी मान उसके विरह में ठकपटा है। उतकी इस ठकपट में धारमा घोर परमात्मा को विरहानुमूढि होती है—

“अखि कैसें उनको पाऊँ ?

ब आँसु बनकर मेरे, इस कारण दुख-दुख जाते,
इन पलकों के बगल में, मैं बौध-बौध पलताऊँ ॥”

—महादेवी

वाचान्म-मूलक रहस्यवाद में धारमा घोर परमात्मा की—प्रेमी घोर प्रेमती की बलिपत्रा मिट जाती है—

“समस्त य जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।

चेतनता एक बिसमती आत्म बखर बना था ॥”

—प्रसाद

“तुम मुझ में प्रिय, फिर परिचय क्या ?

य-रोम में नन्दन पुत्रकित,

सौंस-सौंस में जीवन रात रात,

स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित ॥”

—महादेवी

एक रहस्यवाद का काम हुआ घोर बलियों की रहस्यवादी कविताएँ सामने धारीं, तब धारम में प्राचीनतावादियों के लिए यह एक समाज था। वे इनका प्रभाव उठाने में ही धारम जाती थे। उक्त समय एक कवि ने कथ प्रसाद घोर विराता का बजाफ पडाते हुन लिखा था—

“वन्त प्रमाउ विराता की जब,

बजता है पैसवियों।

तब धान्त का धोर बसो—

जाता दिन्दी की हुनियों ॥”

विशु इन कविता का अपनी नावनामा के पूर्व विरवात था। वे अपने नीती को धारम पर विरवात करते थे। ब का यह विरवात महादेवी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ—

“मैं अनन्त पद में लिखती जो,

सुस्मित सपनों की बालें।

बनको कभी न सो पायेंगा,
अपने आँसू से रातें ॥”

वह कभी अपने प्रियतम को धूमिल बन-सा भाठा देखती थीर कभी ठम के परदे में
बसकी प्रतिष्ठा करती—

“रजत रश्मियों की छाया में,
धूमिल बन-सा वह आता ।”

×

×

×

“मेरे प्रियतम को भाता है,
तम के परदे में आना ।”

धीरे-धीरे प्रियतम का स्वप्न-दशक रहस्यवादी कवियों का प्रमूढ आशय
बन गया । स्वप्न इन रहस्यवादियों के लिए बरदान बन गया और व उसी मात-भूमि में
विचरण करने लगे—

“वह सपना बन आता,
ताम्रति में जाता छोट ।”

महादेवी ने इस भावना में बहकर बगल सुन्दर नीव सिध है । प्रथम रहस्यवादी
कवि भी प्रियतम रोमराते हो उससे प्रीति-मिथोनी करते रहे—

“है स्पर्श मलय के म्लिखल-सा,
सजा को और सुखाता है,
पुलकित हो आँसू वन्द किय,
तन्द्रा का पास सुखावा है ।
भाड़ा है यह चबल कितनी,
विध्रम स पूँषट सीप रहा,
द्विपन पर स्वय मृदुल कर से,
क्यों मरी आँसू सीप रहा ॥”

प्रसाद को वे पंक्तिवाँ प्रथम रहस्यवादी कवि कबीर के उन भावा की पीठक है
जिनमें ब्रह्मरूप में अद्वैत बगल नाद और परजनकामे मेधा का चित्रण है । इस प्रकार
की भावनाएँ रहस्यवादियों के आत्मन का काव्य बन जाती हैं । आशय शुद्ध में अपने
काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक में लिखा है धर्मिण्डु या बुँबली मन्त्र का भावना
में भी एक प्रकार का आत्मन हीना है जो स्तिग्न विस्मय या धर्मिण्डु प उदरन करता
है । वने कुहरे या जाली के बीच कियो क रूप-माधुय की हृदयो-ती मन्त्र मात्र पाकर

हम बेचन उल्लुक् होने । इसी असुक्रता की वृत्त प्रेरणा से उक्तका रूप निविष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी ।

उस काल के रूस्ववारी कवियों ने बाह्य वाक्य में अपने धार्मिक वाक्य का प्रचार देखा है । इन प्रकार उन्होंने बाह्य प्रकृति में ध्यान स्व की प्रतिष्ठा की धीर इसी को परम भेदना के नाम से सम्बोधित किया । प्रचार को के शब्दों में यह विरह मुंढरी प्रकृति में प्रेयता का धारण वा किन्तु रूस्ववारी कवि प्रकृति धीर मानव-वचन की सार्थकता अपने ध्यान में न मान उक्त वाक्य में मानते थे जो उनके लिए 'धनस्त' वा धीर विमर्श की धीर न उक्ति करते थे । रूस्ववारीयों की यही मानना पद्य की इन वक्तियों में व्यक्त हुई है—

‘पकिल जावन में पंढव सा,
शामित आप दह सं ऊपर ।
वही सत्य ओ आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आह्वार ॥
अतः स्वकीया या परक या,
जन-समाज की है परिमाया ।
काम-मुक्त औ मोति-मुक्त,
होगी मनुष्यता मुक्तका आरा ॥’

हिन्दी के काव्य-साहित्य में रूस्ववारी एक ऐतिहासिक महत्व रखता है । इसी प्राचीन विचार-वृत्ति के स्वान पर एक नया वृत्तियोग प्रदान किया धीर मानव-वचन को विरह्य धीर एक प्रसीन वातावरण दिया । इसने मानव के 'स्व' का विस्तार समस्त प्रकृति धीर प्रकृति से परे विरह्य तक किया धीर विरह्य मानवतावाच की प्रतिष्ठा की । दूर्य वाक्य के स्पून उपकरणों में जीवन-मन्य की सुखमता वैश्वे की वृत्ति की धीर मानव-वचनवृत्तियों का सुख मनोवैज्ञानिक विरह्य किया । इन प्रकार अपने काव्य में जीवन के मोक्षिक तर्कों धीर तर्कों की प्रति-वर्षित को किन्तु "रूस्ववारी" वास्तव में रूस्ववारी वा धीर उसकी धारणी भीमार्थों थी । अपने जीवन के गूढ़ रहस्यों को समझना वा महाना वा पर मह सवशक-मुक्त न था । जीवन धीर वचन की सम्स्याओं का हल अपने सम्भव न था । रूस्ववारी ने मानव जीवन के रहस्यों का उद्घाटन कर स्वयं उसे रूस्ववारी बना दिया । रूस्ववारीयों ने परम सत्य की प्रज्ञात बतनाया धीर उनके प्रज्ञात स्वभाव में ही प्राप्ति प्रयुक्त किया—

‘शून्य मरा जन्म था, अपमान है मुक्तको सचेरा,
प्राण आहुत क लिए, मगा मिहा फपस अचेरा ।

मिलत का मत नाम ले मैं बिग्द में बिर हूँ ।”

× × ×

“तुमको पाया मैं ढूँढा, तुममें ढूँढूंगा पीड़ा,
रहने दो प्यासी आँसू, भरती आँसू के सागर ।”

रहस्यवादी कवि को बिर-बिग्द और पीड़ा में प्रियतम को ढूँढन व धामन्द मिल सकता था किन्तु सामान्य जन के लिए यह सम्भव न था । परिणाम-स्वरूप यह काव्य-भारा एक सीमित क्षेत्र में ही सिमट कर रह सके और जन युग को कोई ऐसी बात न दे सके जो उसे शक्ति सम्प्रेषण या उत्थान की ओर ध्यानर करता या उद्योग-विकास और सामाजिक संघर्ष के दिनों में उसे मार्ग-प्रदर्शन कर सकता । अतः इसका जो बहो स्थिति हुई जो इसके पूरे धाराधार को हुई जो ।

बादो समाज की व्यवस्था करना चाहता है। बहु ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जिनमें समान विचारधारा, समान धार्मिकता, समान प्रयत्न, समान सुख भोग, समान समतादिभार और समान सुख मुक्तिपाएँ उत्पन्न हों। इन प्रकार का समाज ही प्रगतिवादी समाज होगा।

इन प्रकार के समाज की स्थापना के लिए बय-संघर्ष को धर्मिक को धर्मिकीय प्रवृत्तित रचना आवश्यक है। जहाँ मरप नहीं है—शोषित बय शोषकों से मरमोप है वहाँ शोषित बय को श्रेष्ठता और प्रस्था प्रशान कर सबद्वारा कृति के लिए तैयार किया जाता आवश्यक है। इन संघर्ष को ठह में धर्मिकी का शोषण करनेवाले पूजोवति हो नहीं पर ले र्दह पुणेहिण पुजारो मौसरो, पायरा धरि भा है जो जवना का धर्म श्रद्धा और धर्म-विरहास कुछ धम माननाधों से अनुचित साम उठाने में संलग्न हैं। वे राक्षनीतिक नेता भी हैं जो पूजोवादिनों की मत्ता धरुवण बनाने रखने में ही लोका-कल्याण देखते हैं और पूजोवादी शासन व्यवस्था के समर्थक हैं। प्रगतिवाद इन सबका विरोधी है। यहाँ जो साहित्य प्रतिक्रियावादी पूजोवादी प्रवृत्ति मनोवृत्ति और व्यवस्था का विरोधी है वही प्रगतिवादी साहित्य है।

जैसा कि पूर कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी विचारधारा मूलतः कासमाकम के द्वैतारमक वस्तुवाद (Dialectical Materialism) पर आधारित है। सत्रयम मूलतः में 'आपवकिक' शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया जाता था जिसके द्वारा दो परस्पर विरोधी विचारधारा के बिना शास्त्राव के द्वारा किसी एक निश्चित मध्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। एक दूसरे बिना हीम ने इस शब्द का प्रयोग उस पद्धति के लिए किया जिसके द्वारा उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन के विद्यमान को समझा जा सकता था। होमेल के विचार को प्रमुखता देकर बाइबल जयन् का जमी का प्रत्यक्षीकरण मानते थे। उन्होंने इस सिद्धांत के अनुसार एक निरलेख ब्रह्म को भी कल्पना की थी। मार्क्स ने हीमेल के उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन का सिद्धांत स्वीकार कर बिना हिन्दु उद्यमे उनको निरलेख ब्रह्म को कल्पना स्वीकार न की। इनके साथ ही जगते हीमेल के विपरीत विचार का प्रमुखता न है बाइबल जयन् को ही प्रमुखता दो। मार्क्स का मत था कि इतिहास की व्याख्या निरलेख ब्रह्म के आधार पर नहीं पर धार्मिक आधार पर हो गमन है। कर्ल मार्क्स को इन धारणा के पूर एक जमान विज्ञान आधारक हीमेल क सिद्धांत के विपरीत भौतिकवाद के सिद्धांत को जन्म दे सका था। उनमें मण्ड के विकास में प्रवृत्ति प्रशास को प्रथम स्थान दिया और मनुष्य को प्राकृतिक विकास की हो एक इतना धारित किया। जगत मनुष्य को जगत रूप में एक ऐसा प्राणा मानता है जिसमें काताकरण को बहन देन को उद्योग है। मार्क्स को विचारधारा वास्तव में हीमेल और बाइबल के कथन के विरुद्ध प्रस्ता का एक समर्थक

की। इसमें हीयल की इन्द्रात्मक प्रचाली और वायरवाय के प्रकृतिवाद का सम्बन्ध था। हीयेल और वायरवाय के सिद्धांतों में 'वय-संघर्ष' का कोई स्थान न था। मानस में वय-संघर्ष का सिद्धांत वास्तु द्वारा ही ब्रह्मत्व क्रिया। वास्तु द्वारा का मत था कि सम्बन्ध के साथ ही संपत्ति और शोषक और शोषित का जन्म और विकास हुआ। इससे वय-संघर्ष की भावना का जन्म हुआ। उसका मत था कि ब्रह्म वेद के अर्थ और शासन के सूत्र परीचो के द्वारा ये ही दो सदैव के लिए युद्ध की संभावना का संत होना।

मार्क्स के मतानुसार संसार में दो प्रकार के पक्ष हैं—स्वीकारात्मक और नकारात्मक। इन दोनों तरफों के संघर्ष का नाम ही बोवण है जिसका आकार वस्तु (Matter) है। दोनों विरोधी तरफ वस्तु में स्थित हो निरंतर संघर्ष-रत रहते हैं। इसी से चेतना का जन्म होता है। यह चेतना इन्द्रात्मक होती है। इसी आकार पर मार्क्स मानस के इस सिद्धांत को इन्द्रात्मक चैतिकवाद कहा गया है।

मानव-विकास के इतिहास के अनुसार मनुष्य आरम्भ में साम्प्रदायी अथवा समाजवादी था। समाज का प्रत्येक व्यक्ति वस्तु-संपत्ति का काम करता था जो उस संपत्ति पर सबका समान अधिकार होता था। विकास के साथ मनुष्य क्रमशः पशुगत स्वयं के धारि बनते गए और इसी के साथ जन्म अन्तर्गत व्यवहार की भावना आयी। इसी भावना ने संघर्ष का जन्म दिया। मनुष्य क्रमशः समय से सम्बन्ध बनता गया और इसमें वय-संघर्ष की भावना भी बढ़ती गयी। क्रमशः राजा का जन्म हुआ और उसके विस्तार के लिए युद्ध आरम्भ हुए। विजयी सामक बने और विजित सामिन। इस प्रकार एक और अर्थ की स्थापितता के आधार पर और दूसरी और सातत सत्ता के आधार पर मानव-समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। इन दोनों वर्गों के संघर्ष पर ही मार्क्स का इन्द्रात्मक चैतिकवाद आधारित था। बड़े बड़े प्रमुख रूप में प्रवृत्तिवाद का मूल आधार है। मानस को इस विचारधारा के अनुसार आज संसार के समस्त राष्ट्र भी दो वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग धार्मिक विपत्ति अथवा वय-संघर्ष का जन्म कर संसार में साम्प्रदायी समाज व्यवस्था को जन्म देना चाहता है और दूसरा वर्ग दूसरी-वार समाज व्यवस्था के द्वारा वय-संघर्ष का शून्यता का प्रयत्न बनाए रखना चाहता है। इन प्रथम वर्ग को एक बड़ी सीमा तक मानसवादी वर्ग भी कह सकते हैं। इस विचारधारा का समर्थक और प्रचारक साहित्य है "अवनिवादी साहित्य" है।

प्रवृत्तिवाद के मूलाधार

प्रवृत्तिवाद के अन्तर्गत हम जन्म या वर्गों के संघर्ष हैं। प्रवृत्तिवाद बोवण के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो सत्ता वैज्ञानिक है। द्वितीय वर्ग वर्ग को इस लक्ष्य विषयवस्तुओं का आधार मानता है और इसके समान विभाजन पर ही बन देना है।

गुनीय प्रगतिवादी का दृष्टिकोण वृष्टात् मीथिकवाद पर आधारित है। उसका ईश्वर धारणा धार्मिक दार्शनिक भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। बहुत-बहुत पूज्यवाद साम्राज्यवाद धार्मिक प्रतिक्रियावाद ताकों को ध्वस्त कर समाजवाद की स्थापना करना ही उसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह प्रतिक्रियावादी ताकों से निमित्त प्रपञ्च धारण से स्व नैतिक नार्मिक सामाजिक राजनीतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं का विरोध करता धावरमक समझता है। प्रथम बहु-वक्ता की धर्मिभ्यक्ति का एक सामन मान मानता है और साहित्य में उसका सरलतम रूप धननाम पर बल देता है। पद्य साहित्य में बहु-समाज की विरोध महत्व प्रदान करता है और धर्मिभक्ति पर उसके निपटण की धावरमकता धनुषध करता है।

प्रगतिवादी साहित्य का अन्त और विकास

प्रगतिवादी साहित्य का अन्त सन् १९७७ में हुआ जबकि मार्नेति न "मन्धिध्वज" नामक एक नवीन विचारधारा को अन्त दिया। उसने कहा कि संसार धर एक नये रूप में परिवर्तित हो चुका है। सामाजिक व्यवस्था-सम्बन्धी मामूलाएँ बदल चुकी हैं। धन उसके साहित्य की सामूलाएँ धपरिवर्तित नहीं रही का सन्धी। उसके मूख्य धोर मापदंड म भी नवीन दृष्टिकोण धावरमक है। उसने कविधारा विचारों का ही विरोध नहीं किया पर साहित्यिक परम्पराधा म भी धमूतपूर्व परिवर्तन की धोपना कर दी। धनों को मूलतः भंग कर दी गयी और ध्याकरण के नियमों को तिलाजमि से धी। उसने कहा कि धर धन्य धोर कमल म धौर्य धतन न कर धनों में विधा जाना चाहिए। उसने इस विचारधारा से साहित्य की प्राचीन मामूलाओं के स्थान पर नई सामूलाएँ स्थापित होन मगी। कुछ समय के पश्चात् मार्नेति का धर्मिध्वज धी विचारधाराओं में विधनन हो गया। एक विचारधारा के धनुसार वर्तमान मानन समाज ध धर्मिध्वज-रत्न का सिद्धांत स्थिर हुआ और दूसरी विचारधारा मानन-महत्तावाद का प्रतिधान करने मगी।

सन् १९९९ में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के पश्चात् धर से आरशाही का धन हो गया और उसके स्थान पर माकसवादी बोमरोविक दल की सत्ता स्थापित हो गयी। इस समय तक काव्य में रूप को ही धधिक महत्व दिया जाता था किन्तु इसके पश्चात् ही कवी काव्य रणत् में बधाधवाद का अन्त हुआ। धी साहित्य में प्रगतिवाद की प्रधानता थी। उस की स्थिति का विरध पर धहरा प्रमाण पया। इस में कवी सत्ता स्थापित हुई थी जिससे उसे सोकप्रिय बनाया धावरमक था। कवी के साहित्यिकों ने माकसवादी बोमरोविकम की धपने साहित्य का मूलाधार बना स्थान धा न्य किया। इस साहित्य ने सामान्य जनता के हृदय में धनसत्ता धाप्त करने की धर्मिध्वि धपन थी। कवी साहित्य धर धार्मिक धीधन्य धूर कर धगहीन धनाज की स्थापना की

भाषनापी का प्रचार होने लगा । सन् १९१२ के समयमें वही साहित्यकारों पर प्रति बन्ध लगा दिया गया । वे धर्मिकों में कल्पि की भावना जागृत करना चाहते थे । उन्होंने साहित्य में एक इस नये बाद को जन्म दिया जो सामाजिक सभास्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है । मात्स्यवादी विचारवादा इस बाद के प्रथम अनुकूल को धरा वही साहित्य कार इसी बाद के प्रचार में लग गये ।

इसी समय वही शासन ने देश के आर्थिक बिकास के लिए कुछ योजनाएँ बनायीं और साहित्यकारों से इन योजनाओं को लोकप्रिय बनाने में योग देने का आग्रह किया । साहित्यकारों के विभिन्न संघ इन योजनाओं के प्रचार में लग गये । धर्म्य प्रकार का साहित्य-संजन निषिद्ध हो गया ।

सन् १९११ के पश्चात् अंग्रेजी साहित्य में भी मात्स्यवादी विचारवादा का प्रवेश हो गया । वहाँ के कवि उच्चवर्गीय जनता के मनोरंजन के लिए साहित्य का निर्माण न कर जन-सामान्य के जीवन से सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करने लगे । उन्होंने पूर्वोक्त शोषण के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराया और धर्मिकों में विद्रोहात्मक मनीषा जागृत की ।

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद

सन् १९१६ की वही कल्पि से भारत भी प्रभावित न रह सका । एक और अंग्रेजी शासन का हमलकर हीरो मन्त्रि थे बूम रहा या और बूमपी और यहाँ का पूर्वोक्त वही इस धर्मिकों के शोषण में निरत था । नपाव के उच्चवर्ग के सामाजिक प्रत्याचार निम्नवर्ग पर पृथक् पृथक् चम रहे थे । यहाँ के साहित्यकारों से यह स्थिति छिपी न थी और वे सामान्य जनता की शान्तियों पूर्वीपदियों एवं समाज और धर्म के ठेकेदारों के प्रत्याचारों से मुक्त जन के लिए चिन्तित थे । सन् १९२० में कुछ भारतीय लक्ष्यों में यही साम्यवादी दल की स्थापना की और उसके मात्स्यवादी विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया । हिन्दी साहित्य-साहित्य आवाचार और रहस्यवाद की भावनाओं को लेकर धार्मिक बड़ रहा था । इस दाली साहित्य-वादा का आचार अक्षयवाद का धर्म यह काव्यवादा मात्स्यवादी विचारवादा न चलकल न थी । मात्स्यवादी साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव में लक्ष्मीन कवि और साहित्यकार प्रभावित होकर सगे और हिन्दी-साहित्य में नये विचारवादा का आभाम मिलन लगा । १९१५ में प्रगतिशील मन्त्र-मन्त्र की स्थापना हुई और इनका प्रथम अधिवेशन वही धूम-धाम से अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार ई एम फरेस्टर की अध्यक्षता में पैरिस में हुआ । बूमरे कप डाक्टर मुस्कुराव धार्मिक तथा लक्ष्मीन कवि के प्रदान में भारतीय प्रगतिशील मन्त्र-मन्त्र स्थापित हुआ और इसका प्रथम अधिवेशन काव्य प्रमथान की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ । प्रमथान की नये धर्म्य साहित्य-वादा भारत में बढ़ा—

“हमारी कसौटी पर बही साहित्य खर उतरेगा जिसमें सच्च बिलत हो स्वाधीनता का मान हो सौख्य का सार हो सूत्रन की भासा हो जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति सचप घोर बेचैनी पदा करे, सुसाये गही क्योंकि घब घोर ब्यादा सोना मृत्यु का सचन है ।

बामु प्रेमचन्द गांधीवादी से आदर्शोन्मुख मर्यादवादी बन गये और हिन्दी के अन्य साहित्यकार उनके अनुकरण पर साहित्य सृजन करने लगे । सन् १९३५ में प्रगतिशील सेकड़ संघ का द्वितीय परिषदेशन डा रबोखलाच की अध्यक्षता में हुआ । इसी वर्ष भी सुमिचानरथ पत्र घोर मरैत्र शर्मा ने बालाजीकर से “कृपात्र” नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया और इसमें प्रगतिवादी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं । इसके पश्चात् काशी के ‘हंस’ ने प्रगतिवादी दल अपनाया और सन् १९४१ में श्री शिवराम सिंह चौहान के ‘हंस’ के सम्पादक होने पर वह पूर्णरूपेण प्रगतिवादी पत्र बन गया । इसी समय पन्त जी की “मुपवाणी” प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर प्रकाशित हुई और पन्त जी ने घोषणा की—

रखत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शासन ।

पूर्वावाद निरासी है होन को आज समापन ॥

पन्त जी आरम्भ से ही एक प्रतिनिधि कवि रहे हैं । साम्राज्य घोर रहस्यवाद के पश्चात् पन्त जी ही एक प्रगतिवादी कवि के रूप में सबसे प्रथम हिन्दी काव्य क्षेत्र में आये और अन्य कवि जन्ही के पत्र-प्रकाशन में विकसित हुए । पन्त जी ने कहा

आस सत्य शिव सुन्दर केवल धर्मों में है सामित ।

ऊर्ध्व मूल सत्त्वति को होना अधोमूल है निश्चित ॥

कवि न धाम देवता को प्रणाम करते हुए कहा—

गम गम—

हे प्रान्ध दवता, यथा नाम, ।

शिष्य हो तुम, मैं शिष्य तुम्हें सविनय प्रणाम ।

विजया, महुआ लाड़ा गाँजा पी मुषह शाम,

सुम समाधिन्ध र म रहा तुम्हें जग सं न काम ।

पहित पेट, आम्हा, मुन्धिया आर साधु मन्त

द्विपलात रहत तुम्हें स्वर्ग अपवग पाय ।

पन्त जी को ‘ग्राम्या’ ग्राम के विविध रूपों को प्रतिबिम्बित करने हैं । नती समय जन्मो ज्यन्ति भी-कन में सम्बन्धित अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई । पन्त जी अत्यन्त बलु प्रगतिवादी कवियों के लिए एक पाठरप बन पड़ी और उन्होंने कन को

ही समस्त शोषित जनता का भाता भाग लिया । श्री नरेन्द्र शर्मा ने कम के शत्रुओं को मानवता का शत्रु घोषित किया —

साक्षर रूप का दुश्मन मायाी दुश्मन सब इंसानों का ।
दुश्मन है सब मजदूरों का दुश्मन सभी किसानों का ॥

नरेन्द्र शर्मा की तरह श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा कुछ अन्य कवियों ने भी कम से सम्बन्धित कविताएँ लिखीं । इन रचनाओं में समाज के स्वल्प में परिवर्तन करने की बेरुछा धीर बोध का किन्तु भारतीयता का समयावधान था । ऐसा जान पड़ता था मानों कि हिन्दी के प्रगतिवादी कवि कम के नृक्षयान करने में ही भारत में साम्यवादो साधन स्थापित करने तथा भारतीय किसान मजदूरों का उद्धार करने का स्वल्प बेम रही हों । इन प्रगतिवादी कवियों ने भारतीय भाषनाओं में दीपित सभी वस्तुओं को नयी बुद्धि से देखना प्रारम्भ किया । परन्तु जो ने नारी के सम्बन्ध में कहा कि आधुनिक भारतीय नारी सब कुछ हो सकती है किन्तु वह मापेत्व की जायता में दूर जा नहीं है यथा वह नारी नहीं हो सकती —

तुम सब कुछ हो फूल, लहर, तितली, बिहारी साजारी ।
आधुनिक, तुम नहीं अगर कुछ नहीं सिर्फ तुम नारी ॥

घाये चलकर पल जो ने नारी के प्रति बुद्ध का स्वाभाविक प्रेम होना स्वीकार करते हुए कहा कि बुद्ध का यह प्रेम वा स्वाभाविक है परन्तु कमों नारी के प्रति प्रकट रूप से प्रेम व्यक्त करने का साहस नहीं है क्योंकि उनके प्रेम में पवित्रता का अभाव है इनीतिप्र जने घने हूयम की प्रेम के नाम पर व्यक्त की आनशाही समुचित भावना को बोधनीयता के आवरण में छिपाकर रखा है । ने मनुष्य को विवशित हुए कहते हैं—

धिक र मनुष्य, तुम स्वच्छ स्वच्छ निरक्षर सुम्बन
अक्षिण कर मकत नही प्रिया क अधर्मा पर ?
मन में लज्जित जन से शक्ति सुपक रोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारा स, कायर ।

प्रगतिवादी कवियों को कम प्रति क स्वर अधिक दिनों तक मकरित न रह सके । जनता प्यार मान के हृदयों अमियों प्रामा धीर नेती की धीर आर्क्षित हुआ धीर जगहने प्रगतिवादी बुद्धिरोम से इनकी आत्मसंज्ञता प्रारम्भ की । उनकी रचनाओं में प्रकृति के माध्यम से अनेक सामाजिक विषयताएँ व्यक्त हुईं । इन प्रकार प्रगतिवादी कम में कुछ प्रकृति के सुन्दर चित्र भी चित्रित हुए, किन्तु इन चित्रों के निचय में लोचर्य जनता के स्वात में बुद्धि का ही अधिक माय रहा ।

इसी समय बंगाल में मानवता को मजबूत करने वाला सुवर्णयुग का काल पड़ा जिसने हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों का ध्यान सहसा अपनी ओर आकर्षित किया। अविनाश कवियों ने बंगाल पीढ़ित जनता की दुर्दशा पर करपात्र ही शीघ्र बहामे घोर गहरी संवेदना व्यक्त की। प्रगतिवादियों ने इसे पूर्णबाह का अधिशाप कहा। इस प्रकार नर सिद्धो की कैदारनाथ अथवाल की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

राम से आसिँ न उठती,
रोप से छाती धधकती,
और अपनी दासता का—

शूल उर को छेड़ता है,
बाप बेटा बचता है।

प्रगतिवादी काव्य में भावनाएँ रही प्रेरणाएँ रही किन्तु काव्य शोध का अभाव रहा। 'मुग़लाली' और 'ग्राम्या' पन्त जी की प्रतिनिधि प्रगतिवादी रचनाएँ हैं। इन दोनों कृतियों में प्रगतिवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त ग्राम्य जीवन के विविध चित्र भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से चित्रित हुए हैं। किन्तु इनकी अधिकांश रचनाएँ विचाररत्मक ढंग की होने से उनमें काव्य-सौ सरसता दिखायी नहीं देती। इनमें इन रचनाओं में बुद्धि-पक्ष अधिक और हृदय-पक्ष कम है। कुछ पंक्तियाँ गद्य-सी ही जग पड़ती हैं। स्वरा-भूमि और 'स्वरा-किरण' निरवय ही पन्त जी की अधिकांश सुन्दर काव्य-कृतियाँ हैं। इनमें पन्त जी ने बहुचर्चिता और अल्पचर्चिता का समन्वय बढ़ी सुन्दरता से उपस्थित किया। पन्त जी की प्रगतिवादी रचनाओं में हमें स्वान-स्वान पर सुन्दर सामाजिक व्यंग्य मिलता है। "बिटी के प्रति पन्त जी को एसी ही एक व्यंग्यरत्मक रचना है जिसमें उन्होंने मध्यवर्गीय मारी के जीवन पर व्यंग्य किया है। काव्य की दृष्टि से पन्त जी का 'मुग़लाली' 'ग्राम्या' 'स्वरा-भूमि' और 'स्वरा-किरण' उनके काव्य के प्रगतिवादी विकास के चार अमूल्य उपान मान पड़ते हैं।

पन्त जी के अलावा प्रगतिवादी कवियों में श्री रामचारीरिह 'विनकर' विशेष उल्लेखनीय हैं। विनकर जी की अधिकांश रचनाएँ भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति के चिन्तों से ही पूर्य हैं। वहीं से अतीत भारतीय जीवन का चित्र उपस्थित कर भारतीयों के हृदय में पूर्ण गौरव आगत करने का प्रयत्न करते हैं। वे सहानुभूति व्यक्त करते और शोषण-कृतियों के प्रति रोष व्यक्त करते और बड़ी देश की अल्पोपस्थिति को बदलने के लिए अन्तर्जातीय भावना का आवाहन करते दिखाई देते हैं। विनकर जी की दृष्टि में अन्तर्जातीयता का अर्थ ही कम नहीं है, पर वे राष्ट्रीयता का मुख्य अन्तर्जातीयता से अधिक मानते हैं। वे अपनी अनेक रचनाओं में एक महान् अन्तर्जातीय के रूप में उपस्थित होते हैं किन्तु वे हिमा के समकक्ष नहीं हैं। उदाहरणार्थ

कुरुरूप देखा जा सकता है। बिनकर भी के छात्रों के स्वर बड़े शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण हैं। उनके लक्ष्य रूप का विरोध बोलता है। उदाहरणार्थ उनकी "हिमात्मक के प्रति" रचना की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

तू मौन त्याग कर सिंहनाद
रे तपी भास तप का । कास ।
नवयुग शस्त्र ध्वनि जगा रही
तू जग जग मेर विशाल ॥
मेरा जननी के हिम - किराट,
मेरे भारत के मज्ज भास ।
नवयुग शस्त्रध्वनि जगा रही
जगा नगपति, जगो विशाल ॥

बिनकर को भारतीय प्रगतिवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक है किन्तु राजनीतिक दृष्टि से वे किसी दल विरोध का समर्थन स्वरूप नहीं करते। वे भारतीय राष्ट्रधर्म के प्रबल समर्थक और प्रचारक हैं। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी राष्ट्रियता बड़े प्रबल स्वरों में लिखी है—

सिद्धासन भ्राष्टी करो कि जनता आती है।
हा हाह समय क रथ का घघर नाद सुनो
सिद्धासन धाष्टी करा कि जनता आती है।
सदियों स ठंडा दुर्मी भाग मुगयुगा उठा
मिट्टा मोत का ताज पहन इठलाया है।
हा हाह समय क रथ का घघर नाद सुना
सिद्धासन भ्राष्टी करा कि जनता आती है।

इन पंक्तियों में वे एक विशाल जनवादी बहि के स्वर में उल्लिखित हुए हैं। उनके वाक्य में जनवादिता के वा कप मिलते हैं। एक बार शक्ति और हीन इतिहास जनता की भीखार और दूसरी बार घघर मानवता को हुंकार है। बहि में इन दोनों जनवादी कप का बड़ा महत्त्व प्रतिनिधित्व बिना है।

एक प्रगतिवादी कविता में लक्ष्मी नरेन्द्र शर्मा शिशुवर्णनित्तु मुमन रामेश्वर सुनन "घघर के शरणाव घघरान भारत मुनन घघरान रामेश्वर एघर नरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव नैमिषण्य धन नायानुनु बीरुन घाति मकन है।

श्री नरेन्द्र शर्मा जनता प्रगतिवादी रचनाओं में भाषाविक्रम के प्रति लक्ष्य वाक्यक शिवा देन है। जनता रचना-शैली मरल-मुखाय और प्रचारात्मक रूप की है। डॉ० टिक्कमलाल मिश्र "मुमन का दुर्ध्वान्य बहुरूप जगत है। उम्मे राष्ट्रिय और घघररूपी

घटना-बहनों का सर्वत्र ध्यान रखा है। वाक्य-रचना करते समय उन्हें सर्वत्र मोह-कल्पाण का ध्यान रहना है। उनकी रचनाओं में शक्ति धीरे उन्माह की प्रेरणा है। 'मास्को धर भी दूर है' का मुमन की बड़ी साहसिक रचना है। मोह-प्रवृत्तिग मुद्दाबन्धन भाषा का प्रयोग उनकी विशेषता है। प्रथम श्रेणी की प्रगतिवादी रचनाओं में शक्ति धीरे रसित जनता के दुःख-दुःख की प्रतिबिम्बना बड़े सबल स्वरों में हुई है। उन्होंने सामाजिक विपत्तियों के प्रति भी राग प्रकट किया है। श्री केदारनाथ धरनाथ ने अपनी रचनाओं में निम्न धीरे मध्यमवर्ग के जीवन के बड़े मुद्दे बिना उपस्थित किए हैं। किमान मजदूर धीरे रसितों का जीवन ही उनकी रचना के मुख्य विषय है। कुछ रचनाओं में उच्चवर्गीय जनता तथा शासक वर्ग पर भी व्यंग्य मिलता है। उन्होंने अपनी व्यंग्यकांक्ष रचनाओं में भावपत्र की ही प्रधानता की है।

ध्यानात्मक की विशेषता उसकी कल्पना-अथवा धारणा और प्रकृतिवाद की विशेषता सामाजिक मपावधारिता है। प्रकृतिवादी कवि को देखा है, वह इसी दृष्टि से देखता है। 'प्राण्य' का कवि कहता है—

“देख रहा हूँ आज विश्व का, मैं धार्मीय नयन से
सोच रहा हूँ अटिल अगत पर, आधन पर अन-मन से।

कवि हम मंत्रमय यम में शान्ति बनकर धावहार की कल्पना के रूप में जीम की व्यंग्यकविता है—

“समर्थों में शान्ति बनूँ मैं
आधकार में पड़ जायन के
आधकार का क्लान्त धनुँ मैं।”

इन्हीं शिष्टों की निराला ओ न की प्रकृतिवाद के प्रकार से कुछ भीत धीरे देना बिना मिले पर साहित्य-अथवा उत्तरी धार व्यंग्यकाव्य न हो सका। उनका एक प्रकृतिवादी रचनाकवि देना—

“सड़क के किनारे दूधान है
पान की। दूर एककागत है
पोड़ का पान ठोका हुआ
पारबन्धन एक बच्चे का हुआ
द रहा है। पारल का डाल पर
कूट रहा है कायल। भाल पर
मलगाड़ा चली जा रहा है।
नीम फूला है मुशब्द का रहा है,

टाखां से छन छनकर राह पर ।
 किरण पड़ रही हैं वाट पर
 बाल किये जा रहा है क्षेत्र में
 दाहिनी तरफ किमान । रेत में
 पाह तरफ पिड़ियां कुछ बैठी हैं,
 खुसी अबें मिरसे को पंठो हैं ।”

निराला जी की 'नवे पत्त' 'यमुना के प्रति' 'सरस्वती' आदि रचनाएँ भी प्रगतिवादी-युग की ही देन हैं । सरस्वती की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

‘एसे बाह बाह की योग्या बजा सुहाई,
 पौधों का रागिनी सजाय मखी सुलदाई ।
 मुक्त क भौंसु दुस्ती किमानों की जाया के
 सर भाय भौंसों में लगी की माया के ।
 हरी मरी खेनों की सरस्वती सहाराई
 मग्न किसानों क घर लम्बव बजा बभाई ।”

बहि-बहना निरवय ही धनुये है, पर उसमें वह बाध्य-संश्लेष नहीं है, जो पत्र जी की साम्यात्मिक चिंतन पर उड़ती हुई जन-जीवन पर बुद्धिबप करनेवाली कल्पना में रही है ।

दिनकर की 'रेलुका' और 'हुंकार' भी प्रगतिवादी युग की ही रचनाएँ हैं । इनमें बहोते देश-प्रेम की यही-उप भावना के साथ ही जन-जीवन का प्रगतिवादी बुद्धि-कोल बड़ी गुंजरता से प्रकट किया है । बहि-बहना है—

“आज न तू के माछकुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगा ।
 आज चमेसी में न चन्द किरणों से चित्र बनाऊँगी ॥”

एक बहु सोचक के स्नेहविषय ध्वनन को घोषकर जन-जीवन क संघर्ष की कटोर धूम पर धा बया है और सामुकी के सत पत्तों में क्रांति का मस्तक लजाने को धानुर है—

“मेरे मस्तक के छत्र मुकुट, बसु-काल मर्षियों के शान फन,
 मुक्त फिर कुमार्गिका के ससाट में, नित्य नवोन शक्तिर ध्वन ।”

'हुंकार' कबीर जी की प्रगतिवादी युग की कविताओं का संग्रह है । उनकी यदि बात कविताएँ देश-प्रेम की प्रकृत भावनाओं से परिपूरित हैं पर दिनकर को तरह उनकी रचनाओं में भी प्रगतिवादी तरकों की ध्वनना नहीं है—

“विजय नहीं रख के प्राण की, पूछ यदोरे लाया हूँ,
द्विज के पाखों म चर्दी के चियदों को ल आया हूँ।”

विहंगायलोकन

प्रगतिवाद के नाम पर जो रचनाएँ सामने आयी उन्हें देखकर मित्र मित्र घातकों में उन पर मित्र मित्र मत् व्यक्त किये । किन्ती न प्रगतिवादी दृष्टिकोण को एनांगी कहा किन्ती ने उन्हें बम-मम्बायी भारतीय माध्यमों के विपरीत कहा किता न उन भारतीय समाज के केवल प्रसू रूप का चित्रण करनेवाला कहा और किता न शोषित श्रम के प्रति उसे मौखिक सहानुभूति प्रकट करनेवाला कहा । कुछ घातकों ने यह मत् व्यक्त किया कि प्रगतिवादी साहित्य को चिन्तनता पर बिरबाम नहीं करता और उसका चरम सहाय केवल शारीरिक और धार्मिक मूल ही है । प्रगतिवादी भाषे का केवल उपभोग रूप ही मानते हैं । इनका कोई धारदा नहीं है धारि । इन घातकों में से कुछ में किन्ती सीमा तक कुछ मत्पना मने हा हो पर इनमें से कोई भी मग पूण्य छत्र नहीं कहा जा सकता । प्रगतिवाद में कुछ बाप हो सकते हैं पर यह धम्कीकार नहीं किया जा सकता कि हमने हिन्दी साहित्य को जा देन बी है वह कम मूम्बवान् नहीं है । प्रगतिवादी साहित्य ने नवीन समस्यार्थ के अपनी दृष्टि से नवीन हन प्रस्तुत किये हैं । इसने प्राचीन और नवीन विचारवादाओं की तुलना कर जो निष्कप उपस्थित किये हैं वे भी जीवन-दशान की नदी बिसा की घोर मकित करनेवाला है । हम साहित्य ने धर्मात्मिक प्राधानता का विरोध किया प्राचीन कदियों पर धारदा किया बम-विषयक संकीर्णता को मिटाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार यह साहित्य जीवन के पचाव रूप के प्रत्यक्षोकरण में सहायक हुआ । प्रगतिवादी कवियों ने एगो रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में महान्क निड हूँ । का ह्वादीप्रभाय द्विबेरी ने इस सम्बन्ध में लिखा था— ‘इनक सिद्धांत और उद्देश्य बहन मुग्दर है लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के नाम जुड़ हुए हैं । अगर ये लोग दस श्राव परिष्कानित हाना छोड़ दें तो सब ठीक हा जाय । प्रगतिशील दार्शनिक महान् उद्देश्य में आसित हैं । यदि इनम साम्यवातिक भाव का प्रवेश न हुआ तो इनको संभावनाएँ धर्मात्मिक है । मकित-प्राशोक्त के समय बिस प्रकार एक महम्ब दृष्ट धारदा गिनायी पड़ो-खो जो समाज के नय जीवन दशान से आसित करने का संकल्प बहन के कारण अग्रगण्य के रूप में प्रकट हुई बी उही प्रकार यह धारदापन हा सकता है ।

बाबू गुणाधरदाय ने प्रगतिवाद की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है— “प्रगतिवाद हमको स्वाभ-वरापण व्यक्तित्व से हटाकर समष्टिवादी की घोर ले गया है । उद्यम शैलियों को सम्पासेवी धर्मात्म्य नहीं रगा है ।” धारदाय महानुदारे बाबूने प्रगतिवाद के कई आलाचकों में से एक है । पर उन्हाने भी यह स्वीकार किया है कि ‘साहित्य के

सामाजिक तटवर्ती और उद्देश्यों का विज्ञापन करनेवाली यह पद्धति साहित्य का बहुत उपकार भी कर सकती है। उसने हमारे मुँहको एक नई तेजस्विता प्रदान की है और एक नया धारमबल भी मिला है। उन्होंने प्रगतिवादी समीचा के समय में कहा है— 'इस समीचा में मुख्य रूप से दो बस्तुएँ भी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का अत्यन्त सामाजिक वास्तविकता से है और वहीं साहित्य मुख्यतः है जो उन्नत वास्तविकता के प्रति सजग और सजगशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से बिलना ही दूर होगा वह उतना ही काव्यिक और प्रतिक्रियावादी कहा जाएगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के अद्यतन संस्था एक नई मापरेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति में हम दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।

प्रगतिवादी साहित्य धारणावादी और एस्मवादी साहित्य की तरह केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रहा। इस बात का प्रभाव उपर्युक्त कहाँ, निम्न और आलोचना साहित्य तक परिणत होना है। सब की लुप्तकाल विपत्ती निराशा रामेश रावण कृष्ण चन्द्र लामाजुन धरक देवन्द्र चरमार्थी राहुल साङ्करायण अमृतलाल नागर रामेश माहव मम्मयनाथ सुन्दर धारि प्रमूख प्रगतिवादी उपन्यासकारों के अतिरिक्त यशपाल धरक धारि के भी नाम लिये जा सकते हैं। डा० भगवतशरण उपन्याय, डा० राम बिलास शर्मा तिलकान सिंह श्रीराम यशपाल राम रावण कर्णैयाबाल राहुल प्रिय धारि प्रमूख प्रगतिवादी निबन्धकार हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में डा० रामबलनाथ शर्मा तिलकान सिंह श्रीराम प्रकाशचन्द्र सुन्दर चण्डवी सिंह नामवर सिंह धारि विरोध उपन्यासकार हैं।



हिंदी-काव्य-साहित्य में प्रयोगवाद

पृष्ठभूमि

सन् १९३६ में हिन्दी-काव्य-साहित्य का छायावादी युग समाप्त हुआ और उस समय की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति में प्रगतिवादी-युग का सूत्रपात किया। यह ऐसा काम था जिसमें एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए देश व्यापी संघर्ष चल रहा था और दूसरी ओर बेकारी तथा घनामाश से सर्वसामान्य जनता में असंतोष फैल रहा था। परिष्कार-स्वरूप्य पूंजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष विकसित होता जा रहा था। प्रगतिवादी कवियों ने शोषितों का पक्ष पकड़ लिया और रचनाओं में शोषितों, बसिठों एवं अन्य सामान्य जनता की बाखी मुखरित होने लगी। इससे पूंजीवादी चिंतित हो उठे। पूंजीवाद के संकेत पर प्रगतिवादी साहित्य पर अनेक आरोप लगाये गये किन्तु इससे प्रगतिवादी साहित्य की प्रगति न रुकी। प्रगतिवादी साहित्य से अमिकों में भी चेतना घा गई थी, उसका घंठ न हो सका। प्रगतिवाद को रोकने के लिए अमिक्कलावाद, प्रतीकवाद स्वर्णवतावाद आदि का जन्म हुआ, किन्तु इनमें से कोई भी वाद अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। इसी समय हिन्दी के कवियों का प्रगतिवाद की ओर से ध्यान हटाने के लिए एक नयी काव्यधारा सामन आई। यही काव्यधारा हिन्दी काव्य-साहित्य में 'प्रयोगवादी काव्य धारा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह काव्य पद्धति एक यूरोपीय काव्य-पद्धति का अनुकरण मात्र थी। यूरोप में इस काव्यधारा का जन्म प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् टी० ए० इमियट के द्वारा हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् समस्त यूरोप की शासन-व्यवस्था बिगड़सलित हो गई थी। वहाँ से पूंजीवाद की सत्ता समाप्त हो रही थी और उस की आरंभवादी की समाप्ति के पश्चात् वहाँ का अचहाप घम जो क्रांति कर रहा था उसका प्रभाव सर्वव्यापक बन रहा था। इङ्ग्लैंड, फ्रांस जर्मनी आदि देशों पर इस क्रांति के परिष्कार-स्वरूप्य साम्यवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था अतः वहाँ के पूंजीवादियों ने कुछ साहित्यकारों को खरीबर उनके द्वारा एक ऐसी काव्यधारा का आविर्भाव कराया जो प्रगतिवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा को विरोधित थी। इस काव्यधारा का जन्म नये प्रयोग और नये टैक्निक को लेकर हुआ था। इसमें मानव-जीवन की समस्याओं का कोई स्थान न था। टी० ए० इमियट इसी काव्यधारा के जनक थे। प्रसिद्ध आम्स धासोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने इस काव्यधारा के विकास में पर्याप्त सहायता

की। उद्देश्य काव्य के मापी स्वरूप की मरिचकता की कल्पना ही करते हुए कहा था कि मरिचक में काव्य का स्वरूप अमरता: कल्पित उपनिष्ट होता जायेगा और बहुत कम लोग उससे लाभान्वित हो सकेंगे। यह वह काल था जब हिन्दी-काव्य-साहित्य में छायावाद का विनाश हो रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के परभाव भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को यूरोप की प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल से ही हो गई थी। यहाँ के यूरोपीयों ने भी यूरोपीय यूरोपीयों के द्वारा गृहीत साधन धरनाएँ और यूरोपीय की रक्षा का प्रयत्न प्रयत्न किया। प्रयोगवादी काव्यकारों एक बहुत बड़ी सीमा तक अपनी प्रयत्न का परिणाम है। हिन्दी की प्रयोगवादी काव्यकारों अलग-अलग तरह की छंदों का प्रयोग है। किन्तु आज भी वह मरिचक टेकनिक की परिधि से बाहर बढ़ती दिखाई नहीं दे रही है।

हिन्दी में प्रयोगवाद की परम्परा

हिन्दी-काव्य के लिए प्रयोगवाद कोई नई शक्ति नहीं है। इन इसे प्रगतिवाद की तरह परिचय की है नही मालूम है। हिन्दी-काव्य-व्यप में परिवर्तन से ही नये-नये प्रयोग होते रहे हैं। कबीर समाजगत हिन्दी के सबसे बड़े प्रयोगवादी काव्य थे। उन्होंने न केवल ब्रह्म विषयों में बल्कि काव्य-जीवी में भी अपने सफल प्रयोग किए थे। उनकी विचारधारा भी हम प्रयोगवादी न थी। कबीर ने अपने काल की राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति को देखते हुए हिन्दी काव्य को भी विचारधारा प्रदान की, वह उनका एक अमूल्य उपहार था। इसी प्रकार उन्होंने ब्रह्मविषयों के ब्रह्म विषयों को तरकारीय स्थिति के लिए अनादिकाल से प्रयोग करने का प्रयोग किया है। पर नई काव्य-जीवी में काव्य-रचना की। कबीर इन प्रयोगों में अपने सफल रूप में उनका अनादिकाल से प्रयोग करने का प्रयोग करने पर रहा। मूल और तुलसी के द्वारा अनुसंधान काव्य की प्रविष्टि हुई किन्तु इन दोनों महाकविओं के काव्य को व्यापक रखा गया है। प्रयोगवादी काव्य-जीवी का उद्देश्य और न ही था।

महाकवि मुरदास और वात्सामी तुलसीदास का कथ प्रयोगवादी न रहे। मूल का विषय-विस्तार और पर लेखन-जीवी भी हिन्दी-काव्य-साहित्य का एक प्रयोग था। मूल ने वात्सव्य रस को जो सर्वोत्कृष्ट प्रगतिवाद की वह उनका सबसे बड़ा प्रयोग था। उनके इसी प्रयोग की सफलता के कारण काव्य-साहित्यों को नए रसों के अतिरिक्त वात्सव्य रस का ब्रह्म रस प्रयोग करना पड़ा। वात्सामी तुलसीदास ने भी ब्रह्म विषयों और काव्य-जीवी में जो प्रयोग किये वे सर्वोत्कृष्ट हैं किन्तु वह प्रयोग है कि ये प्रयोग कभी 'ब्रह्म' के रूप में कभी नहीं प्रयोग नहीं किए गए। अतिरिक्त मुनिमानस्य पद्य के अनादिकाल प्रयोगवादी काव्य-रचना का अनादिकाल प्रयोग की भी 'प्रयोग की

खाया तथा "कड़वा को कच्चा" रचना से होता है। यद्यपि प्रयोगवादी कवि यह सत्य स्वीकार नहीं करते। वस्तु और यद्यपि दोनों दृष्टियों से प्रसार जो कीये रचनाएँ निरिचत ही प्रयोगवादी हैं। विपला भी ने जो मुक्तक छन्दों में काव्यरचना प्रारम्भ की, वह भी उनका एक महत्साध्य सफल प्रयोग ही कहा जायगा। उनकी 'कुङ्कुमुता और "बड़े पत्ते" रचनाएँ पूर्णरूपेण प्रयोगवादी हैं।

धारावाही काव्य में व्यक्तिगतता का प्राबल्य होने से वह ऐकान्तिक बना रहा, जिससे उनमें काव्य सौन्दर्य का विकास तो हुआ किन्तु सामाजिकता का विकास न हुआ। अपनी इस ऐकान्तिकता के कारण उसका ह्रास हो गया और उसके स्थान पर उसी के कविबोध-शाप प्रवृत्ति का प्रतिष्ठा हुई। प्रवृत्तिवाद में सामाजिक-दृष्टिकोण का किन्तु वह सिद्धांतों के प्रसार में जिज्ञासा उत्पन्न हो सका। सतता काव्य के विकास में सफल न हुआ। हमारे इसकी नकारमकता ने उसे सबजन-मुक्त तो बहरस बना दिया किन्तु वह पूज्य यद्यपि में काव्य न रह सका। जिससे उसका ह्रास भी अनिवार्य हो गया। इसके बरबात हिन्दी काव्य साहित्य में प्रयोगवाद का प्राविर्भाव हुआ। अधिकतर प्रवृत्तिवादी कवियों ने प्रयोगवाद का आग्रह बहुत किया और नये नये कविताएँ नये विषयों के साथ सृजित होने लगीं। सर्वप्रथम प्रिये गिरिजा कुमार माधुर, रामविताप शर्मा नजानत माधुर मुक्तिबोध प्रभाकर माधुरे प्रभातीप्रसार मिश्र, शकुन्तला माधुर, रामशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, जमशेद भारती हलिदायस्य आदि रघुवीर सहाय आदि उल्लेखनीय प्रयोगवादी कवि हैं।

प्रयोगवादी काव्य

प्रयोगवादी कवियों ने जीवन और जगत् से सम्बन्धित अनेक विषयों से सम्बन्धित काव्यरचना की। उषनहृत् से ओपही तक और मानव से बड़े तक कोई ऐसा विषय न था जिस पर उन्होंने काव्य-रचना न की हो। शृंगार सामाजिक विद्रोहता, धार्मिकता और प्रकृति-सौन्दर्य भी इनकी रचनाओं से पूर्णक न रहे किन्तु उन्होंने जिस काव्य-शैली में प्रयोगवादी रचनाएँ प्रारम्भ कीं। वह हिन्दी-काव्य-जगत् के लिए सबल नहीं होती थी। हिन्दी के धारावाही इनकी कविताओं को कविता कहत है जो व्यक्तीकार कर दिया और इन रचनाओं पर तरह-तरह की व्याख्यान बीजारें होने लगीं किन्तु य जीवन भी अपनी बुद्ध के पक्षे से। विविध विरोधों के बीच भी ये माने बढ़ने लगे। सन्-१९०० वि० में प्रथम ही ने नजानत माधुर मुक्तिबोध गिरिजाकुमार माधुर, मेमिच-द और प्रारम्भस्य प्रथमाल, प्रभाकर माधुरे तथा रामविताप शर्मा की प्रयोगवादी रचनाओं के साथ कुछ धारावाही रचनाएँ मिलकर 'छात्र सन्का' का प्रकाशन किया। इस काव्य-संघ की धारावाही रचनाओं के उत्तर में प्रथम ही ने कहा कि

प्रयोगवादी काव्य शैली द्वारा इसके कवि अनुभूत समय के विविध प्रयोग हिन्दी-काव्य के पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। इन्हें बस्तु का ज्ञान ही नहीं है। वे अपने प्रयोगों द्वारा नये-नये मार्गों का अन्वेषण करना चाहते हैं।

सं० २ व वि० में सर्वोपरी भवानीप्रसाद मिश्र लक्ष्मणता माधुर हरिणाथमठ व्यास रामेश्वर बहादुर सिंह, नरेश मंडूटा रघुवीर सहाय तथा बमबीर चारली की प्रतिनिधि रचनाओं को लेकर 'बुधरा सप्तक' प्रकाशित हुआ। यह सप्तक प्रयोगवादी काव्य के विकास का द्वितीय सौपान समझ जाना चाहिए, किन्तु दोनों सप्तकों के काव्य-स्तर में हमें बहने योग्य कोई अंतर नहीं दिखाई देता। दूसरे हम दोनों सप्तकों के कवियों के दृष्टिकोण में भी परस्पर विभिन्नता पाते हैं। कहा जा सकता है कि इन कवियों ने प्रयोगवादी विचारवाच्य तो स्वीकार कर ली किन्तु वे बलवत् विषय राजनैतिक और सामाजिक सिद्धांतों काध्य-बस्तु रोसी, उनके पास किसी भी विषय में अन्त तक एकमत न हो सके। इसके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कवियों का कभी भी कोई एक निरिच्छत दृष्टिकोण नहीं रहा और इनके इन अंतर्भावता के अभाव में उन्हें योग्य बनकर प्रथम अलग वर्गों में विभाजित कर दिया। 'प्रतीक' अज्ञता दृष्टिकोण तथा पाठक परिभाषों में प्रयोगवादी रचनाएँ अधिक प्रमाथ में प्रकाशित होती रही हैं। 'नई कविता' भी ३४ प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं का एक समूह है। इसके सम्पादक हैं डा. जयश्रीत गुप्त। प्रयोगवादी कविताओं को लेकर 'निकट' नामक एक वर्ष वार्षिक समूह भी प्रकाशित हुआ। डा. जयश्रीत गुप्त ने 'नई कविता' के प्रथम अद्यकालिक संग्रह में लिखा है— 'बुध व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी उत्सवता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके बंधन पर ही मुग्ध हो जाते हैं। नई कविता अर्थात् ऐसे व्यक्तियों के लिए भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील छात्राचार्यों को लक्षित करके लिखी जा रही है। जिसकी मानसिक अवस्था और शैक्षिक बैठना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानवर्गी है, एक और जो बुद्धि कविता की अस्मिन्वचना प्रकाशनों शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिसको परिपूर्ण रूप से और अस्मिन्वित है नहीं होती या होती है तो संवृष्ट रूप में नहीं। दूसरी ओर जो नई विद्याएँ पोजने में सज्जन नूतन प्रतिभा को शैक्षिक अथ कलाशास्त्री और कठिनाइयों के प्रति लक्ष्मणवृत्तिशील होकर नये कवि की वारंवारिक अन्वेषण की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करते; बहुत अर्थों में नई कविता की प्रकृति की ऐसे प्रबुद्ध भावुकता पर आश्रित रहती हो चने ही यह वर्ग अपना है अथ हो अपाकि रचना मद्रव संख्या से नहीं उद्य स्थिति से आकाशाता है जिस तक अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ वह पहुँचा होता है।

वा बगरीस गुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी काव्य उन इन-विने व्यक्तियों के लिए ही है जो वा गुप्त की दृष्टि के अनुसार प्रयुक्त घोर विवेकहीन हैं, सामान्य जनता से भयना उसके जीवन से इसका कोई संबंध नहीं है। छंदिय में यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी काव्य का संबंध देश की किसी सामाजिक या पारिवारिक राजनीतिक धर्मशास्त्रिक समस्या से नहीं बरन् एक विधेय टेकनिक मात्र से है जिस काव्य धर्मशास्त्रिक में जन-जीवन को छुने की क्षमता नहीं है, उसका सामाजिक जीवन की दृष्टि से कोई मह्य नहीं हो सकता। केवल टेकनिक क काल पर मात्र तक न कोई काव्यपारा पतनी है घोर न पतन ही एकती है। यही कारण है कि यह काव्यवाद्य धर्म एक मर-उन्मुख रोगी को तरह धर्मने जीवन के दिन नापती दृष्टिबोधर हो रही है।

प्रयोगवादी रचनाएँ

यहाँ प्रयोगवादी रचनाओं के कुछ उदाहरण देकर इस विषय की प्रतिक स्पष्ट कर देना आवश्यक होता। श्री विरिष्ठाकुमार मानुष की पद्यों की लकीरों की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भीखी राहें धीरे धीरे सूनी हाठी
 जिनपर बोझिल पदियों के निशान हैं।
 माथ पर की सोच मरी रक्षाओं जैसे
 पानी-रंगी होवासों पर
 सूने राही की छाया पड़ती।
 पियों क धीमे स्वर भर जाते हैं,
 अनजानी पदास दूरी में।

शकूर रामविलास शर्मा ने लड में कथन कहे हुए मन्त्रदूरों का चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है —

छोटा सा सूरज सिर पर बैसाल का,
 कामे धर्मों से विश्वर म लख में
 फटे अंगरखों में, बच्चे भी साम छ
 ध्यान लगा सीता भमार हैं नीतल
 खेत कटाई की मन्त्रदूरी, उड़ोने जोता, पोया, सीपा भी या खेत को।
 यही कविता में प्रकाशित एक प्रयोगवादी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

हैं SSSS हैं। ठीक है लेकिन नहीं,
 अब तो बीच कुछ खिलो नहीं।
 इसमें भली क्या बात यनी ?
 तुको की अपने मुटाई है यनी।

ओ मियाँ, बेतना को चठाओ गिलाफ
 इस पर टेकनीक की चढ़ाई गिलाफ
 वही ऊग भरुणा, वही चन्द्र घामा।
 इसमें कही भी न-जकेट न कामा ॥”

एक प्रयोगवादी कवि ठोला बनने के इच्छुक है। उनकी यह सविन्या
 निम्नांकित बक्तियों में देखिए—

“अगर कही में तोता होता
 तो क्या होता ?
 तो क्या हाता ?
 तोता होता।
 तो तो तो तो ता ता ता
 होता होता होता होता।

एक प्रयोगवादी कवि का घर्षकार-प्रपञ्च भी बतानीय है। उद्दाते गभीर उपमाओं
 के स्थान पर नई उपमाओं की प्रतिष्ठा इस प्रकार की है—

“बादमी चंदन सदरा
 हम क्यों बिलें ?
 मुझ हमें कमलों सरीखे क्यों बिलें ?
 हम बिलेंगे
 बादना हम रूपसे सी है कि जिनमें
 बमक है पर खनक गायक है
 हम बहग बार स
 मुँह पर अजायब है।

प्रयोगवादी रचनाओं के समावेशन व निष्पन्न इतनी बानसियाँ पर्याप्त हारी।
 प्रयोगवादी कवियों ने निरवयव ही हिन्दी-भाष्य में एक नई चारा साहित्य की विष्णु
 उनकी बिबाधकारा घोर वाक्य-रैतों में एक 'भिरिबतना' का प्रभाव हान के वाग्ल
 उनकी रचनाओं से न हिन्दी वाक्य के बिबाध में कोई महापना मिली घोर न वाक्य

समझ ही हुई। यत्रिकांत रचनाएँ हास्यात्मक ही सिद्ध हुईं और हिन्दी-काव्य के पाठक उनके बेनुकपन से घबरा मनीरंजन करते रहे। ये रचनाएँ प्रगतिवादी रचनाओं की तरह भी लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहीं। पन्त को ने इन रचनाओं पर घबरा मत भ्रष्ट करते हुए यह लिखा था—

‘जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-भारा मार्क्सवाद एवं इन्द्रात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक आर्थिक तथा राजनीतिक पुस्तकों में उँसकर एक कुसुम सामूहिकता की ओर बढ़ी उसी प्रकार प्रयोगवाद भी निर्मरिछो कल-कल चल-चल करती हुई शायदवादि में प्रभावित हो कर स्वप्नित फेनिल स्वर संगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुक्तिरत उपचेतन धरचेतन की रट-रट धारियों को मुक्त करती हुई बमित कुदित्त भावनाओं की बाखी बेती हुई मोर-बगना के मोर में गरी क डीप की तरह प्रकट हुकर अपने पयक् यस्तित्व पर धा गई। अपनी यनात्मक विह्वितियों के करख अपने निम्नस्तर पर इसकी सौरय-भावना केंद्रों धों के मेडकों के उपमाओं के रूप में सरीलनों के जम्द स अनुप्रासित हुन गयी।

हमने यहाँ प्रमुल प्रयोगवादी कवियों की कविताओं के जो इच्छुरण रिये हैं, उनसे भी यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों का लक्ष्य केवम नई उपमाओं रूपकों, प्रतीकों आदि की खोज और लोक भाषा के शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग करना ही है, चाहे इनसे भाषों का समुचित व्यक्तीकरण अने ही न हो सके। इनके इन प्रयत्न का परिणाम यह होगा है कि उनके काव्य का भावबल निबल लिवाई देता व्यक्तीकरण में कोई कम नहीं होता और उनकी रचिरता धरस्पष्ट एवं उलझी हुई परिलक्षित होती है। सम्भवतः यह देखकर आषाय लम्दुलारे बाजपेयी ने लिखा है— प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारण उम व्यक्ति का बोध होता है, जिसको रचना में कोई तात्क धनुभूति कई स्वामाधिक कम-विवाध या कोई मुनिरिधत व्यक्तित्व न हा।’ आषाय बाजपेयी न प्रयोगवादी काव्य की उपनिधि पर प्रकटा डालते हुए धामे कहा है— ‘हिन्दी की धवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सूजन का स्थान नहीं न मकना। प्रयोग और काव्यात्मक निर्माण या लजन में भी मोमिक धंतर है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा मकनी। विरोधकर काव्य का धन प्रमावा की धुनिवा से बहुत दूर है। कवि मचते पहले अपनी धनुभूतियों के प्रति उत्तरणीयी है। वह उनके माध निमडाध नहीं कर मकना। उनका दूगरा उत्तरधामित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक धमिधयति के प्रति है। कर्हिमी भी धधध्या में ऐसे प्रयोगों का पस्मा नहीं पकड़ मकना, जिसका उम काव्य के भावबल और आषायन संस्कारों से तथा उन धायों न स्वामाधिक विधयन-कम ने महुय लक्ष्य नहीं है।

भाषाय बाजपेयी में घाने लिखा है—

ब्रह्मवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं । वे परिचित बुद्धिवादी ने पस्त हैं प्रयोगवादी रचनाएँ वैविध्यपूर्ण हैं । बुद्धि का सहज परिनिवेश ऊपर नहीं है । वे वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक चरित्रात्मिक को भी पूरा नहीं करतीं ।

प्रयोगवादी कवियों के सभ्यक डाक्टर रामबिलास शर्मा ने भी दूसरे रूपों में इन काव्यकारों की वे निरालता स्वीकार की है । उन्होंने लिखा है— 'पूर्वीवादी व्यवस्था में लिखित किंवा कृतिचित्रण कवि में और अन्यायकारण में जारी चलता होता है । कवि अपने संकुचित परिभाषात्मक रूप में और संकुचित होता हुआ व्यवस्था के लिये अपने एक सीमित प्रतीक बूँट लाता है । वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यक्तता उच्च कोटि की है । डाक्टर शर्मा के इन कथन से यह पता चला कि इन काव्य के 'अविद्यमान' रूप का रचना प्रियुक्त हो जाता है ।

डाक्टर लखेन्द्र न प्रयोगवादी काव्य के वर्चस्व में भी विचार व्यक्त किये हैं वे भी समग्र उपयुक्त निष्कर्षों को ही पुष्टि करते हैं । उन्होंने इस काव्य के निम्नांकित बातें बतलाये हैं—

१. यावत् एतत् धीर काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध
२. साधारणीकृत्य का स्वातन्त्र्य
३. उपभोग्य मन के अनुभव संकीर्ण के पश्चात् विचलन का धारण ।
४. काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकात्मक वैयक्तिक और अवर्ग्य प्रयोग ।
५. नृपत्या का स्वशासन मोह, जो गरा परिचित को छोड़ परिचित को पीछे में रहता है ।

प्रयोगवादी कवियों के भाषाय धीर उप प्रवृत्त को ध्यान में रखते हुए "वार लक्षण" का निर्धारण में लिखा है—'उसके ही एक ही होने का कारण ही नहीं है कि किसी एक रूप के नहीं है, किसी मंत्रिम पर पहुँचे हुए नहीं घनी टाही है—'राही नहीं टाही का पक्षेयो ।'

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ ब्रह्मवादी उच्च कवि नये-नये प्रयोगों की संघटन बाध्य क्षेत्र में अन्वेषण हुए धीर बुद्धिपूर्ण की तरह उच्च गायते रहे पर उच्च न पा लके । वे धीरे-धीरे गीत रहे हैं किन्तु उनके राह भोजने का संग बना विविध है । यह एक से यह विविधता छोड़कर अन्याय पर चलता न भीरोंने, एक एक उनका एक निरिक्तन जारी कर बहूँचना सम्भव नहीं है । डा. रणेकरामच, दिलीपन

शास्त्री केदार गोरेरा बलभूपस धादि ऐसे कवि हैं, जो प्रयोगवाद में अधिक सफल बने हैं, किन्तु सप्टकों में उनका कोई स्थान नहीं है। तार सप्टकों के कवियों ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए जो बातें कही हैं, उनमें अपनी-अपनी अफसोस और अपमान-अपमा रग है। इस तरह दोनों तार सप्टक मानुमठी का कुनबा बन गये हैं। इन प्रयोगवादो कहे जानेवाले कवियों को रचनाएँ बन-भंग को तो प्रभावित कर ही नहीं सकीं, पर इस बस को धार तक कोई ऐसा कवि भी प्राप्त न हो सका जिसमें हिन्दी का प्रतिनिधि कवि कहलाने का सम्मान प्राप्त हो।

प्रयोगवादो काव्य की विशेषताएँ

प्रतिवादी कवियों ने रसात्मक भाव्य काव्यम् को प्राचीन माध्यता ही प्रतीकार कर दी थी। उन्होंने जन जीवन को काव्य के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया था किन्तु उन्हें केवल इतने से ही संतोष न था। वे जन जीवन को अपने काव्य का विषय हो नहीं बनाया चाहते थे, बरन् उसे अपनी नई विचारधारा से अधिकधिक प्रभावित भी करना चाहते थे। यही कारण है कि प्रयत्न काव्य जितना प्रचारपरमक रहा उतना सूजनपरमक नहीं रहा। मुमता प्रतिवादी और प्रयोगवादी दोनों ही जन-जीवन के कवि हैं। दोनों की प्रेरणा का स्रोत भी एक ही है। दोनों ही एक जैसी कान्ति को जन्म देने के प्राकाशी हैं जो जन-समाज के प्राचीन रूप का अन्त कर उसे नया रूप प्रदान कर सके जो सामाजिक विषमता का अन्त कर सफाई की मुख्य श्रोतस्विको प्रवाहित कर सके और जन जीवन को एक नये सन्धि में डाल सके। दोनों बातों के कवियों में और उनकी धारकाधो में यह समानता होने पर भी उनके काव्य के स्वरूप में बहुत अन्तर रहा। इन अन्तर का कारण उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में उनके प्रमुख कवियों ने समय-समय पर स्वयं अपने मत व्यक्त किए हैं। जो प्रथम जो इन काव्य-वारा के प्रमुख उदाहरणों में एक हैं। वे कहते हैं— प्रयोगवादी कविता में नये मर्यादा या नई मन्त्रावधारणों का अन्वित बोध था है उन सत्यों के साथ नये राजपरमक सम्बन्ध भी और उनका पाठक या सङ्ग्रह तक पहुँचाने वाली साधारणोकरण करने की शक्ति है।

पमरीर मारठी कहते हैं— प्रयोगवादी कविता में भावना है किन्तु हर भावना के प्रागे एक प्ररन-बिह्वल लगा है। इसी प्ररन बिह्वल को धार शीघ्रिका कह सकते हैं। सांस्कृतिक डोबा बरमय उठा है और यह प्ररन-बिह्वल उसी की प्रतिमात्र है। "श्री निरिजानुमार मापुर कहते हैं— प्रयोगों का लक्ष्य है ध्यारक सामाजिक मर्य के अन्त अनुभवों का साधारणोकरण करन में कविता को नवानुसूल माध्यम देना, जिनमें ध्यारन द्वारा इन ध्यारक मर्य का सबोचयम्य प्रयत्न सम्भव हो सके।

प्रयोगवाद के बहुतर्क प्रमुख कवि डा० शिवमन्थन सिंह प्रयोगवादी काव्य में शैलीगत और व्यंग्यतागत चमत्कार एवं विचित्रता और बहुतकृत शब्द का भी समावेश पाठ्यरसक मानते हैं। यह हम इन बातों के प्रकाश में प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ देखेंगे।

(घ) भाषा

कुछ प्रयोगवादी रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि इस शारा के कवियों ने पाठ्यरसता न होने पर भी हिन्दी भाषा के प्रचलित रूप की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया है। प्रयोगवादी कविताएँ लड़ी बोली की कविताएँ हैं जिसकी रचना में इसके वर्तमान विकसित और विरुद्ध रूप का प्रयोग सरलता से किया जा सकता था किन्तु उन्हें यह शब्द ही स्वीकार नहीं है। यथावत्वाच यो रघुवीर सहाय की निम्नांकित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं जिसमें उ होने लड़ी बोली के रूप का विज्ञापन कर दिया है—

जब दुःख के मार से मन बचने भाव
पैरों में कुली की-सी झपकती चाल छटपटाव।

इसमें से प्रथम शक्ति प्रयुक्त भाव तथा श्रित्त में छटपटाव बिना लड़ी बोली की दृष्टि से छुट नहीं लगने का सकती। इसी प्रकार उनकी भाषा को पत्रिकाओं में जो होने शब्दों की बेमेल प्रचली विचार हैती है।

तुमने जारी है अनाहत जिजाबिया
उसे क्या बरें। बहो—अपन पुत्रो, मेरे छाटे
भाइयों के छिप यही कहा।

इन शक्तियों में सरलतम चलनी भाषा के शब्दों के साथ यथावत् और जिजाबिया शब्दों का ज्ञान पन्थाभाविक है।

प्रयोगवादी कवियों की अपने रचनाओं में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन प्रयत्नपूर्वक शब्दों का तोड़ मरोड़ हिन्दी शब्दों के साथ अहिन्दी भाषाओं के शब्दों के साथ संयोग साहित्यिक शिष्टा के साथ प्रामीण शब्दों का प्रयोग पाठ्य सरलता से देखें जा सकते हैं। विद्यमानरूप भाषा का प्रयोग नहीं ही पाठ्यरसक होता है किन्तु प्रयोगवादियों की दृष्टि में इसका भी कीर्त मुख्य नहीं जान सकता।

(ग) भाव

प्रयोगवादी कवि वाग्मव हा भावना के कवि हैं। वे अपने काव्य में अपने हृदय का 'सब कुछ' संकुल देना चाहते हैं पर वे आकाशिकता की लक्षणों और आनुरता

में घनेक बार धरपट्ट हो जाते हैं। वे सरस से सरस भाषा में धपमी भाव कहना चाहते हैं, पर जो कुछ कहना चाहते हैं वह कहते-कहते भूल जाते हैं। प्रमाद्य-स्वरूप कुछ पंक्तियाँ बेलिए। कवि रामचंद्र बहादुर सिंह 'सावन की बहार' में कहते हैं—

'पूर्णिमा से भर उठी है आस
बरसात की रात,
गोख में इन बादलों के सौमली मिट्टी चुकी है।'

बरसात की रात के पूर्णिमा से भर उठने में विरोधाभास है। इस विरोधाभास के कारण कवि-हृदय के भाव दुर्बल हो गये हैं। भावों की संप्रेषणोपधा इन पंक्तियों में बेलिए—

'मेरे सपने इस तरह टूट गये,
जैसे मुँहा हुआ पापड़।'

निम्नांकित पंक्तियों में रसानुभूति की खोज बड़ा कष्टसाध्य काम है—

'मनमन मननन
मननन मननन
बीप प्रछा
बीप बुझा।'

इन पंक्तियों का कवि जपन भावों को भाव ही समझ रहा है उधे धर्मों को समझने की आवश्यकता नहीं है।

(स) छन्द विधान

सर्गांत में छन्दों का धर्मित योग है किन्तु काव्य की वृद्धि से माँ छन्दों का कम महत्त्व नहीं है। कविता के अनुकूल होने पर भी उनका अन्वय होना आवश्यक है। बिना छन्द की कविता 'मद्यकाव्य' हो सकती है पर इस स्थिति में उसमें काव्य के अन्वय कुछ शक्य आवश्यक है। प्रगतिवादी रचनाओं में ही छन्द के बचन शिथिल हो गये थे, किन्तु उसमें एक प्रकार की रक्षामकता आवश्यक थी। प्रगतिवादी कवियों में सम्भवतः नरनामा भी ने ही छन्दों की सबसे धार्मिक व्यवहृतना की है। फिर भी उनके काव्य में नवीतामकता का अभाव नहीं है। उस काल के कुछ कवियों ने पूरा प्रचलित परम्परागत छन्दों को नए रूप में सँवारने का प्रयत्न किया। अथवा उनक काल में प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु प्रयोगवादी कवियों का किसी भी रूप में छन्द का व्यवहार नहीं है। वे यह भी भूल गये कि स्वर धोर सब छन्दों की लक्ष्य है जो भावों में रसानुभूति में विशेष सहायक है। इतना ही नहीं पर प्रभाव को वृष्टि से भी काव्य में

स्वर धीरे-धीरे का स्वान प्रावरण्यक है। प्रयोगवादी कवि श्री अण्णदीचरण बनी ने स्वयं इन स्वर-लय-विहीन मुक्तक रचनाओं को देखकर कहा था— 'मुक्त लय की कविता को मैं अधिक-से-अधिक गद्य काव्य मान सकता हूँ कविता नहीं।' ऐसा जान पड़ता है कि प्रयोगवादियों को सरल माय ही पसन्द था वे साधना का कष्ट न उठाना चाहते थे। काव्य का अर्थव्यवहार करने के लिए भी कम साधना बोधित नहीं है। प्रयोगवादियों को इस साधना को 'मैट्रिक्स' पसन्द न थी वरतः उन्होंने 'नबोनडा' और 'परिचयन' के नाम पर अर्थविहीन रचनाएँ प्रारम्भ कर दीं। यह उनका नबोनडा प्रयोग प्रवरण्य है पर इस प्रयोग ने अन्धी कविताया के प्रमाण पर बहुत साधात क्रिया और वे कविताएँ जिनके लिए लिखी गई, उन तक न पहुँच सकीं।

(७) अर्थकार विधान

प्रयोगवादी कवियों ने परम्परागत अर्थकारों के स्वान में नये अर्थकारों का विधान तो नहीं किया पर उनकी उपमाएँ नहीं प्रवरण्य हैं। उन्होंने वे उपमाएँ लिए दृष्टि में जानेवाली वस्तुओं में ही खोजी हैं। अर्थकारों के विधान में भी नबोनडा है। हमें उनकी ये उपमाएँ और अर्थकार-विधान उन्हें सुनने के अर्थव्यवहार होने के कारण कुछ बेनुके और भौंके भन्ने ही लगे, पर उनकी नवीनता का महत्व अर्थकार नहीं किया जा सकता। अर्थकारों को मूत्रे पारदों को अपना एक पूर्व उदाहरण में देखो या सुनो है, जो उदाहरण और देखिए—

बाँदनी अवन सदरा

हम क्यों खिसे

'बादल आय आसमान में चरती फूली री।

अरी सुहागिन भरी माँग में मूखी मूखी रा।'

बाँदनी को अवन अवन रचना और फूलो चरती को सुहागिन से तुलना करना कवि को अर्थकार प्रयोग-मुक्तता का संकेत है।

(८) प्रतीक प्रयोग

कुछ प्रयोगवादी रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग बड़े सुन्दर स्वाभाविक ढंग में हुआ है। प्रकृति व विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से मानव जीवन-विरलेषण प्रयोगवादी कवियों की विद्यमान है। उदाहरणार्थ अत्रय की श्री अन्धविनया देवी का अर्थकार है—

ये मेघ साहित्यिक सैलानी।
ये तरल काव्य से लड़ हुए,

ब्रुत साँसों से छाकसा भरे,
 ये ठीठ समीरण के मोंके
 कटकित हुए रोपें तन के
 किन अहरा करों से आसोड़ित
 स्मृति शोफाखी के फूक भरे ।
 मर मर मर मर
 अप्रतिहत स्वर
 जीवन की गति आती जाती ।'

घर्मकार-विश्राम और माकामिय्यता की दृष्टि से भी ये पंक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं ।

श्री 'भीरव' द्वारा कमी और भ्रमर के प्रतीकों के माध्यम से निम्नांकित पंक्तियों में
 की गई प्रेमामिय्यबना भी प्रशस्तनीय है—

'एक दिन कह रहा थी भ्रमर से कछी
 ओठ जूठ किए हैं, मुझे तू न छू ।
 कह रहा था भ्रमर सुन अरा वापसा,
 निष्कलुप मैं बनूँ ल मुझे चूम तू ।
 आगया एक मोंका तभी उस तरफ
 हिल चठा जाऊ तो भूनागन हिल गये ।
 मुनमुनाई कजाई कला ता बहुत,
 आप ही आप लेकिन अघर मिल गये ।
 अन्त पेसा हुआ उस मिशन का मगर
 दिन सिसकता रहा रात टखती रही ।
 इस तरह तय हुआ साँस का यह सफर,
 जिवगी थक गई, मौत चखता रहा ।'

हिन्दी काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास

'राष्ट्रीय भावना' हमारे लिए नई वस्तु नहीं है। वैदिक काल से हमारे जीवन में राष्ट्रीय भावना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद के धनेष्ट सूत्र इसका प्रमाण है। महाभारत के कुछ स्थानों में भी हमें राष्ट्रीय भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनके कुछ लोग राष्ट्रीय भावना का प्रयोग अत्यंत संकुचित धर्म में करने लगे हैं। यह सम्भवतः सन् १२० से सन् १९४२ तक भारतीय मुक्ति के लिए चलनेवाले निरन्तर आन्दोलन का परिणाम राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान् भी सी० जे० एच० ह्यूज ने लिखा है कि राष्ट्रीयता प्रमाण रूप में सांस्कृतिक होती है वह केवल संयोगवशात् राजनीति हो जाती है किन्तु कुछ लोग राष्ट्रीयता को राजनीति से ही सम्बन्ध करके देख रहे हैं यह राष्ट्रीयता के व्यापक धर्म की ध्वस्तिकृति है। इस दृष्टि से राष्ट्रीयता वैश्वमयिता का पर्यायवाची हो जाती है और इस स्थिति में यह राजनीतिक स्वाधीनता धरणा प्रभूता की सीमा में प्रकट हो जाती है। यदि हम राष्ट्रीयता को कम की तरह प्राप्तपरक मान लें तो भी हमें अपने मानव-भावना को विचार की ओर जीवन की एक पद्धति के ही रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। भूमि पर निवास करने वाला जन-समूह तथा इस जनसमूह की संस्कृति का सम्बन्ध रूप ही राष्ट्र है। इस राष्ट्र के प्रति हमारे हृदय में जो पवित्र महान् प्रीति उत्पन्न होती है वही राष्ट्रीय भावना की सत्ता से अभिप्रेत की जा सकती है। इसी धर्म में जो रैन्डोमोर ने अपने अतीत पर अचित धर्म बतमान पर स्वयं विश्वास और अविश्व पर नि-बहिरी से आशा को राष्ट्रीय भावना को समीप प्रीति सबल बनाने का भावना कहा है। जब स्पष्ट है कि हिन्दी में हमारे मत भारतीय स्वतन्त्र-आन्दोलन-काल में गति देने के लिए जो काव्य रचना धरणा गीत रचना हुई धरणा इन काल में या इसके पश्चात् इन आन्दोलन के प्रकाश में शिव साहित्य का निर्माण हुआ वही राष्ट्रीय भावना से युक्त साहित्य नहीं बल्कि सम्पूर्ण साहित्य जो देश को एकता इस के सांस्कृतिक एवं धार्मिक अन्तर्गत राजनीतिक आधार तथा देश के वर्तमान-संघ से सम्बन्धित निर्मित हुआ हमारी एक राष्ट्रीय भावना को प्रतिबिम्बित करता है।

उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में अब हम हिन्दी के काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास पर विचार करते हैं, यह सर्वप्रथम हमारी दृष्टि हिन्दी के प्रथम निम्न लक्ष्यी कवि लक्ष्मी कवीर के काव्य पर जाती है। कवीर का धार्मिकता उन समय हुआ; जब सम्पूर्ण भारत धर्म के नाम पर होव रिया कटुता प्रीति निरन्तर का आकार

बना हुआ था। बर्माभ्युत्थान के विपक्ष में राष्ट्रीयता की भावना से शून्य कर दिया था। यह पन्नों और सम्प्रदायों की सङ्कुचित एकाकी भावनाओं का शिकार होकर खंड खंड में विभाजित हो गया था। बाह्याङ्गकों और प्रभावना मूलक कवियों ने उसे बर्बर कर दिया था। उसकी विश्व-प्रसक्त संस्कृति विकृत हो गई थी। अपने देश की यह स्थिति देखकर कबोर का हृदय काँप उठ। उसने अपने देशवासियों की सङ्कुचित एकाकी और राष्ट्र-संहारिणी मनोवृत्ति की कटु आलोचना की बाह्याङ्गकों और कवियों पर कुठाराघात किया और उन्हें साम्प्रदायिकता के निम्न चराचर से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का स्तुम्भ प्रयत्न किया। कबीर का खंडन-अज्ञानमय काव्य साहित्य उसकी इसी राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है। कबोर के पूर्व हमें कुछ ऐसे पन्नों के रचयिता पारख कवियों के काव्य में भी राष्ट्रीय भावनाएँ मिलती हैं किन्तु उनकी यह भावना रामपूज रासियों के गौरव-मान तक ही सीमित रही, यहाँ उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

कबोर के परचाण्डु हमें राष्ट्रीय भावना का विकास में अतिसारी कवि गौस्वामी तुमसीदास महाराज पृथ्वीराज विगत कवि दुरसारी आदि की रचनाओं में मिलता है। गौस्वामी भी ने राम कथा के आधार पर अपने 'रामचरित मानस के द्वाप भारतीयों को न केवल सांस्कृतिक उत्थान का संदेश दिया बल्कि उन्होंने 'राम राम' के चतुर्दश द्वाप एक धारण साधन-व्यवस्था भी प्रकृत की है। उन्होंने पराधीन बोधन के प्रति विद्रोह की बाखी व्यवस्था की और राष्ट्रीय भावना का सदैव देकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की ओर देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया। बोकानेर नरेश महाराज पृथ्वीराज परि-निर्वात-वश स्वयं मुसल सम्राट अकबर की प्राचीनता स्वीकार कर चुके थे कि तु महाराजा प्रताप के समान स्वतन्त्रतामिमानी कृतियों पर उन्हें पब था। उन्होंने जैसे ही गुना कि राखा प्रताप भी उठत लपट से पबराकर अकबर का आधीनता स्वीकार करन जा रहे हैं कि अधीर हो गये और उन्होंने एक रामपूज पद्यमय पत्र लिखकर राखा प्रताप को पराधीनता की अज्ञानता में बड़ होने से बचा सिखा। पृथ्वीराज का यह पत्र हिन्दी काव्य-साहित्य की राष्ट्रीय भावना के विकास की मूर्च्छना का एक धारणिक मूल्यान कबो है। कवि दुरसारी की राष्ट्रीय भावना उनकी निम्नांकित पत्रियों में देखी जा सकती है—

अकबर गरब न आण हिन्दू सह पाकर हुआ
 पीठो कोई दीबाल, करतो सटका बटहने।
 अकबर समद अयाह तिहँ हुआ हिन्दूतुरक
 मेबाकी तिण मौह, पोयण कृष्ण प्रताप श्री॥

संस्कृतकाल के परचास हमें रीतिकामीन कुछ और काव्य प्रयुक्त कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। इनमें भूपाल, बीरेबाल और पद्माकर की कुछ रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ लोग भूपाल को मुस्लिम त्वरोपी हिन्दू राजाओं का प्रशंसक कहकर सम्प्रदायवादी कवि कहते हैं, किन्तु यह एक अत्यन्तकपूर्य बात है। वे अपने कालों में एक राष्ट्रीय कवि थे। उन्हें मुस्लिम शासकों से डर न था। शिवाजी के दरबार में जाने के पूरा उन्होंने 'बाबर धक्कर हुमायूँ' हूब बाबि बसे' का एक कटी ना कुरान बर हूब की कहकर घोरतनेब क पूर्ववर्ती मुसल शासकों को भी प्रशंसा की है। अतः उन्हें मुस्लिम-विरोधी न कहकर अर्थात् घोरतनेब का विरोधी ही कहा जा सकता है। असल अपने पूर्वजों की परम्परा का स्थापक भारतीयों पर अत्याचार करने म ही अपनी प्रथाप अनुभव किया था। भूपाल को कुछ रचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि वे हिन्दू मुसलमानों में भेद कटके देश में सुख-शांति स्थापित करने के आकांक्षी थे। अराधरकार्य निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

“छुटि गयो तो नयो परबासो सलाह की राह गही सरजा सो।”

× × × ×

“और करो किम कोटिक राह सलाह विना बचिहो म सिबा सो।”

भारत की राष्ट्रीयता सर्वत्र से अपने देश पर विदेशियों के शासन का विरोध करती आई है। भूपाल ने घोरतनेब तथा उसके शासन के विरुद्ध जो भावना व्यक्त की है, वह वास्तव में विदेशी शासन के विरुद्ध ही है। यदि वे मुस्लिम-विरोधी होते तो फतुहशाह बहादुरशाह आदिलशाह और हुजुमशाह का आभय प्रदण्ड न करते। वे विदेशी होने पर भी इन शाहों के गुणों के प्रशंसक थे। यह देखते हुए हम भूपाल की अविचार्य रचनाओं को राष्ट्रीय भावना से ही पूर्ण कर सकते हैं। इसी प्रकार मारेनाम अथवा नाम बचि की अज्ञान-मस्तक में रचित बचिनाएँ भी राष्ट्रीय भावना से ही पूर्ण हैं। पद्माकर की “हिम्मत बहादुर विद्यवासी के कुछ कर्तों एव स्वामिन-मरेश महापति बोमराज सोनिया की प्रशंसा में रचित रचनाओं में भी हमें राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। इसी काल के और कवि ज्ञानो ज्ञ, घोषराज भूपाल, अमरेश्वर धारि की कुछ रचनाएँ भी एक राष्ट्रीय भावना से पूर्ण हैं। यह अर्थ है कि इनकी राष्ट्रीयता की कारण कवियों की तरह अपने आभयशाहों की प्रशंसा और शीघ्र बचन से ऊपर नहीं उठ पाई।

रीतिकाल के परचास हमें आधुनिक काल के हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का

विकास अधिक स्पष्ट एवं दृढ़ बल में दिखाई देता है। इस काल के राष्ट्रीय कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रधान हैं। उन्होंने तथा उनके समकालीन कुछ अन्य कवियों ने इस समय के पराधीन भारत की दुरवस्था का विषय कर बनता में जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न प्रयत्न किया है। भारतेन्दु भी की राष्ट्रीय भावना प्रत्यक्ष व्यापक है। उनकी इस भावना में विशेष शक्ति का प्रति बिन्दु है असतोष है भारतीय एकता का सम्येक है, सबभाषा प्रेम, सर्वधर्म प्रेम भारतीयों की दुरवस्था पर रोम एवं बन कामरूप का प्रयत्न है। उन्होंने प्रश्नों की पक्षानिस्ताम विषय की मध्य कर अपनी 'विजय बहारी' कविता में लिखा था—

स्ट्रेची डिप्लोमी लिटन त्रितय नीति के लाल ।
कैसे भारत सरकार भयो, काबुल युद्ध अकाल ॥

इस विषय के उपलक्ष्य में समस्त भारत में बीपानी द्वारा विजयोन्मास प्रकट किया गया था। यह देखकर भारतेन्दु भी ने कहा—

सुखस मिले अंग्रेज को, होय रुस की रोक ।
बड़े ब्रिटिश साम्रिज्य में, हमको केवल सोक ॥

वे अंग्रेजी शासन की वृत्तीति से अत्यधिक दुःख थे। उन्होंने कभी निर्भीकता से लिखा था—

सत्रु सत्रु बड़वाइ, दूर रहि छलिय तमारा ।
प्रसन्न होलिय चाहि, ताहि मिलि दीजे आसा ॥

भारतेन्दु भी भारत की दुरता देखकर कहते हैं—

सब मौति देव प्रतिशुद्ध, होइ यदि नासा ।
अब ठकहु वीरवर भारत का सब आसा ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परबालु उपाध्याय बहरीनारामध चौधरी प्रमथन" को कुछ उपाध्याय म इन राष्ट्रीय भावना का विकास मिलता है। वे अपनी एक कविता में कहते हैं—

हृष्या प्रयुद्ध युद्ध भारत, निज भारत दशा निशा का—
समस्त अन्त आंतराय प्रमुदित हो तप उसन दुःख ताका ॥
अरुणादय पक्षता-दिबाकर, माओ दिशा दिशातो ।
दृष्टा नय समाह परम पायन प्रकाश पैशानी ॥

इसी में भारत के प्राचीन मोरव की रक्षा की विन्ता से बस हो कर उपाध्याय पास्वामी ने कहा था—

मैं हाय-हाय से भाय पुकारों रोई ।
भारत की सूखी नाक सवारों कोई ॥

श्रीकांत पाठक द्वारा रचित भारत-पीन की हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके इन मोर्चों में भारतभूमि का प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक शोच्य मातृभूमि का महत्व एवं देशानुराग की भावना साकार हो उठी है।

भारतभू-कामीन देशभक्ति राजभक्ति-समन्वित थी। सन् १८३७ के वैदिक-विद्रोह के पश्चात् त्रिभू स्थिति का बन्ध हुआ था। परमेश्वर राष्ट्रियता के बन्ध स्वर्ग का उच्चारण सम्भव न था। अंग्रेजी शासन में इस विद्रोह का समय जिस निरंकुशता से किया था उसे भारतीय भूमि न ले किन्तु महाजमी विक्टोरिया के घोषणापत्र और शासन के परिवर्तित रूप से उनके हृदय में दृष्टिकोणवाली अस्मिता की धमिली को अस्मात्कारित कर दिया था। यही कारण है कि हमें भारतभू-कामीन काव्य में भी राष्ट्रियता के ऐसे स्वर ही सुनाई देते हैं। दूसरे और राजा राममोहन राय स्वामी ब्रह्मसम्यक श्रोत्रयकृष्ण परमहंस प्राणि सामाजिक पुत्रभूमि पर राष्ट्रीय भावना कायम करने में प्रयत्नशील थे। अत्यन्त रूप में यह सामाजिक आन्दोलन था किन्तु इस आन्दोलन के अन्दर में भी राष्ट्रीय भावना निहित थी। इन राष्ट्रियताओं का महत्व देश को सामाजिक और सांस्कृतिक पराजयता के बन्धनों से मुक्त करना था पर इनके आन्दोलन से जो बल-आर्पित हुआ यही जो वह राष्ट्रीय पराजयता से मुक्ति पाने की दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण न थी। इन राष्ट्रियताओं में राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से स्वामी ब्रह्मसम्यक का प्रयत्न विशेष महत्वपूर्ण था। स्वामी जी के हृदय में अपने देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वे अशुद्ध भारत से प्राचीन वैदिक मस्तिष्क का पुनरुत्थान करने के आकांक्षी थे। विदेशी शासन, विदेशी मन्त्रता और विदेशी शासन सभी को वे भारतीयता के विरुद्ध जानते थे। उन्होंने इन पर तीव्र प्रहार किया है। वे अपने देश को एक ऐसी राष्ट्रियता से जोड़-बीठ देना चाहते थे जो सर्वथा भारतीय थी। उनका विश्वास था कि इन देश में ऐसी राष्ट्रियता का काम और विकास वैदिक धर्म और वैदिक मस्तिष्क के योग से ही सम्भव है। यद्यपि उनका इन राष्ट्रियताओं का काम अथवा द्विगु राष्ट्रियता कहा जा सकता है। जो कुछ भी हो पर हमें समझे नहीं कि स्वामी ब्रह्मसम्यक पराजयनी से अपने निरन्तर प्रयत्न से किस राष्ट्रियता को जन्म दिया उनका उनके पश्चात् विरहित होने-वाली भारतीय राष्ट्रियता के विकास में महत्वपूर्ण योग है। यह कहने का अर्थ है कि स्वामी जी भारतीय राष्ट्रियता का जनक भी हैं तो यह अनिश्चित न जानी। भारतीय राष्ट्रिय आन्दोलन के अन्तर्गत के दिनों में दिन भारतीय देश-भक्तों में देश का

निर्भीक नेतृत्व किया उनमें से अधिकतर के जीवन का निर्माण स्वामी दयानन्द के धार्मिकता के प्रभाव से ही हुआ था ।

यदि हम सन् १८२७ के सैनिक विद्रोह को भारतीय राष्ट्रियता का प्रथम उत्थान मानें तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में चलने वाले धार्मिकता को द्वितीय उत्थान कहना ही उचित होगा । स्वामी दयानन्द के युग और इसके परभाव भी जो काव्य रचना हुई उनमें से अधिकतर को हम प्रचारक रचना माने ही रहें, पर इन रचनाओं का राष्ट्रीय दृष्टि से भी महत्त्व प्रतीकार नहीं किया जा सकता । द्वितीय युग में रचित बालू मैत्रिणीतरण गुप्त को 'भारत-भारती' पर भी दयानन्द की विचारधारा का कम प्रभाव नहीं है । यह प्रतीकार नहीं किया जा सकता कि गुप्त की भी भारत-भारती सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण काव्यकृति है । गुप्तजी ने 'भारत-भारती' के परभाव जो काव्य-कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को प्रभाव दीं उनमें भी राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव नहीं है । 'वही जनता 'भारत-भारती' काव्य-रचने में भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक महानता का स्मरण किया उतकी पुनर्स्थापना की प्रेरणा देता है । वही जनता स्वदेश-संगीत हमारे हृदय में विस्तृत देश-प्रेम की भावना जन्म देता है । गुप्तजी हृदय से पूछ रहे हैं, यही कारण है कि हमें जनता सभी काव्य कृतियों में कभी-कभी राष्ट्रीय भावना के चरण हुए बिना नहीं छोड़ते ।

गुप्तजी के परभाव हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास को दृष्टि से पवित्र मासतमान अनुभवों 'एक भारतीय धारणा का स्वान महत्त्वपूर्ण है । अपने कवि-जीवन के धारणा से ही वे 'राष्ट्र-देवता' की धारणा में व्यस्त रहे हैं । उनके हृदय में विदेशी शासन के सत्कार को धार्मिकता के लिए एक धर्म प्रकृतित रही है जो हम उनके काव्य में विद्रोह के विस्तृत के रूप में दिखाई देती है । भारतीय धारणा की राष्ट्रीय भावना बहुमुखी है । उन्होंने कवि-रूप में भावना के बहुमुखी पुष्पहार उतपिष्ट करके ही स्वीकार नहीं किया बल्कि अपने कवियों में विद्रोह और देश-प्रेम की भावना जागृत कर एवं राष्ट्रीय धार्मिकता को सक्रिय प्रति प्रदान कर हृदय में धर्म की भावना का भी सीमाय प्राप्त किया है । इससे उनकी राष्ट्रीय भावना अधिक बलवती हो गई है, जो हमें उनके काव्य में स्पष्ट दिखाई देती है । उनकी हिमचिरीटीनी और हिमचिरीटीनी कृतियाँ उनकी इस प्रकार की रचनाओं के संकलन हैं । पापको "मयराष्ट्र" कविता को कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मैं यह ब्रह्मा पत्यरी पर चढ़, मेरा बिलबर नहीं मिलेगा ।
पूक जसा मैं सोना चढ़ा, सभी कान्ति का मुमन बिलगा ॥

बहान सिंघाके हँस-हँस सागर गरजे मस्ताना-सा ।
 प्रसाध-राग अपना मो उसमें, गूँथ पजे ताना-वाना सा ॥

बनुवैही बी की सभी काव्य-कृतिषो म राष्ट्रीयता बूट-बट कर मरी दिखाई देही है । वे अपनी धनक रचनामा में अत्यधिक उद्य हो बठेई उदाहरणमा हिमकिरीटिनी' की निम्नांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

पसि होने को परवाह नहीं, मैं हूँ कष्टों का राक्ष्य रहे ।
 मैं जाता, जीवा-जीवा हूँ, माता के हाथ स्वराक्ष्य रहे ॥

× × ×
 रक्त ही ? या है नसों में सुद्र पानी ।
 जीप कर, तू सीस दू दू कर जवानी ॥

× × ×
 बड़ बस, बड़ बस बक मत रे,
 पसि पय के सुन्दर जीब ।
 लय कठोर शिलर के ऊपर,
 है मंदिर की सीब ॥
 पड़े - बड़ य शिला - बड़,
 मग राके पड़े अचेत ।
 बम्हें साँप तू यदि आना है,
 तुम्हे मरण के देत ॥

यद्यपि राष्ट्रीय महासभा (काङ्ग्रेस) का काम सन् १८८६ म हो चुका था और उस से देश के शासन म अविश्व-सै-अधिक स्थान प्राप्त करने का आन्दोलन आरम्भ हो गया था तथापि आन्दोलन का बहू रूप न था जिसके द्वारा देश को पराधीनता से मुक्त किया जा सक । यह आन्दोलन नहीं बरन् अंग्रेजी शासन के साथ भारतीयों का समझौता था । इस समझौते के द्वारा शासन को प्रथम राते हुए अविश्व-सै-अधिक शासनाधिकार प्राप्त करता ही राष्ट्रीय महासभा का उदय था । अन्तर्गत तरीके से इस सभा के अविश्व-सै-अधिकार प्राप्त हुए प्रतिक्रिया बुरा प्रस्ताव पारित कर साम्याधिकारों की माँग का जता था । सन् १९०५ म सार ४२२ के द्वारा बंगाल का विभाजन होने पर बय भंग आन्दोलन आरम्भ हुआ विन्तु देश म अत्यंत अन्-आतुल का अभाव था जिससे यह आन्दोलन अविश्व-सै-अधिक बल म नकड़ गया । इसके साथ ही 'रवैशी आन्दोलन आरम्भ हुआ विन्तु यह आन्दोलन भी देश म राजनीतिक अठना अत्यंत प्रभाव में न जा सका । सन् १९१४ म अन्त विदेश युद्ध आरम्भ हुआ ५६वीं शासन की बाधा पर विश्वास कर भारतीयों म अंग्रेजों को अन्-अन् से बहायता की ।

सन् १९१५ में कांग्रेसों की विजय के साथ युद्ध समाप्त हुआ किन्तु शासन ने "टीसट ऐक्ट" के रूप में भारतीयों को जो कुछ दिया वह वापस भेजकर था। भारतीयों ने इसका विरोध किया और परिणामस्वरूप बसिवाल बाला बाप' की मानवता को सज्जित करनेवाली बुद्धि का पक्ष उपस्थित हुआ। 'माण्डेयू चेम्सफोर्ड योजना' के अनुसार भारत में 'इथ शासन' धारम्भ हुआ पर भारतीयों को इससे सन्तोष न हुआ। वे जलियाँवाला बाग का मर्मक हत्याकांड न भूल सके। देश भर में कांग्रेसी शासन की बबरता के विरुद्ध विद्रोह की पहासा प्रदर्शित हुई रही थी। इसी स्थिति में सन् १९२० में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन नागपुर में हुआ। महासभा को बागडोर महात्मा गांधी के हाथ में आयी। सन् १९२१ के धारम्भ के होते-होते महात्माजी ने देशव्यापी असहयोग आन्दोलन का घोषणा कर दी। यह आन्दोलन अपनी विविध आशाओं के साथ देश के कोने कोने में सक्रिय हो उठा। भारतीयों की उच्च राष्ट्रीय-भावना को कुचलने में कांग्रेसी शासन ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु वह आन्दोलन को पूरा रूपेण निमृग करने में समर्थ न हो सका। आन्दोलन कभी मन्द और कभी तीव्र गति से चलता रहा।

११ दिसम्बर सन् १९२६ को अमरावती को राष्ट्रीय महासभा अधिवेशन में पंडित जवाहरलाल नेहरू को अध्यक्षता में रातो राती के तट पर "पूछ भारतीय स्वतन्त्रता" की घोषणा की। इस घोषणा के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन "कानून भंग मर्यादा" के रूप में सामने आया। पुनः देश के अनेक अर्थव्यवस्था देशभक्त भारतीयों से भर गये। इसके परिणामस्वरूप अखिल भारतीय आन्दोलन विमान आन्दोलन आदि का अन्त हुआ और देश राष्ट्रीय चेतना में पुनः हो गया।

सन् १९१९ में द्वितीय विश्व-युद्ध धारम्भ हुआ पर कांग्रेस तथा उसके प्रभावित भारतीयों ने इस युद्ध में शासन की महायत्ना नहीं की। सन् १९४० में "स्वतन्त्रता मर्यादा" धारम्भ हुआ। इस आन्दोलन में जन आन्दोलन को तरङ्ग उठना न प्यो। पर मर्यादाहीन न देश के कोने कोने में फैल चुककर जो जन जागृति का असौ का परिणाम सन् १९४२ का 'मारन-चौड़ा' आन्दोलन था। यह भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किया जाने वाला अन्तिम और सर्वाधिक उच्च आन्दोलन था। देश के मुक्ति के इन आन्दोलनों का प्रभाव सर्वव्यापी था फिर हिन्दी के कवि ही अग्रगण्य अंग्रेजों के विरुद्ध मरने से ? सभी प्रमुख कवियों ने राज्याध्यक्ष-रचना कर देश की स्वतन्त्रता के लिए दिये जाने वाले महायत्न में साहसिक सेवा करना कर्तव्य समझा। श्री रामदास त्रिभुवनकर बालकृष्ण शर्मा तथा साहजिक त्रिभुवन कुमारी चौहान आदि के ही नहीं बल्कि छाया बाबू वगैरह प्रभाव और विरागता तथा हानाहारी बर्षन तक के काल में राष्ट्रीयता के स्वर सुनाई पड़ने लगे। श्री विनकर ने "हुंकार" के माद कहा—

अग्नि की नाकों से मुकुट जीत, अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का धामम छीन, कूद मैं आप लुट्टी हो जाती हूँ ।
धर-धर करते कानून न्याय इंगित पर इन्हें नचाती हूँ
भयभीत पातली पगों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ ।
सिर मुझा घमण्डली सन्कारों कगती मेरा अर्चन-पूजन ।

रिश्कुर बी का बचि बिदेसी शान्त के प्रति विद्रोह कर उठ घोर वह अग्नि
के स्वरो में बोला—

फेंकता हूँ मैं लोड़-भरोड़, अरी निन्दुर पीणा के मार,
उठा चौड़ी कः बरखल शंख, फूँकता हूँ मेरव हुंकार ।
नहीं जैसे जी सकता देख, विरय में मुझा तुम्हारा भास
बेदना-मधु का भी कर पान, धास उगर्भंगा गगल कराम ।

अन-जोवन पराधीनता से उठ चुका था । राष्ट्रीय पादोत्थन बन रहा था पर
तमस्त देता पराधीनता की बाल-गधि से घाबृत था । स्वतंत्रता के नुरोडव के सचन
बिबाई न दे रहे थे । बिदाही बचि-हृदय परगनता से मुक्ति पाने का कोई धम्य माक न
देख नपुन बैठ में एक ऐसी अग्नि होने की बरना कर रहे थे जो शान-लगाप से बस्त
बिन्व का दत करके उलके स्थान पर नवीन विरय का निर्माण करने में लगप हो ।
न ब दू एवा भीत चुका थे जिनसे उबल-बुवल मक जाव के नमान पंनगपा म
हरी मवार की अग्नि की कामता निहित है । नवीन जी म भारत का सम्बाधित
करते हुए बहा—

आ भिम्यमंगे, अरे पतिग तु आ मशखुम अर बिर रोडित,
तु अरखड महार शक्ति का, उग अरे निद्रा-अम्माहित ।
प्राणों का तड़पानेबासा हुंकारों म जल-भसत भर दू,
अनापार क अम्पारों में अपना अक्षित पलाता भर दू ।

नवीन जो न एक राष्ट्रीय पचि के रूप म ही नहीं बरन् राष्ट्र के एक बमठ गुर
तीनिक के रूप में भी दैत की मुक्ति के धार्मीतन म योगदान किया है । हम विचि में
अनकी बापी से धानिबाल प्रमूत होगा मकका स्वायाधिक ही है ।

बौद्ध साहसमान विचरी का स्थान भी हिंदी व राष्ट्रीय बचिवा में मशकपूना है ।
वे एक दीर्घावधि एक धम्य द्वारा देव के तगका में उरमव का मावता जानून बरते
रहे हैं । उगान परार्थनता का घंन करन के लिए धार्मीतन की धावरयता पर बन
देते हुए बहा—

आँसू बिल्वराते धर्मोंगी जलता जायन घड़ियों ।
बिना चदाय शारा, नहीं दुर्गेगा मा की कड़ियों ॥

गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ देश का एक तरफ़ आन्तिकारी बन भी अपनी दृष्टि से भारतीय स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। यद्यपि उनका यह प्रयत्न हिंसा की प्रवृत्तियों से पुष्प या लतापि उनके इस प्रयत्न में जो भावना निहित थी उसका महत्व भी अस्वाकार नहीं किया जा सकता। उनके इस आन्दोलन के देश के तत्त्वों में जोरता के भाव प्रचर्य जागृत हुए थे किन्तु गांधीजी के आन्दोलन का प्रभाव अधिक व्यापक था। यही कारण है कि इन दिनों जो राष्ट्रीय गीत सिखे गये उनमें 'शोश देने' को ही अधिक भावना जो 'शोश उठारने' की भावना नहीं थी। जो सोहनसाम त्रिबेदी का उपपन्न पंक्तियों में श्री हम यही बात देखते हैं। आत्मोत्थान की यही भावना सुभद्राकुमारो बीशान को इन पंक्तियों में निहित है—

सुनूँगा माता को आवाज,
रहूँगी मरने को तैयार।
कमी भी उस बेबी पर देव,
म होने दूँगी अत्याचार ॥
म ज्ञान दूँगी अत्याचार,
बल्लो में हो जाऊँ बलिदान।
मातृ मन्दिर में कुछ पुकार,
बड़ा दो मुझको दे भगवान ॥

भारतीय परम्परा कमी भी हिंसा की समर्थक नहीं रही उसने बीरता में भी सार्विक बला के बहन क्रिये। यही कारण है कि हम स्वतंत्रता-आन्दोलन के दिनों में भी हिन्दू के कवियों ने राष्ट्रीय भावना से पुष्प जो काव्य-रचना की उसमें हम स्वदेशामिमान और सार्विक धोर भी अधिक परिमाण में पाते हैं। धारावाही पन्त ने 'सुमास' की रचना के साथ धारावाही युग का समर्थन की शोषणा की और वे एक जनकवि के रूप में "सुपबाही" तत्पर उपस्थित हुए। उन्होंने कहा—

रुद्धि रातियाँ जहाँ न हों आधारित,
श्रेणिक-बग म मानस नहीं विभाजित,
घन बल्ल से हा जहाँ न जनधर्म शोषण,
पूरित मज ज्ञानन के सकल प्रयाजन ॥

धारावाही की तब-निर्माण की शैली में जो बहा जा रहा है वह अविच्छिन्न पन्त एक युग पुष्प वह बुके व—

रुद्ध रम्य निमाण करो ह रम्य बस्तु परिधान,
रम्य बनाओ गृह जन-पथ को रम्य मगर जन-स्वान ॥

पल भी की 'दुग्धाचो' और 'शाम्बा' राष्ट्रीय भावना का ही प्रतिनिधित्व करती हैं ।

श्री निरुसा भी ने देश के तर्कों को संबोधित करते हुए कहा—

पशु नहीं पीर तुम ।
समर शूर कूर नहीं,
काल-बक में हो वृषे
आज तुम राजकुम्बर समर सरताज ।
पर क्या है, सब माया है-भाया है ।
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा—बिहीन—वध छन्द क्यों !

प्रसार भी ने स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रीय गीतों का निर्माण नहीं किया किन्तु उनके अन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त विरुमादित्य धारि नाटकों में अनेक गीत प्रसार राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्य मिलते हैं । इसी प्रकार बालू सोबित्क बाल एर्ष हरिकृष्ण प्रेमी धारि के नाटकों में भी इस प्रकार के गीतों का प्रभाव नहीं है । राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से वं रामनरेश बिपाटी के 'पबिक' बालू सिमारामशरण गुप्त के 'मीय विषय' वं श्यामनाथयल पाण्डेय की 'हृषी घाटी' सोहनमाल त्रिवेदी की 'मैरवी' दिनकर की 'हुंकार' भीष्मामर बिपाटी 'प्रवासी' के 'उद्योग' त्रिशू भोकी त्रिशूल-ठरंग' धारि का भी महत्व प्रसंगिक नहीं किया जा सकता । प्रगतिवादी युग बहाँ एक और मार्क्स की समाजवादी विचारधारा का परिणाम है बहाँ यह दूमरी और भारत को तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की भी देश है । अतः हमें बाद के प्रभाव में रचित कविताओं का भी राष्ट्रीय भावना से पूर्य काव्य-साहित्य के अन्तर्गत ही स्थान समझना चाहिए । हम इस प्रकार कबीर-बाल से वर्तमान काल तक हिन्दी-काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का एक ऐसा प्रवाह देगते हैं जो कभी शिविल गति से और कभी इतलति मे प्रवाहित होता हुआ भारतीय जन-मानस को प्रभावित करता रहा है ।

नवयुग-काव्य-साहित्य की तीन विभूतियाँ

बामू जयराकर प्रसाद

प्रसाद जी का जन्म माधव शुक्ल दशमी सं० १९४६ को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य-परिवार में हुआ था। बामिकृष्ण घोर शानशोभना इस परिवार की परम्परा थी। प्रसाद जी ने युवा होने के पूर्व ही अपनी माता के साथ पारसपुर धौकरीरेबर, माण्डाटा पुष्कर, जयपुर, इत्र धरोप्या आदि स्थानों की यात्रा की थी। वे धर्मरक्षक की यात्रा से धर्मबिहक प्रभावित हुए थे। माता-पिता की मृत्यु हो जाने से प्रसाद जी ने सातहों बेटी से हो शांता नामा बन्ध कर दिया और घर पर ही अध्ययन करने लगे। वे बह उपनिषद् साहित्य आदि का अध्ययन करते और ब्रह्मण भी देखते थे। उन्हें क्यानाम में बहुत रुचि थी पर क्यानाम से बिड़ थी। शानशोभना घोर धर्मोरी घोड़ना न चाहते थे। परिश्राम-वहकन क्रम का भार बड़ गया। उन्होंने किमी तरह यह श्रम बुझाया और वे ब्रह्मण से पुष्कर ही साहित्य-भाषना में ही लग गये। उनकी सम्मति से उनके भाई की धर्मिकाप्रसाद ने "इन्दु" मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया। प्रसाद जी सब प्रथम इसी पत्र के द्वारा हिन्दी-संघियों के परिचिन हुए।

प्रसाद जी का रचना-काल द्वितीय-युग में ही आरम्भ होता है। उनकी "महापणा का महत्व" और "प्रेम-पबिक" काव्य-कृतियों में १९७ में ही प्रकाशित हा चुके थीं। उस युग की काव्य-प्रवृत्ति के अनुसार प्रसाद जी न आरम्भ में प्रथमाया में ही काव्य-रचना आरम्भ की थी। "बिन्नाकार" प्रसाद जी की प्रथमाया की रचनाओं का ही संग्रह है। लड़ा बाली की घोर प्रवृत्त होने पर आपने "महापणा का महत्व" और "प्रेम-पबिक" के प्रतिरिक्त "कालन कृमुम" तथा "करनामप" की भी रचना की। ये चारों द्वितीयकालीन कविता क संग की लड़ा बाली की रचनाएँ हैं पर इनमें से "महापणा का महत्व" और "प्रेम-पबिक"—उस युग की परम्परा के विरुद्ध प्रमुख हैं।

छायावाय के क्षेत्र में

पहिले काल का युग है कि बाबू दीपिनीशरण गुप्त और मुकुटपर जो पंडे आदि नूनन काव्याभिर्भ्रजा ने हिन्दी के काव्य में एक परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रहे थे। ताप्य कवियों पर इस नूनन अभिर्भ्रजा का प्रसाद पटना स्वाभाविक था। प्रसाद जी ने भी गुप्त जी और पाण्डेय जी के संग घर काव्य-रचना आरम्भ की।

“भरला प्रसार की इसी प्रकार की रचनाओं का संग्रह है जो सं० १९७५ प्रकाशित हुआ था। सं० १९८६ में भरला का द्वितीय संस्करण विस्तृत छायावादी रूप धारण कर प्रकाशित हुआ। विपार नाम की प्रीठ बिलस प्रम' (परम 'बसंत की प्रतीक्षा' धादि छायावाद की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। द्विपो-संसार ने सबसे प्रथम प्रसार की की इन रचनाओं में ही बंधनता की तरह संस्कृत-प्रचुर कौमलकान्त पत्रावली के दर्शन किये। इनमें 'बोली डार' (परम' धादि कुछ रचनाएँ ऐसी भी थी जो छायावाद की सीमा को पार कर रहस्यवादी रूप में पहुँच चुकी थी।

रहस्यवादी काल्य

प्रसार की के 'भरला के द्वितीय संस्करण में छायावाद के साथ जित रहस्यवाद का बंधन हुआ उतना विनाश हमें 'धर्म' में मिलता है। धर्म' वास्तव में विपलम्भ शृङ्गार की रचना है जिसमें प्रिय की प्रियतम के प्रति विविध रहस्यात्मक भावनाएँ बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई हैं। "धर्म" के परभाव प्रसार की की कुछ ही रहस्यवादी रचनाएँ "महर" और "कामायनी" हैं।

काल्य-सौष्ठव

"धर्म" प्रसार की की प्रथम रहस्यवादी रचना है पर काल्य-सौष्ठव की दृष्टि से प्रमुख है। करम रम इस नाम-वृत्ति का प्रथम रस है पर इसमें प्रसार जो ने करम लको का मूढम विवेकल करत हुए जित शोक्य की मति की है वह वास्तव ही घटिठीय है। प्रसार की के धर्म में जो शोक्य है वह उदात्त शृङ्गार के उन्मान धीर मिसल की वपुषो में बही। "धर्म" में घटील मिसल-गुण की पीड़ा-बाधिली समिपों बंधन का उधार प्रम की मारकता प्रियतम की मिसल-वस्यता का भाव्युं धीर लारे धर्मुषो का शोक्य एक मात्र ही उत्र मित हीता है। प्रसार जो ने धर्म उत्र बरला का परिचासन करत की घधीर है जिसकी सत्ता घनल धीर घञ्जत है। जो घनीभूत पीड़ा मस्तिष्क में समति बनकर एवध को बही धर्म' बनकर फूट पड़ा है—

“जा घनीभूत पीड़ा थी, मसलक में स्फुटि-सी आयो,
दुहित में धर्म बनकर, यह आज परसने आयो।”

बहि मसार के गुण दुग रूप धीर बरला से अनुप्राणित हीता धीर अपने रूप्य की माधमार्गो को अपने नाम-शारा व्यक्त कर देता है। जब घनीभूत पीड़ा की समिप बहि मातम में जागत हो उठती है तब वह अपनी तरह उमल विरह को बरला में दूबा देता है। वह जित धीर बहि शानता उत्र धीर उमे बरला का ही लामाग्य सिधार्द देता है—

नीचे विपुला परणी है, दुख भार वहन-सी करती ।
अपने स्वार धाँसू से कदना-सागर को भरती ॥

कवि जगती के कण्ड-कण्ड में अपनी ज्वालामयी जलन ही व्याप्त देखता है—

ये सब स्फुटिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ रोप बिह्व हैं केवल, मेरे उस महाभिखन के ।

पर कवि की विरवास है कि यह बरना-मय संसार उलझी करणा का प्रकाश पाकर
दुःख सख को अपनी बेनुबी भूल जाता है । वह अपनी ज्वाला स बहता है—

तेरे प्रकाश में जेहन प्रकाश बढ़ना वाला,
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करण्य सजाला ।

‘धाँसू’ का कवि विस्मृति की स्थिति में ही बरनाय देखता है इसीलिए वह
विरहव्य दुखी बसुबा के सदैव बेनुबी में सीई रहने की कामना करता है । वह निता
से कहता है—

विर दग्ध दुखी यह जमना जालोक मँगती तब भी
तुम मुहिन बरस दो कन-कन यह पगली माय अन्न भी ।

वह उन सखों की प्रतीक्षा करता है जिन सखों में जीवन के समुद्र में स्थिरता
होना उसमें चेतना को सहारा का प्रभाव होगा और सध्या प्रलय रात्रि का रूप ग्रहण
कर लेबो—

चतना सहार न चठगी, जावन-समुद्र यिन हागा,
सध्या हो सग प्रलय का, बिच्छेद मिलन फिर हागा ।

“धाँसू की निम्नांकित परिचयों में उल्लेखारी भावनाओं का पूरा विस्तार
मिलता है—

सहरों में ज्याम मरी धी, ध भँवर-पात्र भी ग्याली,
मानस का सब रम पीकर, हलका दी तुमने प्याली ।

कितना निद्रुर है प्रनार का विषयम । इमीलिए वे अपने विषयम स पूछते हैं—

तुम रूप-रूप ध केवल, या इत्य भी रहा तुमका ?

‘धाँसू’ के पश्चात् प्रभाव को की दूररी वाक्य-वृत्ति ‘सहर’ मानने चाते हैं ।
इसमें बिबिध भाव-सहरों संयुक्त हैं । इन संघर्ष की प्रथम रचना का शायद ‘सहर’
है । यहाँ कवि उस सहर की धार संकेत करता है जो मानव-मानस में उठकर समरे
जीवन को रसमय बनाती है । ‘सहर’ की रचनाया में रहस्यवारी भावनाओं के चित्रण
के अतिरिक्त प्रवृत्ति के मध्य रूप भी बरनीय है । उदाहरणार्थ यह शोक दर्शना —

कामावनी का नायक कोई दिव्य पुत्र नहीं किन्तु संसार का सामान्य मानव है। उसमें मानव की सभी विशेषताएँ और शेष बलमान है। भद्रा केवल सौम्य का उमड़ठा सागर और प्रेम की साकार मञ्जरी प्रतिमा ही नहीं बरन् उचाच जीवन की सत्यता बाहिनो भी है किन्तु मनु उसकी इस महानता को समझ नहीं पाता। वह प्रजापति जैसे उचा उचाके मन्त्राच शिशु को त्यागकर सारस्वत प्रवेश को भाव जाता है। वहाँ उसकी इजा से भेंट होती है। रूप-गविता इजा मनु को पाकर अपने को धर्म मानती है। वह बुद्धि और ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करती है, परन्तु वह मनु को सुमाय पर जाने का प्रयत्न करती है। प्रसाद भी ने इजा के सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह परम्परागत रूप-सौन्दर्य-चित्रण के स्तर से बहुत उच्च बराठल पर स्थित है। उदाहरण के लिये—

बिस्वरो अस्मकं क्या तर्क-मात्र ।

बचस्पष्ट पर एकत्र घरे ससृष्टि के सब विज्ञान ज्ञान,
या एक हाथ में कर्म-कलश बहुधा-जीवन रस छिये—
दूसरा या विचार ॥

इन पंक्तियों में विचार और ब्रह्म का मुखर सम्बन्ध इतनी ही है। राज्य-सौम्य तथा विसाय की बकाशों से मनु का मस्तिष्क विकृत हो जाता है। उसका धर्म भाव तथा शासन की एकलव्यता और निरंकुशता जैसे प्रजा के सम्मान से च्युत कर देती है। वह प्रजा का शोषमात्रक बन विराटा के एक बहन गर्त में जा पड़ता है। प्रसाद ने मनु की इस स्थिति द्वारा प्रजातन्त्रवाद का समर्थन किया है। इजा-रूप बुद्धि मनु के धारणाचार्ण से बस होकर उसका त्याग करने को उद्यत है, किन्तु मनु उसे विरहीनी बनाता जाहता है। इजा और मनु का यह संघर्ष उसके पतन का कारण बन जाता है।

एही समय भद्रा अपने शिशु के साथ वहाँ उपस्थित होती है। मनु उसे देखकर निरपन्न हो जाता है और परजाताप की ज्याना में जमने लगता है। वह रात्रि के संघर्ष म विरह के बाद पुन अपने बनावतकाल का परिचय देता है। भद्रा अपने मनु 'मानव' को इजा के संरक्षण में छोड़कर मनु की सौम्य में निरलती है। इसके पुर

ह सौम्य ! इजा का शुचि दुलार

हर लगा तेरा व्यथा मार ।

बह तपमया तू भद्रामय

तू मननशील कर कम अभय ॥

इसका तू सब मन्ताप निषय

हर न, हा मानव भाग्य उच्य ।

सबकी समरमता का प्रसार

मेर सुन सुन मों को पुकार ॥

कामायनी में इसी प्रकार को घनेक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। हममें प्रबंध काव्य की परम्परा का चाहे पूरा निर्बाध न हुआ हो परंतु इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य अब मनमन की एक महान् देण है। इसमें जोरन और जगत् की घटमूखी भावनाओं का जितना विशद और सूक्ष्म चित्रण हो सका उतना वरचित ही इस काल के अन्य काव्य में देखा जा सकता है। कामायनी प्रसार की के हिंदू बौद्ध तीव्र धारि के बहाल के गंभीर अध्ययन को परिणाम है। भावों की विशालता कल्पनाओं की रमणीयता तथा घनमूर्ती भावामिर्ब्रजना कामायनी की विशेषताएँ हैं। इसमें मानव कृतियों की घाम्बंगर प्रेरणाओं की सामिक विवचना की गई है। काव्य के स्वान स्वान पर प्रकृति के जो मध्य और मधुर चित्र उपस्थित किये गये हैं उनसे यह काव्य कृति बड़ी तीव्रमयी बन गई है।

भाषा और शैली

भाषा की वृष्टि से प्रसार के काव्य में हमें एक नूतनावयव विकास मिलता है। ब्रजभाषा ५ परचात् प्रसार की ने बड़ी बोधी से काव्य रचना धारम की और ज्यों-ज्यों जनका ज्ञान अनुभव बढ़ता गया और उनकी रचना में प्रीकृता भाठी गई त्यों-त्यों उनकी भाषा कर्मशा विकास की और बढ़ती हुई अविचारिक परिष्कृत और गंभीर बनती गई। प्रसार की को काव्य-भाषा संस्कृत-प्रचुर हिन्दी है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाहुल्य होते हुए भी प्रवाह में कोई अचट्टक दिनाई नहीं देना। संस्कृत-प्रचुर भाषामयी उच्चकोटि की गंभीर भाषा में मनोहारी काव्य रचना करने में प्रसार की को अतिशय सफलता प्राप्त है। भाषानुसृत अक्षर-व्यय प्रसारकी की एक प्रमुख विशेषता है। उनकी भाषा पूरा रूपेण भाषानुबन्धिनी होकर अक्षराल वधि से ब्रजना करनी बनती है। साहित्यिकता प्रसार की भाषा का प्राण है।

प्रसार की को काव्य-शैली सबका उनकी अपनी है। समुत्तम भाषकों में महान् भावनाओं को संकीर्ण की मधुरिमा के साथ व्यक्त कर देना प्रसारकी की शैली की विशेषता है। साहित्यिक प्रयोगों न प्रसार की की शैली में घनमूर्ती संकीर्णता सा की है। उनकी रचना शैली में अर्थहार-विधान का भी स्वान है, किन्तु उनके प्रयोग में कोई प्रयास दिनाई नहीं देना। भावों को सफ़ल और स्पष्ट ब्रजना ही प्रसार की के अर्थ कार-प्रयोग का प्रयोजन है।

उत्तरभारती का यह महान् साधक कानिक शब्द एकदली संवत् १९९४ को हिन्दो संसार को सबैब के लिए मुना कर स्वमनामो हो गया।

चिति में, - जस में, - नम में, अनिस अनस में
सिर्फ एक अज्यस्त शब्द - सा "सुप - सुप - सुप"
हे गूँज रहा सब कहीं,—

निराला जी की रहस्यवादी रचनाओं में हमें अन्धकार की उस भाव-बारा के दर्शन होते हैं जिसका विकास बंगला के रहस्यवादी कवियों की रचना में हुआ है। उन्होंने अपनी 'रेखा' कविता में प्रेम के उद्भव का निरूपण एक ही चेतन सत्ता की प्रकृति के रूप में किया है—

सब कुछ तो था असार
अस्तु ? वह प्यार ?
सब चेतन जो देखता
स्पर्श में अनुभव - रोमांच,
हर्ष रूप में - परिचय
भीषा क्सी न था हृदय यह
जहाँ में चेतन गति कथक मिलता कहीं ?

निराला जी जीवन भर कैवल सामाज्य और रहस्यवाद के प्रतिक्रम में ही चलने लगे, उन्होंने देश के जेष्ठिनों निस्तहाओं और कवियों की चिन्तित पर भी बुद्धिगत किया और उनको कदना जान उठे। उन्होंने मिथारी विषया पत्रों को छोड़ते कविक धारि के का चित्र उपस्थित किये हैं वे वास्तव में बड़े कष्ट और बमसर्थाँ हैं। उनके शब्दों में भारत की विषया का रूप देखिए—

यह इष्टव के मंदिर की पूजा सी,
यह दीर्घास्था सा शक्ति भाव में लीन
यह कूर कास ताँदक का स्मृति-रेखा सी
यह टूटे लक का छुटी सत्ता सो शीन-
दक्षिण भारत की ही विषया है।

निराला जी कवि और योग्यकार एक साथ हैं। 'कीर्ति' उनके शीर्षों का एक बहुरूप संकल्प है। इसके कुछ योगों में वे शीर्ष की सम्यक्ता में इन प्रकार को यथै है कि वे भावविमर्श के ही कूर का पत्रे। उदाहरणार्थ वे कवित्तों देखिये—

मधुप निकर कन्नरव भर
गति-मुग्धर पिङ्ग-प्रिय-स्वर
स्मर शर हर केसर-भर
मधुपूरत गध, शान

यहाँ स्वर-साधना ही निराशा भी का सबव बन गया है प्रथमिभ्यक्तिं नही ।

माया-शैली

प्रभाव भी की तरह निराशा भी की माया भी मस्तक-प्रभुर हिरो है किन्तु इनका यह-विश्राम जितना बंगला-यह-विश्राम क मनीष है, उतना संस्कृत प्रकवा हिन्दी पर विश्राम के समीप नहीं है । भाषा का रूप सबन समान नहीं है वह विषय धीर भाव के साथ सरस धपवा बुकहू होठा गया है । तब की प्रभावतामुक्त भावों की प्रथिम्यंजना करनेवाली माया संस्कृत के उत्सव शब्दों के बाहुल्य से कहीं-कहीं बड़ी पुष्ट हो गई है किन्तु इस स्थिति में भी वह कोमल काठ पदावली से युक्त है । भाषा का संगीतमय स्वरूप निराशा भी के काम्य की एक ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र दुर्लभ है । हिन्दी-काम्य की संगीत के स्वर प्रधान करने का ध्य निराशा भी की ही है । सभी पदावतियों का प्रयोग सामासिक शब्दों की एक संकी शृंखला धीर क्रिया-पदों का लोप निराशाभी की भाषा शैली की विशेषता बन गई है । उनको शैली के कारण अनेक स्थलों पर उनके काव्यमय भावों को समझना परत्यन्त कठिन हो गया है । उदाहरणार्थ, "राम श्री शक्ति-पूजा" की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

राजस विकृत प्रसूह-सुद्ध कवि विपम-सूह
विन्दुरित-वह्नि-राजाव-नयन-हत छदय बाय
सोहित लोचन-राषण-मद-मोचन-महीयान
राषण-राषण रावण-वारण-नात युग्म प्रहर

शब्द-विच-विचन धीर धानुप्रासिक प्रयोग तथा संगीतमय रूपक निराशाभी की माया-शैली की अन्य प्रमुख विशेषता है । यथा—

मुक्त शैराय मधु मलय मधुर
स्नेह-कपित किसलय मधु गाठ
शुभुम अस्तु नव नव मंचय,
सुदुला-बह जावन कनक-प्रमान

छंदों की स्वच्छंदता भी निराशाभी की एक विशेषता है बीमा कि पून-उद्धति पंक्तियों में देखा जा सकता है किन्तु हमारे इन कवन का वह प्रथिग्रह नहीं है कि निराशाभी के काम्य में छंदबद्ध कविगारों का मधका प्रभाव है । उनको छंदों के निर्वन्ध में रहकर मिलो गई अनेक कविगारें उपलब्ध हैं धीर के भी उगी ही गुप्तर, मधुर धीर मावपुष्ट है जिनको कि उनकी स्वच्छंद प्रेमा की रचनाएँ हैं यथा—

यमुना के प्रति कहो गई ये पंक्तियाँ हैं—

किसका रूपों का आँसुओं की, पक्ष्मद छाया में अज्ञान
सौजन की माया-सा आया, मोहन का सम्मोहन ध्यान ।

गद्यलुब्ध किन अस्तिबाधा के, सुग्ध हृदय का स्रष्टु गुहार सेरे हग-सुसुमों का सुपमा, जोक रहा है बारबार ? यमुने ! तेरा इन सहरों में, किन अधरों की आकुल तान पाँचक प्रिया-सी जगा रही है, उस अतात के नीरव गान ?

सुमित्रानन्द पत्र

पंढरी का जन्म घ १९२७ के ईशाक माघ में कौशाती भक्तमोड़ा में हुआ था। इनके पिता • बंगारत पत्र एक भवनिपायी जमीदार तथा कौशाती उम्मे के कोषाम्यक थे। पंढरी ने अपने पाँच में धारमिक शिक्षा समाप्त कर सं० १९७१ में बंगारत से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की थीर उष्क शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रयास के स्वर छेदल कासेक में प्रवर्ती हो गये। यहाँ कलका प शिक्षापर पाएडेमे से परिचय हुआ और काही के निर्देशन में उन्होंने कसमी तथा सहाय के प्रमुख कविओं के काव्य का प्राम्यन किया। इसी समय देश में घसटयोग प्राथोलन धारंम हुआ। पंढरी ने भी कासिक छोड़ दिया और ने अपने घर जाकर पारचात्य साहित्य ग्रंथों की रचनाओं का अध्ययन करने लगे।

काव्य-रचना

पंढरी का रचना-काल लदमन सं १९७५ से धारंम होता है। इनकी सं० १९७५ से १९७८ तक की धारंमक रचनाएँ उच्छ्वास में लघुहीत हैं जो सं १९७८ में प्रकाशित हुआ था। इसके परचात् 'बीछा' प्रकाशित हुई जिसमें कुछ त्रिंकी-यग के हग की धीर बुध धायाबार का समास देसैकाली कविताएँ संसूहीत हैं। 'बीछा' को बुध रचनाओं पर रवि बानु की गीर्वाजि का प्रभाव भी मिलता है। पंढरी की प्रथम धायाबारी धीर रहस्यबारी कवि के रूप में प्रकट हुए। इनकी प्रकृति के निजिक कपो की लोभस्यसुनि की आत्मनिष्ठा ने ही सभ्यकत उन्हें रहस्यबारी कृति प्रयास की है। हम उनक रहस्यबार में भाव की सामप्रामितता का धावह नहीं पाते बर उनकी रचनाओं में स्वाभाविक गति से विभाव पाठा कृष्टिगोबर होता है।

'बीछा' के परचात् 'सं' की का पासक धामने धाया जिस ह्य साधकिकता-प्रधान काव्य बह उकते है। जिस ल कृष्टिक धरना का सूत्रपाय बीछा म हुआ था उसका पूर्ण विभाव 'परलक' में मिलता है।

दसि पंढरी के कसकस प्रम की बहानी है। बहानी के प्रथम उरवान में कवि प्रम की कानव सुमि में प्रवेश करता है और द्वितीय उरवान में उस प्रम का कस विभाव के कसक सत में होता है। कवि का कथानक औपम्यासिक बंध का है। प्रमि में भाव कसक बर एक दरग सुदिताबसदा में निवास जाता है एक दरकी कसकी तथा

सुभूषा में रच होनी है। दोनों में प्रेम ही जाता है। सनातन यह प्रेम-स्वापार अनुचित समझता है और उक्त तबन्धी का प्रति-बन्धन हमारे अविना से कर देता है। यही प्रति-बन्धन प्रथम तटस्थ के हृदय में सर्वत्र के निरु-विषाद-प्रति-बन्धन जाती है। यही कर्माणी 'प्रति' का मूलाधार है। पर हमने कर्माण्ड के विकास की प्रतीक्षा मौर्यशासनानुसृष्टि की बन्दगी ही पाठा उन्मास बेचना स्मृति धारि के माध्यम से धारि हुई है।

'पुत्र' में पंजो जीवन और जगत् के वास्तविक धीर स्वामाधिक क्षेत्र को धीर प्रकृत होते से विकारि देने है। अवि जीवन धीर जगत् के धर्मराज में प्रवेश करता है और अनुचित बितरे सौख्य को धनने हृदय में भर देता जाहगा है—

मेरे मन के मधुवन में सुपमा के शिशु मुसकाओ
नथ नथ सौंसों का सौरभ नभमुख का सुख परसाओ”

इसके परचात् बहु जीवन के विविध करों एवं विधमताओं की धरता करता है। इसके परचात् से “मुगात्” की रचना कर सामाजिक धीर अस्वभावो युग के धन की धीपया करते हुए वास्तविक जगत् को धीर पाते है। अवि बाह्य सौख्य से बृद्धि मोड़ उस जीवन-सौख्य का धरता करता है, जो सत्य पर धारित है।

“मुग्धाओ” पंज को का धापुनिकुम विचारधारा को समर्थ प्रेरक है। इसमें जगमान युग में सामाजिक-अस्वभाव धीर धन-विधमता से उद्भूत सभी प्रमुख धारों धीर जन धान्तियों का धामास है।

पन्थी की 'धाम्ना भारत के धाम जीवन के विविध परधुओं पर प्रकाश धानने वाली काव्य-कृति है। इनके धनिरिकत स्वयं कृति स्वयं-धरित उक्त मधुग्धास धीर युग-नथ पन्थो को धय रचनाएँ है।

काव्य-सौष्ठव

धय धामाधारी कवियों को उक्त पन्थो ने भी धारम्भ में आ कविताएँ विधो उनमें धय की धनेषा शध धनस्कार ही प्रथम र्था। धनेक स्वानों में धनेषा के लाधधिक प्रयोध धने-धने-धने धिन्ना के धनुधधित कर में र्थ दिने धने है। धने शध र्थे धने धीर उनक धारा कही एक धीर कही हो धधधध एक साथ र्थ हो धनी। धनी प्रथम कही-कही हो धधधधो का भी प्रयोध एक साथ धिया धना धिधना है। “धीना” धीर 'धधध' में धने धनक उदाहरण देने अ सकने है। इन धानों काव्य कृतियों में कने धीषा के धम का धाम है। कही धने के धाम धीर धनुधध है कही कनकनी हुई र्थनि है धीर कही धधध कवियों में काधम धाम धिन्नाया धेते है। इन्ही विधिन सधधधों के धारध धारम्भ में धामाधारी काव्य एक ध्येग धीर धान्य का धियन धना र्था।

'पल्लव' में कुछ रहस्यवादी रचनाएँ भी हैं। 'रचना' और 'वीथ-निर्वाह' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में कवि ब्रह्म-जगत के विविध रूपों और व्यापारों में किसी अपरम सत्ता का अनुभव करता और उसे जानने की यात्राया व्यक्त करता है। पद्यों में वही प्रिय और प्रीति को अपने काम में स्थान देता है वही भारतीय पद्य के अनुसार स्त्री-पुरुष के रूप में ही उपस्थित होते हैं। सुखी-व्यक्ति के अनुसार दोनों बुद्धिमान में ही प्रयुक्त नहीं होते।

'पल्लव' का कवि शोचनीपाठक है। वह प्रकृति के जिन रसों पर शोचनी-साधारण का जोर समझता पाता है वही उसकी दृष्टि रम जाती है। वह प्रकृति के विविध रूप देखता और उन्हें अपनी कल्पना की रचना के माध्यम के एक शरीर का रूप की तरह उपस्थित कर देता है। वह निराला धर्म को ब्रह्म-व्योमस्था से भरा देखा और उस शोचनी के बीच अपनी लक्ष्मी का अनुभव करता और उसका कवि बन्धु बनता है—

पिर परियों के पक्षों-से हम सुमग सीप क पंख पसार ।

समुद्र पिरत हाथि व्याख्या में पकड़ हनु क कर सुकुमार ॥

शोक और अपत् की प्रत्येक वस्तु उसके लिए अनोरम शोचनी से पूछ है। कवि के शब्दों में प्राण का शोचनी देखिए—

कल्पना में है कसकती वेदना ।

अधु में जाता सिसकता गान है,

शून्य आँसु में सुरने छप है,

समुद्र जग का क्या कही अज्ञान है ।

'पल्लव' पद्यों की उस रूप की रचना है जब यूरोपीय काव्य-साहित्य में "शोचनी-वाह" का निकपन 'रचना-वाह' के माध्यम से किया जा रहा था। पद्यों में प्रथम कवि है जिन्होंने अपने काम में शोचनी विवेचन की यह जनजात-दृष्टि प्रकृत की है। वे "पल्लव" के प्रथम रसों में शोचनी का संभव करते दिखाती हैं। किन्तु उनका वह शोचनी-संभव अपनी कला को संभारने का साधन है। उसमें शोक को शोचनी प्रकृत करण की समता नहीं है। शोचनीपाठक रस का कवि बूझ वा डरी में भी अपने शोचनी-रस भीते शोचनी की प्रिय पाता है—

सूख की डरा में अनजान ।

छिप है मेरे मधुमय गान ॥

कवि निराला कविताओं में उन प्रकृत को अनजान की तरंगों में भर लेने की शक्ति है, जो उसकी दृष्टि के अनुभव के समस्त शोचनी का उद्धार है—

अरे विश्व-अभिनय क मायक !

अनिष्ट सृष्टि क स्यापार !

कर-कर की कम्पन में व्यापक,
 ये त्रिभुवन के मनोबिकार !
 ये असीम सौन्दर्य-सिंधु की,
 विपुल धीपियों के गृहकार ।
 मेरे मानस की सरङ्ग में,
 पुनः अनग बनो साकार ॥

पल्लवी परिवर्तन की एक धाँपी में धीर जीवन को बिगड़ होवा देखते धीर उनका कोमल हृदय सिहर उठता है । परिवर्तन प्रकृति की एक अनिर्वाय क्रिया है, उसे रोकना किसी के बल की बात नहीं पर उस क्रिया की जो प्रतिक्रिया जन-जीवन पर देखी जाती है, वह निरवय ही मम-स्वार्थिनी है । इस प्रतिक्रिया को देखकर कवि-हृदय बेदना से तड़प उठता धीर वह चुश्च हो कड़ उठता है—

अहे निष्ठुर परिवर्तन
 अहे वासुकि सहस्रफन
 छस अलक्षित अरथ तुम्हारे चिह्न निरंतर

मानव-मन मयाबह से भयाबह धीर महान् शोकप्रद स्थिति में भी ध्यान लिए सात्वता का साधन कुछ ही लेता है । यदि वह यह शक्ति खा दे तो अपत् धीर जीवन के अवनत में विलम्ब न लगे । 'पस्तन' का कवि मा परिवर्तन की निपटुछा पर चुम्प होने के पश्चात् अपने हृदय को सात्वता देता हुमा कहता है—

चूँती नयन मृत्यु का रात,
 आसती नव जीवन की प्रात ।
 मुान-कुमुमों की मृदु मुस्कान,
 फलों में लमछी फिर अमान ।

पल्ल में कवि परिवर्तन के प्रहार से निरारा जीवन में 'मनु-संभव' करता धीर उससे] उसके प्रात स्वमित्त होने लगेते हैं—

रे गूँज छटा मधुवन में
 नव गुञ्जन, अभिनव गुञ्जन,
 जीवन के मधु-सचय को
 छठता प्राणों में स्वम्दन

ये पल्लवी के 'गुञ्जन' की वंशियाँ हैं । 'गुञ्जन' उनके जीवन अनुभव के द्वितीय रूप को लेकर उपस्थित होता है । यहाँ वह मानव जीवन में कुल धीर गुण गृहि धीर अवनत दोनों की आबरवकता अनुभव करता धीर दोनों को मजान म्त्व प्रदान करता

[साहित्यिक निबन्ध :
 है तथा दोनों विषय स्थितियों के बीच घपने बीचन की प्रगति शीघ्र देखने की कामना
 करता है—

मुख मुख के मधुर मिलन से
 यह जीवन हो परिपूरन,
 फिर धन में अमोक्ष हो शशि
 फिर शशि सं आमोक्ष हो धन ।

इसके परभाव पलकों पीरे-पीरे दुःख-मुग्धमय मानव जीवन में जीवन की गूठन
 भावना की प्रगति करते हुए करते हैं

भर मन के मधुवन में सुपमा के शिशु ! मुखकाओ !
 नय-नय साँसों का सौरभ नय मुख का मुख परसाओ ।

पलकों की तरह मुक्त न भी कबि की रहस्यमयी भावना अपने स्वामाधिक
 रूप में परिचित होनी है। वह वेदों में पूरे तक शय्य खासता मन-मोहक हृष्टिता
 किन्ति न वाच्य धर्मिणी देवता और लोचता है इन विलसत जीवन वाच्य के उच पार
 निरिचन ही कई महान् जीवन होया—
 दूर उन स्मृति के उच पार, उहाँ तक गई नील मन्थार,
 द्विपाछाया-धन में मुकुमार, स्वयं की परिचाँका ससार ।

कबि की रहस्यमय भावना में वाग्प्रवामिणता का प्रभाव है। वह मुक्ति का
 अभिप्राय नहीं है। वह सम्पन्न सत्ता के व्यक्त प्रसार में धानधानुभव करने में ही सद्भक्त
 मुक्ति मानता है। यह सद्भक्त मति ही उसकी भावना का परम सत्य है। पंजी की
 रसा भावना के कारण उनके स्वर्णार्थी बुद्धिभक्त में वाग्प्रवामिणता प्रमाण बन गई है।
 सत्ता यह भावना विरह के प्रति रचना में धार्मिक स्पष्ट विचार देनी है। कबि में इन
 रचना में सम्पन्न प्रति के बीच शरीर-बन्ध के स्वरूप में मति का विविध रूपत्वक
 विभाग विचित्र किया है। कुछ परिणामों होंगे—

सोई निजन का निवृत्त निवाम, नीद में बँध जग के सानन्द,
 भर दिव्य कलरव स किन्ति-धाम शूरों में धुमुमित मुदित अमन्द ।
 रिष्ट हाथ जब जब तरुवास रूप घर तू नय नय तत्काल ।
 नित्य नादित रम्यता साज्ञाम विरह के ध्वजयमट की डाल ।
 बँधत रहस्यमय भावना की बुद्धि में ही नहीं पर काम-कला के विकास की बुद्धि वे
 भी तब ही पलक हो घनेका मुक्त" में बहुत घने जग पड़ते हैं। "मुक्त" की
 काम्यार्थी "पलक" से धार्मिक व्यक्तियुक्त भयन मोड़ और तभी है। "मुक्त" में के
 कल्पना-व्यक्त की वाच्य वास्तविक जगत् के धार्मिक समीप है। "मुक्त" के परभाव

के कव्यों में उतका बीन धीर जगत में निहित सत्य का प्रतिकारिक विकास देखते हैं। उन्हें 'युवाय' में तमाल जीवन के धनेक पक्षों की सुन्दर धीर वास्तविक धमिर्भुगा की है। कहीं जीवन के मधुर स्वर्णों का नाम कहीं धमिर्भुग-जीवन की बेरना धीर कोंचा कहीं परिवर्तन की पुकार ये हो युवाय' के विषय हैं। कवि स्वप्नो-रिचा हो बहता है—

“जो सोय स्वप्नों के तम मे, वे जागेंगे यह सत्य बात ।
जो इस चुके जीवन निशीथ, व देखेंगे जीवन-प्रभात ।”

कवि इस विरक्त के साथ तखतद करता धारे बहता धीर सत्याधित जीवन सौदय की बहना म प्रवृत्त होता है। उसके मन में सौदय का धामोक-स्रोत कूट पड़ता धीर वह विरक्त धामय में नभभोजन प्रभात मान को मचम पड़ता है। वह बाह्य-जगत में स्नेह, सौदय धीर उल्लास का धमाय वा धपने धमर में एक एसी पृष्टि को रचना करने को उद्यत है जिसमें धाधी मानव के बहमाय के समस्त उपकरण उपमय्य हैं। युवाय का कवि नर-काल से मरे जजरित धीर चुबित जगत के बीच कला-सौदय के महान् प्रतीक ताजमहल को पर्वोपत देख चुम्प हो जाता धीर उसके प्रति मानव का धारण्य देख कइ उठता है—

“मानव ! ऐसी मी विरक्ति क्या जीवन के प्रति,
आरमा का अपमान, प्रेत धी छाया से रति ।
शय को व हम रूप रग, आदर मानय का,
मानय को हम कुलित चित्र बना दें शय का ।”

वह धोक-मंगम की कामना से धोतधोत होकर प्राचीन धीर शीघ्र जगत का धमर करने को एक विद्रोही के स्वर में कहता—

धुन मरुते जगत के धीर्या पत्र
ह ध्रस्त, ध्वस्त, ह शुष्क शार्ण,
धिम-ताप पीथ, मधु-बाध-मीन,
धुम धीतराग, जइ धुगाधीन ।
× × × ×
धरें जाति-धुध-धर्ण-धर्ण धन,
धध नीइ से रुद्धि-रीति धन ।”

'युवाय' के परधान हम 'धाम्या' धीर 'धुधधानो में कवि को स्वाभाविक जीवन प्रगति की धीर धमर देखते हैं। वह विविध विगमधर्णों को धमि में धुनसे मानव में धार्णिक धाम्य देखने को ध्य है—

वादा नहीं आंतरिक साम्य,
जीवन में मानव के प्रकृत्य ।

इसके परभाव पंत भी 'स्वर्णवृत्ति' और 'स्वच्छ-किरण' (कर उपस्थित होते हैं) इनमें से रूपनिपट-प्रतिपादित संस्कृति का उदय होते हुए कहते हैं—

“उसी सवगत पर ज्यों केन्द्रित
रहे मनुज गस में मयूर भी
षायस रहे परस्पर ।
सबके साथ अपापविद्ध
स्थित नम्हे-अक्ष रहे जग में नर ॥”

पंत भी ने 'सुवक्ता' में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से संबंधित सभी कार्यों को स्वागत किया है। यद्यपि जन कानों में निहित सत्य की स्पष्ट प्रतिबिम्बन नहीं है। कवि न समाजवाद और मापौवाद के प्रति भी धरना अनुपगत व्यक्त किया है। बाक-व्यवस्था की दृष्टि से 'समाजवाद के समर्थक' हैं पर व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से मापौवाद का ही महत्व स्वीकार करते हैं। समाजवाद के विचार में जनका दृष्टिरोध स्वर्ण है। वे समाजवाद को स्वीकार करते हैं पर न उसके संनल संकीर्ण प्रतिस्वकार नहीं मानते।

भाषा-शैली

कवि पंत की भाषा बहुत ही सरल है पर अंतर्गत इस काव्य भाषा का निर्माण उन्होंने स्वयं अपने हृदय पर किया है। उनकी भाषा तत्काल के उत्तम कवियों में कोमल ही नहीं है, पर वह उनकी कल्पना को शब्द-बाल प्रदान करने तथा उसके मनोभावों की व्यंजना में पूर्य सक्षम है। शब्दों पर उनका ध्यान स्वाभि ब है। उन्होंने ब्रजभाषा और कन्नड़ के शब्दों को भी अपने रच में रचकर स्वीकार कर लिया है। ब्रजभाषा के शीत बर्ण प्रदान करते तथा छारती के बीज भावान धारि एते ही सध है। उन्होंने स्वनिज विहित प्रहिन पुराकाल लपन-बाल धारि न जाने त्रिने नये शब्द भी बना लिये हैं जो सब क्षिप्ती काव्य में कड़ हो पते हैं। उन्होंने कुछ शब्दों का प्रयोग नहीं धरों की किया है। भाषा के लिए प्रयुक्त मात्र शब्द शब्द ऐसा ही हैं। तमें पंत की की भाषा नहीं-नहीं व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भी मिलता है। निग-प्रयोग में से कानों का-रूप से केमी कानी है। उनकी भाषा में लोकोक्तिपों और मुहावरों का पूर्य प्रार विनता है।

हिन्दी-साहित्य में यथार्थवाद

मानव-जीवन को किसी भी समस्या प्रथम स्थिति की प्रतिबिम्बित रूप उमके वास्तविक रूप में ही पायी है। तब वह उमका यथार्थ प्रथम गन्त बिन्दु कहलाता है। साहित्य का मानव-जीवन से अनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिए साहित्य में भी इस प्रकार की प्रतिबिम्बित होती पायी है। साहित्य का जो पक्ष वस्तुस्थिति प्रथम रूप का गन्त प्रथम प्रभाव बिन्दु करता है वह उसका यथावभावी पक्ष है। साहित्य का दूसरा पक्ष जीवन प्रथम समाज के यथार्थ रूप की ओर कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से संकेत मात्र करके उस रूप के प्रतिबिम्बित एक ऐसा प्रथम बिन्दु उपस्थित करता है जिसे देखकर प्रथम के प्रति ठिठकार प्रथम प्रथम त्वाय की प्रेरणा मिलती है। यह साहित्य का प्रथमभावी पक्ष है। धर्म भाषाओं के साहित्य की तरह हमें हिन्दी-साहित्य में भी प्रतिबिम्बित के ये दोनों रंग मिलते हैं। साहित्यकार प्रथम-रूप-बिन्दु के उक्त मानव के सामाजिक सम्बन्ध की स्वीकृति भी करता है। इस स्वीकृति के दो रूप हैं—सामाजिक और धार्मिक। प्रथम रूप को हम सामाजिक यथार्थवाद और दूसरे रूप को धार्मिक यथावभावी कह सकते हैं।

सामाजिक यथावभावी

प्रथम समाज के संगठन और संचालन के लिए कुछ निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है। ये नियम उस समय की स्थिति विराम और प्रारम्भ पर आधारित होते हैं। जिस काम में उस समाज का संगठन होता है। ये नियम विकृत-नाशित नहीं होते। कुछ नियम सर्वत्र ही समाज के लिए कल्याणकारी होते हैं। पर कुछ नियमों में समया-नुसार परिवर्तन भी आवश्यक होता है। परिवर्तन के प्रमाण में ऐसे नियम समाज के लिए अहितकर सिद्ध होने लगते हैं और अनाचार प्रथम साहित्यकार उक्त नियमों के प्रथम-रूप उल्लंघन सामाजिक स्थिति का प्रथम बिन्दु करना आवश्यक लगता है। हिन्दी का विभिन्न वास्तविक साहित्य उक्त काम की स्थिति अनोखता और जीवन का यथार्थ बिन्दु करता है। हमें प्रथम का कारण-साहित्य में प्रतिबिम्बित के बहीर, मूर और सुमसा के साहित्य में तथा ऐतिहासिक के श्रुतार-प्रिय बच्चों के काम में उल्लंघन समाज का यथाव रूप स्पष्ट दिखाई देता है। समाज का इस प्रकार का वास्तविक बिन्दु ही सामाजिक यथावभावी है। हम भारतीय साहित्य का यह यथावभावी बुद्धिमान प्रारम्भ से ही देखते बने पा रहे हैं। महाशक्ति कालिका ने 'मेकलू' में एक पत्नी-विन्दु स्थिति की प्रथमभावी और मानवोचित बुद्धिमानों का यथाव बिन्दु

क्रिया है। कुमार-सम्भव न उपनिषद् चिन्तन-वाचक के प्रथम समाप्तम का बह्य भी पूर्णन यथार्थवादी है। शूद्रक के मध्यकृतिक भाटक में भी निम्न कोटि के व्यक्तिमें के जीवन का सहानुभूतिपूर्ण यथाव बिचम है। भारतीय साहित्य का यह यथाववादी बुद्धिबोध प्राइड साक्षिय में सांस्कृतिक विरहित रूप में दिखायी देता है। कवि हान की गाथा-नप्यसनी इसका प्रमाण है। इस अर्थ में हान में सामान्य मनुष्य के वैदिक क्रिया-कर्मों तथा मानव हृदय की स्वाभाविक बुद्धियों का यथार्थ बिचम क्रिया है। इनम प्रम की विभिन्न परिस्थितियों और रूपों का जो बिचम है वह भी यथार्थवादी बुद्धिबोध का ही परिचायर है। गाथा-सप्यसनी के व्यभिचारी पनि की मनोवेदना का यथाव बिचम करने में हान को अनुभव्य सक्रमता प्राप्त है। गाथा-सप्यसनी को इस परम्परा का बिक्रम हय उसके परबालु 'घमच-ताक और पंचासिका' गूह्यार-सक धारि म मो देव मरने है। सामाजिक यथाववादी को इनो परम्परा का बिक्रम हयें हिरो के बिकारी देव एवम यथाव धारि के काम्य में मितता है।

इम वैदिक काल म ही बलु-विभिन्न पर साधारण धन-भ्रमरका रूप रहे हैं यद्यपि उन काल में धन का धार की तरह धारिक महम न था। भारतीय साक्षिय में एक गुरीय काल तक सांस्कृतिक-भ्रमरका में सम्मग्नित साक्षिय का सूत्रत हुआ नहीं जान पड़ता। दगता बारण ममभन भारत की संतुलित धन-भ्रमरका ही हो। डुमरे उम काल में धार की तरह समाज का एक बड़ा धन धन-पीड़ा न था जिसम सांस्कृतिक धन-विभाजन का प्ररन ही कभी उपरिचन नहीं हुआ।

जिगी भी बलु के महत्व का अनुभव इम उठ बलु की भूतता धनका प्रभाव की स्थिति म ही हाता है। धन का महत्व केवल उगकी उपयोगिता में है वह हमारी धारवधवाधा का प्रति या एक महान तापन है जब हम धनमात्र ही धनकी धारवध बनायाही प्रति नहीं करवले तब इम उगकी महता का बिरोध अनुभव होगा है। धनको के शासन में माध भारत में धन-नपय धारम हुआ। धन एक माध हो शासक धीर प्याराही बना। धन उनही नाति क कारण मात्र में सांस्कृतिक बिगमना का जन्म बनामा उरु था। एक धीर धनको शासन के दगावकों धार उनके दगावद में छायाक बनायाही की सांस्कृतिक धनका में उत्तरात्तर बलि होती मरी धीर डुमरी धीर सामान्य जना की सांस्कृतिक स्थिति मगम होतो बना। इम स्थिति में धन पर धारारन कर्न मपय का जन्म दिया। इम स्थिति का यथाव बिचम सीकर साक्षिय में यथाववादी का प्ररता हुआ।

मुरोत म धन की मगमता पर साधारण धन मंथन बहूत वहीने में धन र्था था। नो को सांस्कृतिक धारि ही रूप में सेकर हुई थी। धनिक दगावदी-धन निर्यन

वर्ष के शोष में घनुरक्त था। परिष्कारस्वरूप उसका सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। उस काल के संघर्षी साहित्य में हमें निपट-बग के इसी जीवन का यथावहारी चित्रण मिलता है। संघर्षी साहित्य में यह धार्मिक यथावहार हमें वाक्य में मिलता है। इसका एक रूप अत्यंत कठोर और क्रूर का व्यंग्य-पुच्छ है। कथ्य रूप में हमें यथावहार की स्पष्टता परिलक्षित होती है। इनके व्यंग्य रूप में यथार्थ के मास हस्त्य की भावना भी रहती है। हाइको का 'मेयर आफ ईस्टर्न चित्र यथावहारी चित्रण का कथ्य रूप है और ईनियल चित्र का 'गुनीवन टुम्बेन' यथावहारी चित्रण का व्यंग्यात्मक रूप उपरिष्ठ करता है। एसा ज्ञान पत्ता है कि संघर्षी शासन के उत्तर काल में भारत में यथावहारी साहित्य की रचना ठीक-बुरक की पर हमारे इस साहित्य का सूत्रपात परिष्कृत यथावहारी साहित्य के प्रभाव को लेकर हो हुआ था। हिन्दी के यथावहारी साहित्य पर भी पास्तुबर्गी शा संदरे, गोर्की आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

बैदिक काल से आज तक जो यथावहारा साहित्य उपलब्ध है वह दो प्रकार का है। एक साहित्य वह है जिसमें उस काल की सामाजिक स्थिति का यथावत् बखन प्रचारा चित्रण है। दूसरे प्रकार का वह साहित्य है जिसमें किसी काल विशय के व्यंग्य उसका नाम और उन कर्मों का परिष्कार बखित है। बैदिक साहित्य में बैदिक काल के घोर "रामचरित मानस" में योत्सामो तुलसीदास के काल का सामाजिक चित्र मिलता है। यह ममात्र-विषय में मुक्त साहित्य प्रथम प्रकार का यथावहारा साहित्य है। हमें 'महाभारत' में युधिष्ठिर कुशोचन जल प्रादि राजाशा के उल्लेख के मास उनका कालों का चित्रण तथा उसका परिष्कार मिलता है। रामचरित-मानस में भी राजस हाथ विदे गये परनाथी-हरण और उसके परिष्कार-स्वरूप उसके सपरिवार विनारा का बखन मिलता है। यह दूसरे प्रकार का यथावहारी साहित्य है। सभी भाषाओं के साहित्य में यथावहारी साहित्य के ये दोनों रूप उपलब्ध हैं। हमने स्पष्ट है कि 'यथावहार घान का क्या रस' मत ही हा पर 'यथावहारी साहित्य काल नहीं है। इस साहित्य की रचना प्रारम्भ से होती आ' है। मनुष्य ने जो कुछ देखा उगना वह यथावत् बखन करता आया है और जो कुछ अनुभव किया उसकी भी वह धारण में ही अनिन्दित करना आ रहा है।

बहु गुणावगाय के बदनामकार—'यथावत् वह है जो नियत प्रति हमारे सामने पटता है। उसमें पाप-पुण्य मुक्त-दुःख की रूप-छाँट का मिश्रण रहता है। यह सामान्य मास भूमि के समस्त रचकर बालविषयता से छोड़ा रहता है। रचक के व्यंग्य करने उनके लिए परी-देता की बरगुर्ण है। जो उसकी पृष्ठ के बखर है।' हमने स्पष्ट है कि

मथार्थवादी साहित्य में वस्तु के दोषों पक्षों गुणों-दोषगुणों सुन्दर-असुन्दर का समावेश प्राचुर्य है ।

मथार्थवादियों का एक दूसरा बल समाज के भूषण, प्रसुन्दर, हीन और असुन्दर रूप को ही मथार्थवादी साहित्य के अंतर्गत स्थान देना प्राचुर्यक मानता है । वह अंतर्गत सुन्दर, उच्च और उच्च स्वरूप को बलता की वस्तु मानता है । प्रपञ्चवादी युग के आरंभ में इसी आरंभ के परिणामस्वरूप मथार्थवादी कहे जाने वाले कवियों और कालों के द्वारा हिन्दी में अत्यन्त हीन भूमि साहित्य का निर्माण हुआ । इन मथार्थवादियों का यह भी मन है कि 'संसार-में सर्वत्र असुन्दर ही विद्यमान होती रही है और जो असुन्दर या बुरी दिखती होने पर उच्च और महान् माना जाता रहा । इस तरह सविधान् और विजयो 'पुरुषात्मा तथा शक्तिहीन और विच्छिन्न पायी जाना जाता रहा । मथार्थवादियों की यह चारका अमान्यक है । मथार्थवाद के अंतर्गत वस्तु, व्यक्ति और समाज का अन्तः हीन गुण दोषों कर्मों का मथार्थ विमल प्राचुर्यक है । उच्च को उच्च असुन्दर का उच्च सुन्दर को सुन्दर और असुन्दर को असुन्दर कहना ही मथार्थवाद है । वस्तु के दोष हीन पक्ष का विमल ही मथार्थवादी साहित्यकार का अन्वय न होना चाहिए । यदि वह ऐसा करता है तो उसका बुद्धिकोष एकदम ही और उसका साहित्य अर्थ-मथार्थवादी ही समझा जावेगा ।

हिन्दी-साहित्य में मथार्थवाद

हिन्दी-साहित्य में आरंभ से ही मथार्थवादी प्रवृत्तियों को स्थान मिलता रहा है । आरिक्तात्मक कवि अमोर गुप्तरी, नरवति नासु आदि की रचनाओं में भी हमें मथार्थवादी बुद्धिकोष मिलता है । अमोर गुप्तरी की निम्नांकित कृतियों में विद्योपनिषा नाविका का मथार्थवादी चित्रण देखिए—

सखी! पिपा का ओ में म देखूँ,
ता केस काटूँ धँपरी रतिकी ।

प्रायः ऐसा कहा है कि मथार्थवादी बुद्धिकोष में आरंभ से ही आदरवादियों का अभाव रहा है । कवियों ने जहाँ नायक नायिका के उद्धार प्रयत्न का चित्रण किया है, वहाँ अन्तर्गत हीन-असुन्दर तक का स्थान नहीं रखा । अन्तः बहुत प्रेम-निस्वार्थ भावना युक्त ही रहा है । हममें भीति और अर्थता का कोई स्थान नहीं है । कवि विद्यापति ने कहा भी है—

मनमधि मदन महार्थि पदसुख
सुखल सुख मरजाद ॥

विद्यापति यह स्वीकार करते हैं कि प्रेम ही उन्मुख और उद्धार विधि प्रयी और प्रियता की विवेकीय बला देता है । इन विधि पर अन्त विनाश और परचात्ताप में ही

होता है। कवि की यह यथार्थवादी भावना निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है—

कुल-कामिनी छत्रों, कुलटा भये गैरों तिनकर मचन खोभाई ।

घपने कर हम मूँड मुझापल कानु प्रेम बढ़ाई ॥

खोर रमनि अनि मन मन रोझई अजर बहन छिपाई ।

दीपक लौ सखम अनि पापल से फेर मुझइत भाई ॥

गरुडि नाहू का स्वान भादि-काल के बारण कथो म महत्वपूख है। उम्होने 'बीसलदेव रासो' में अपने काम की सामग्यताही का यथार्थ चित्रण किया है। उम्होने उस काम के मारी-बीजन का जो चित्रण किया है वह बेकतब ही मयाबह है। उस काम की गारि घपने स्वामी को पली नहीं पासो है। स्वामी के संकेतों पर नृत्य करने में भी उसके बीजन की धार्कता है। महाराज बीसलदेव की उनकी गवपूर्व संकित का उत्तर देने मात्र से उनके रासी को बारह बप के लिए बियो को ब्याला में बल। को बिबश होना पड़ता है। रासी राजमटी के मुक से कहलयो यदी कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ उस काम के शोचनीय मारी-बीजन का यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं—

प्रिय जाम कोई बियो महम ।

अजर जनम भारे भया हो नरेस ॥

वद्यपि मध्यकालीन भक्त कवि आदर्शवाद के पीठक से तथापि उनका काव्य में यथ-उप यथार्थ के दर्शन हो ही जाते हैं। इस दृष्टि से गुरुदास का काव्य विशेष रूप से उदाहरण है। बाल-मुलम नेट्योनों का जितना यथावत दर्शन हम यथे महाकवि ने किया है वह हिन्दी-साहित्य में अग्रिम प्राप्त है। बाल-बीजन के यथावत चित्र के साथ ही काव्य बीजन की भी अनेक सुन्दर अंकियाँ गूर ने संकित की हैं जिनमें प्रायः बीजन की यथार्थता उज-रूकर उजर पड़ती है। गूर का अमरगोन प्रमय भी यथार्थवादी भावना से प्रीतप्रंत है और एक सीमा तक उजब और गोपिका उत्तर-प्रत्युत्तर भागशाव और यथार्थवाद की टकरार माना जा सकता है। गोपिकों के जीवन की यथावतता के सम्मुख उजब की आदर्शवादिता चूर-चूर हो जाती है। 'सरिकाई को प्रेम भनि बहो कैसे सुते' 'ओओ। मन नाहीं बस बीस। एक हुनो मो गयो स्वान संय को पीठई ईम' आदि पंक्तियों में बीजन की आदर्शवादी यथार्थता की मार्मिक अभिव्यक्ति पायी जा सकती है।

मध्यकालीन या रीतिकालीन गृहकारो कवियों में तो यथावत और भी स्पष्टता से दीप्त पड़ता है। वस्तुतः समस्त रीतिकालीन काव्य सामाजिक आदर्शों से विमुक्त है। अत्येक कवि मार्गों सामाजिक आदर्शों को छिन्न-भिन्न करना हुआ बीजन की यथावतता को स्वीकार करने का सन्देश देता है और बीजना करना है कि—

तं ग्री नाह कवित्त त्त्, मरस राग रति रंग ।

अनपूर्व-श्लो, ति. मे पूरे सप्त अग ॥

इस श्रुतारी कवियों में बिहारी की दृष्टि धार्मिक बर्णावली परिसञ्चित होती है उन्होंने अद्बुत श्रुतारिकता को ही जीवन का अग्रिम लक्ष्य कहा है और शिव के साम्प्रिय के सामने स्वयं को भी श्रुत और मुक्ति का भी हेतु समझा है—

धमक धमक हूँसी ससक, षसक, म्भट, सपटानि ।

य शिहि रति हा रति मुक्ति और मुक्ति अति हानि ॥

एक अन्य दृष्टि है श्री बहारी के काव्य में यथावत् का परिचय किया जा सकता है । तत्कालीन समाज को देवर मायी के धार्मिक संबन्ध पक्षोत्तियों के व्यभिचार बर्णा-
वली में ही और ज्योतिषियों आदि की दुष्टताओं का यथावत् चित्रण बिहारी ने किया है और यह कहना अत्युचितपुत्र न होगा कि उनका उद्देश्य तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति का यथावत् चित्रण करनेवाली है ।

भारतशुद्धि-चित्रण का दृष्टिकोण धार्मिकता धार्मिकता । फिर भी उन्होंने धीरे धीरे समाजकीर्ति बन्ध-संघर्षों में तत्कालीन भारत की दुरस्था सामाजिक धार्मिक और शास्त्रीय दुरवस्था आदि की व्यथामयक शैली में यथावत् परिचित्रण की है ।

द्वितीय युग में धार्मिकता ही दृष्टिकोण ही है । किन्तु धार्मिक महावीरप्रसाद द्विवेदी के विराट् व्यक्तित्व की उद्यतता का बाबजूद यथावत् दृष्टिकोण एकदम विपुल नहीं है । गुप्त कीर्ति का भारत भाठी इस काल का लक्ष्य और अन्तर्गत प्रकाश है । इसी शीतलता के ऐन्द्रजालिक लोक में विचरना करनेवाले छायावादी कवि भी कभी कभी यथावत् की भूमि पर उतर ही आते हैं । छायावादी कवियों में विराट् के यथावत् धार्मिक प्रकट रूप में सञ्चित होता है । धर्मक धार्मिकों में धार्मिक द्वितीय-
युग में यथावत् का धार्मिक उन्हीं से आता है । प्रवर्तित धर्म प्रयोगवाद की तो पाश्चात्तय भूमि ही यथावत् है । अर्थव्यवस्था में समाज की यथावत्ता का और प्रयोगवादियों में धर्मभूमि ही यथावत्ता की काव्य में दर्शित करने का उद्यम धर्म स्वभाविक प्रयत्न ही है ।

इस अर्थव्यवस्था के साथ ही यथावत्ता की पुरा-पुरा समझने के लिए यह धार्मिक है कि उनका प्रवृत्तता का अर्थव्यवस्था प्रयत्न किया जाय । जोड़े से शब्दात्त यह कहा जा सकता है कि धार्मिक जीवन की वास्तविकता को व्यक्त करता है । धर्म-व्यवस्था है कि धर्म अर्थ और धर्मिक की अर्थव्यवस्था का ही विचर रहा है । यथावत्ता का अर्थव्यवस्था न अर्थव्यवस्था का उद्यम करता है और न धर्मिक के मुद्दों पर अर्थ ही लिया है । यह उद्यम का नाम नहीं है और न अर्थव्यवस्था की बात ही है । यह अर्थव्यवस्था का अर्थव्यवस्था का है । यह तो अर्थव्यवस्था की

वास्तविकता को धार्मिक-सैनिक यथाय कप में प्रस्तुत करना चाहता है। इसको स्वाभाविक परिणति यह होती है कि यथायवादी रचनाओं में जीवन का सौष्ठव परिलक्षित नहीं होता यद्यपि जीवन की समस्याओं वदुताओं वैन्यों धारि ना ही चित्रण मिलता है। यह तो केवल यथार्थ का पुजारी होता है—बाहे फिर वह चिन्ता भी व्यय हो। यह कहा जा सकता है कि वह केवल समस्या प्रस्तुत करता है, उसका समाधान नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि यथायवादी रचना में वैयक्तिकता के अधिक और सामाजिकता के नहीं के बराबर दशन होते हैं। चूँकि यथार्थवाद जीवन की वास्तविकता को उद्घाटित करता है, अत यथायवादी रानी में तीव्रता और व्यंग्यारम-कता के अधिक चिन्ह मिलते हैं।

यथार्थवादी प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यथायवाद वही जीवन की वास्तविकता को विभित कर हमें अपनी वस्तुस्थिति से परिचित करता है, वही वह यथायवाद के नाम पर जीवन के वृम और अरसील पल की ही धर्मिष्णित कर जीवन के प्रति अवबरण वृष्टिकोण प्रदान करता है। वही वह सामाजिक व्यवस्था के प्रति शक्तिशाली प्रतिक्रिया को सुलर करता है वही जीवन की यथार्थता को यथायव कप में उभार कर हमें जीवन के प्रति यथायवादी नहीं तो कम-से-कम निष्ठावादी तो अवबरण ही बना देता है— मानव के उन्नयन के प्रति विरवास मिटता जाता है, क्योंकि वह धार्मिक की सुख वस्पना करना तो जानता ही नहीं है और न चाहता है।

अत में यह कहना अनुचित न होगा कि यद्यपि हिन्दी-साहित्य अपने वास्तविकता में ही विशिष्ट वास्तवताओं को लेकर बना है और उसको वृष्टि भाव्यवादी ही रही है, तथापि यथार्थवाद क धार्मिक नाम की देन होते हुए भी यह स्वीकार करना ही होना कि हिन्दी-कविता के प्रत्येक युग में इस प्रवृत्ति के वर्तन होते ही रहते हैं—कभी प्रकट कप में और कभी प्रच्छा कप में। इसके साथ यह भी उठता ही मलय है कि यथायवाद की सबसे सरलत धर्मिष्णित रसी युग में हुई है।

समानवादी यथार्थवाद

यथार्थ और आदर्श

मानव जीवन की जितनी भी समस्या यथार्थ स्थिति को अभिव्यक्ति कर उनके सामाजिक रूप में की जाती है उस वह उसका यथायथ प्रकाश मनु विषय कहना है। साहित्य वा मानव-जीवन से बलिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास साहित्य में भी इन प्रकार को अभिव्यक्ति होता थाई है। साहित्य का जो पक्ष बस्तु-स्थिति प्रकटा कर का मनु यथार्थ यथायथ चित्रण करता है वह उसका यथायथारी पक्ष है। साहित्य का दूसरा पक्ष जीवन प्रकटा समाज के यथायथ रूप की धार कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से सक्रिय माधु करके उस रूप के प्रतिबन्ध एक ऐसा धारक बिन्दु बनकर करता है जिसे देखकर यथायथ के प्रति निरस्तार पृष्ठा प्रकटा त्याग की प्रेरणा मिलती है। वह साहित्य का आदर्शवादी पक्ष है। अन्य भावनों के साहित्य की तरह हमें हिन्दो-साहित्य में भी अभिव्यक्ति के ये दोनों रूप मिलते हैं।

मानव जीवन की समस्या में ही यथायथ की स्वीकृति के साथ आदर्श की बहनना करता था रहा है। यथार्थ में रहने को बहनना की बड़ी उनके प्रयत्न से अभिव्यक्ति में समर्थ जीवन का यथायथ बन गया। यही उनकी प्रवृत्ति का रूप है। साहित्य वा भी यही करता है। वह अपनी छत्रों में एक सामाजिक प्राणी होने के कारण प्रायः यथायथ का ही चित्रण करता है। यद्यपि यही यथायथ वास्तव में जीवन का मनु होता है किन्तु इस यथायथ की मर्यादा बनाने के लिए वह बहनना का जो महारा मीता है। यद्यपि हम यथायथ को जीवन का सार और धारक को जीवन की कल्पना वह सुझते हैं। यथायथ प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने आता है यद्यपि केवल यथायथ में हम जीवन को पृष्ठा अनुभव नहीं कर पाते। धारक बनना हीन के कारण हममें जीवन के सार का यथायथ हास्य है किन्तु यथार्थविहीन जीवन वा जीवन नहीं समझ जा सकता। यह बनने हुए हम मानव-जीवन को यथायथ धारक आदर्श का सम्बन्ध ही वह मरते हैं।

यथायथार बस्तुओं को स्वरूप सत्ता का समर्थक है यद्यपि वह स्थिति उन्मुख है। यथार्थ सम्बन्ध प्रत्यक्ष बस्तु जगत् में है। यथार्थ की दृष्टि वैज्ञानिक है। वह धारक आदर्शों के साथ में वा विचार्य विधानता है बड़ी उनका मनु है। इनके विचारण धारकवाक्य उन्मुख की धार उन्मुख है। वह समर्थक है वह दृष्टि के दृश्य वा धारकवाक्य है। वह यथार्थता में सुधारता निराशा में धारक एवं दुःख में सुख पाने का प्रयत्न करता है। संभव में धारक

बाद मानव-जीवन को महत्वाकांक्षियों पर आधारित है, जब कि यथावहार केवल उसी को उच्च मानता है जिसका बहु धनुमक करता प्रत्यक्ष दृष्टि से देखता और जिसको यथावहार बहु बुद्धि द्वारा सिद्ध कर सकता है ।

उपरोक्त शताब्दी में कुछ पारचायक कलाकारों ने रोमैण्टिसिज्म की कल्पनाशीलता को पित कर उसका विरोध किया और उसके स्थान पर यथावहार की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया । इसी प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी और फ्रेंच साहित्य में यथावहार यथावहार प्रकृतिवाद आदि का प्रवेश हुआ । रोमैण्टिसिज्म की धारा कुछ मंद हो गयी पर यथावहार प्रकृतिवाद आदि के नाम पर जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसमें भी जीवन के स्वस्थ उपकरणों का पूरा संश्लेष न हो सका । उन साहित्य में जीवन के बिना चित्रित होने लगे यह देखकर आइराविया ने उनके सम्मुख में कहा—
 "They promised to give us a world, instead they gave us a hospital" (उन्होंने हमें एक विश्व देने का वचन दिया था पर इसके स्थान में उन्होंने एक अस्पताल दिया) । अनेक दिनों तक आदर्शवाद और यथार्थवाद में एक संघर्ष चलता रहा ।

माक्स और लिनन ने साहित्य और समाज संबंधों का विचार स्पष्ट किया है वे सभी यथार्थवादी विचार कहे जाते हैं । माक्स-डार्व प्रस्तुत यथावहारी विचारधारा वैज्ञानिक नहीं जाती है । इस विचारधारा के समर्थकों का दावा है कि उनका साहित्य कल्पना और आदर्श से नहीं बल्कि व्यावहारिक सत्य से संबंधित है । वे कल्पना और साहित्य को उन अधिकारियों की प्रकृतियों का परिचायक मानते हैं जिन्होंने बस-संघर्ष के क्रमबद्ध इतिहास में प्रमुख रूप से भाग लिया है । यथावहारीयों का एक दूसरा दल है, जो मानववादी यथार्थवाद का आधार सामाजिक विज्ञान है किन्तु इस दूसरे दल का यथावहार अज्ञेयता पर आधारित है । इन दोनों यथावहारी विचारधाराओं में परस्पर विरोध अदृश्य है पर दोनों के साहित्य का आधार यथार्थवाद ही है ।

आइरावानी साहित्यकारों में टास्तोव को प्रमुख स्थान प्राप्त है । उनके साहित्य में मानव की महत्ता और उनकी भावा शक्ति प्रयत्न के प्रति विश्वास स्पष्ट हुआ है । पारचायक साहित्य पर यथावहार और आइरावारी का निरन्तर प्रभाव पड़ना रहा है और उस साहित्य के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्यकारों ने भी यह प्रभाव महत् किया है । यथार्थवाद के नाम पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी हुई हैं जो जीवन की लुप्तता पर निम्न-कोटि को उतरती हैं । इस प्रकार के साहित्य ने यथावहार की प्रतिष्ठा पर धापाव किया है । ऐसा जान पड़ना है कि आदर्शवाद से ही दोनों प्रकार के यथावहारीयों ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता की उपाहारा की है ।

के सामाजिक प्रतिबन्ध भी स्वीकार नहीं करते। इनके निपटीत धादतवादी साहित्य पूर्वोक्त मानव-जीवन से संबंधित रहा है पर धारवादी की धृति के कारण यह साहित्य केवल उपदेशात्मक ही रह गया है। परिष्कृत-स्वरूप यह नहीं-नहीं साहित्य की परिधि से बाहर भी दिखाई देता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य-भृति से यथार्थवाद धीरे धादतवाद दोनों ही अपने अपने में पूर्ण नहीं है। दोनों की अपनी अपनी धृष्टियाँ हैं धीरे दोनों की अपनी-अपनी निबसताएँ भी हैं। एक समे विचार के परभाव यह स्वीकार किया जा चुका है कि कला की सार्थकता जीवन को संभारने में है। यही बात साहित्य के संबंध में भी नहीं जा सकती है। उसकी सार्थकता मानव-जीवन को संभारने धीरे ढँबा सठने में ही है।

समाजवादी यथार्थवाद

एक समय धाया तक साहित्य की यह सार्थकता मान्य हुई धीरे इस धाधार पर केवल यथावतारी साहित्य अपुष्ट धीरे एक सीमा तक निरवक माना गया। साहित्य-सृजन की एक नवीन सीमा का आविर्भाव हुआ। इस सीमा से यथावत धीरे धारवादी का सम्बन्ध था। इस सीमा को धादतवादी सीमा कहा जा सकता है। इस सीमा द्वारा लुप्त साहित्य मानव-जीवन से संबंधित साहित्य यथवा जन-साहित्य के नाम से संबोधित हुआ। यह धादतवादी ही समाजवादी यथावतार है।

सामाजिक यथावतार का संबंध मानव-अस्तित्व से निम्न है। इनके धाल्यंत मानव-समाज की सामाजिक धाविक सांस्कृतिक राजनीतिक धीरे ऐतिहासिक परिस्थितियों का सम्बन्ध उस सामाजिक बाधावरण का निर्माण करता है, जिससे मानव के संभारों की स्रजना होती है। धादतवाद काय्य धीरे जन को मानव की जीवन-प्रक्रिया से निरत धनीतिक धीरे धाध्यात्मिक निरन्ध्र-क्रिया की उपसर्गिध मानता है किन्तु यथावतार काय्य धीरे जन को जीवन से उद्भूत स्रजना मानता है। हिन्दी में स्रज-प्रथम प्रथमधरो न ही इन दोनों धारों का सम्बन्ध धादतवादी यथावतार के नाम से किया था। उनके इन सम्बन्ध का विचार होने 'मोक्षान धीरे 'ममल लुप्त' में विरोधक से बुद्धिगोचर होता है। धादतवाद धरन की धारवादी यथवा धाध्यात्मवादी प्रवृत्तियों से प्रेरणा ग्रहण करता है किन्तु यथावतार इनसे 'धर' धटन की मोक्षिधवादी प्रवृत्ति से प्रेरणा ग्रहण करता है।

१६ की स्रजवादी के मध्य के धारवादी प्रवृत्तिधारियों-धोता धेम्भ धवाधम धोतागल' एकध ध्यावियर ही एक धारन धारि के धरधलू धाध्याक धासठाय धोर्धी यथावतार' का नया रूप धादत मानने धाया। यह सामाजिक यथावतार धावता समाज

वादी यथार्थवाद था। यथार्थवाद के इस रूप पर माकन का पर्याप्त प्रभाव था। वास्तव में इसी प्रभाव में इस बात का विकास हुआ। ये शायद सभी सामाजिक यथार्थवादी उपग्र्यासकार हैं और इनसे जो बाह्यक सर्वोत्कृष्ट सामाजिक यथार्थवादी कहा जाता है। हमने अपने उपग्र्यासों में अपने नाम की सामाजिक कुराहियों को कड़ो पालोचना की है। इसके साहित्य में जिस सामाजिक यथार्थवाद के बरत होते हैं, उसका आधार कोई गतिशील बरत नहीं था। यही कारण है कि इसके उपग्र्यासों में हमें व्यंग्य और विडम्बना जिस प्रमाण में मिलती है उस प्रमाण में निर्माणाकारी सामाजिक चेतना नहीं मिलती। हमें सर्वप्रथम बर्सेल्सो के साहित्य में ही एक निरिक्त बरत पर आधारित सामाजिक जीवन-प्रक्रिया दिखायी देती है। बर्सेल्सो वास्तव में हीमैलियन बरत का ही अनुयायी था। उसने इसी बरत के प्रकार में ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो उत्कृष्टतम स्थिति में देश के राष्ट्रीय उद्यमन में सहायक था। इसके परभाव हो माकन के इन्द्रात्मक मौक्तिकवाद को लेकर मैनिमन गोर्की ने सामाजिक यथार्थवादी उपग्र्यासों की रचना की थी। प्रेमबन्धु स्वामी दयानन्द के समाज-सुधार धार्योमन तथा महात्मा गांधी के जन-जागरण से प्रभावित प्रवरव है, पर एक सीमा तक इस उनक उपग्र्यासों पर गोर्की का प्रभाव भी देखते हैं।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

रोमांटिक काव्य के चरम विकास को स्थिति में फ्रेंच साहित्य में कमावाद का प्रवेश हुआ। कमावाद कल्पनावाद प्रतीकवाद और संवेदनावाद का समन्वित रूप था। इन कार्यों में शब्द-शिल्प और मूल विद्या का ही प्राधान्य था। व्यक्तिगत राज-चिराय की अभिव्यक्ति ही इन कार्यों का लक्ष्य था। अतः यह सामान्य जन-जन को संशय न कर सका। इस बात की प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद का जन्म हुआ। इस बात को लेकर सर्वप्रथम प्रगतिवादी सामन धार्ये। इनमें जासा और मोरासो प्रमुख थे। उन्होंने बुजुबा गण के विरुद्ध विद्रोह की भावना सामुन की किन्तु उनका ध्यान पूँजीवाद से उत्पन्न कुराहियों की ओर न गया। इनका आधारवादी सख्तों में संक्षय जमता रहा। इसी बात हमन मात्मबर्ती बर्ताइरता वैररे धार्ये ने मानव जीवन की समस्याओं की लेकर साहित्य की रचना की। हमने यथार्थवाद ने समाजवादी यथार्थवाद के विकास में विशेष योग दिया। इस दृष्टि में गोर्की का काव्य विशेष महत्वपूर्ण था। भारतीय संवेदक जो इन साहित्य से प्रभावित हुए। यही सामाज्यवाद और पूँजीवाद एक नाम ही भारतीय जनता का हम ताठ रहे थे। अतः शिल्प में रचनाशील शृङ्गार-साधना का कोई स्थान न था। यह ऐसे साहित्य की धरोहरा कर नहीं थी जो भारतीय जन-जनन को सामाजिक और राजनीतिक चेतना से घोर घोर कर दे। भारतीय दृष्टिकोण ने कहा—

अगरेज राज सुखसाज, महा सुख भारी ।
 ये घन बिहरा खलि जाव, यहै सुख भारी ॥

भी कामगुह्य गुप्त वृत्तिया की मलकारते हुए बामे—
 धनियो, क्या दीनजनों की, नहीं सुन सकते हाहाकार ।
 जिसका मर पड़ासी भूखा, उसके जीवन को बिककार ॥

महाराष्ट्रीय प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि थी । त्रिवेणी युग में धायसमाज ने सामाजिक
 बेतना का बिकास किया पर राष्ट्रीय जनता को उन्मोहनीय गति न मिल सकी । अन्त
 की राज्य-शास्त्र न समस्त विरह के साथ भारत को भी प्रभावित किया । वैज्ञानिक
 प्रौढिकवाद का प्रकाश भी धाय । धाय भारतीय सेपकों की तरह हिन्दी सेपकों का ध्यान
 भी सामान्य जनता के जीवन की विपन्नताओं की धीर गया । परिष्कार-रूपक रसितों
 शोषणों किशान-मजदूरों को कष्ट-कषा सेकर प्रगतिवाद का प्राविर्भाव हुआ । हम
 प्रगतिवादी साहित्य से सामाजिक मर्चार्थवादी साहित्य का विकसित रूप देखते हैं ।

सामाजिक मर्चार्थवाद का बिकास

साहित्यकार मर्चार्थ-रूप-विषयन के साथ मानव के सामाजिक संबंध की ध्यंजना भी
 करता है । इस ध्यंजना के दो रूप हैं । एक का सम्बन्ध समाज के समस्त स और सुखर
 का सम्बन्ध इनके सांघिक जीवन से है ।

(१) प्रत्येक समाज के उपरान्त धीर रुचालन के लिए कुछ निश्चित नियमों की
 आवश्यकता होती है । ये नियम उस समय की स्थिति विरवान धीर बारका पर
 आधारित होते हैं जिस काल न उस समाज का लक्ष्य होता है । ये नियम बिकास
 बर्धित नहीं होते । कुछ नियम सबैक ही समाज के लिए बन्पायकारटी होते हैं पर कुछ
 नियमों में समयाभार बरबदलन भी आवश्यक होता है । बरबदलन के समाज में एते
 नियम समाज के लिए अहितकार सिद्ध होने लवते हैं धीर बलाकार धयका साहित्यकार
 उन नियमों के प्रमाण-रूपण सादर सामाजिक स्थिति का मन्थन विनय करना आवश्यक
 समझता है । हिन्दू का विभिन्न बालीन साहित्य उस काल की स्थिति मनोबला धीर
 जीवन का मन्थन विनय करता है ।

हमें सांघिक न के बरबदल-साहित्य में मन्थन के बरबो गूर धीर गुसवी क
 साहित्य में तथा रीतिकाल के शृंगार-प्रिय बरिया क काम में ताकालीन समाज का मन्थन
 र बरबदल दिगार्ई देना है । समाज का दग प्रचार का बालनिक विनय ही सामाजिक
 मन्थन है । हम भारतीय साहित्य का अट मन्थनवादी दृष्टिकोण धारण में ही देगते
 का १६ है । महाकवि बालिकाठ न 'मिषदूत' में एक पत्नी-विमुक्त ब्यक्ति की
 मन्थन धीर बालनोर्धन पुबसताका का मन्थन विनय किया है । गुमार-नामक में

पश्चित्ति शिव-मावती के प्रथम सामाज्य का बहान भी पुख्त यथार्थवादी हैं। शूद्रक के ऐच्छकटिक माटक में भी निम्न कोटि के व्यक्तियों के जीवन का सहायमूर्तिपूर्ण यथायथ बचप है। भारतीय साहित्य का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण प्राकृत-साहित्य में अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है। कवि हाल की 'याचा-सत्तरती' इसका प्रमाण है। इस ग्रंथ में हाल ने सामाज्य मनुष्य के दैनिक क्रिया-कलापों तथा मानव-हृदयकी स्वाभाविक वस्तियों का यथार्थ चित्रण किया है। इसमें प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों की रचना का जो चित्रण है, वह भी यथायथवादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। याचा-सत्तरती के व्यक्तिकारी पंक्ति की समोवेदना का यथायथ चित्रण करने में हाल को समस्तपुत्र सफलता प्राप्त है। याचा-सत्तरती की इस परम्परा का विकास हम उसके परचात् 'प्रमद-सत्तरक' और 'पंचासिका' 'भृंगार-सत्तरक' आदि में भी देख सकते हैं। सामाजिक यथायथवाद की इसी परम्परा का विकास हमें हिन्दी के बिहारी, देव न्यास पचाकर आदि के काव्य में मिलता है।

(२) हम वैदिक काल से ही वस्तु-विनिमय पर आधारित व्यवस्था देख रहे हैं यद्यपि उस काल में धन का धाज की तरह धार्मिक महत्व न था। भारतीय साहित्य में एक सुदीर्घ काल तक धार्मिक-व्यवस्था से संबंधित साहित्य का सजन हुआ नहीं जान पड़ता। इसका कारण संभवतः भारत की संतुलित व्यवस्था ही हो। दूसरे अम काल में धाज की तरह समाज का एक बड़ा अंग धर्म-नीकृत हो न था जिससे धार्मिक व्यवस्था का प्रजन ही कभी उपस्थित नहीं हुआ।

हिन्दी भी वस्तु के महत्व का अनुभव हम उस वस्तु की स्पष्टता यथायथ समाज की स्थिति में ही होता है। धन का महत्व केवल उसकी उपयोगिता में है वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक महान् साधन है जब कि हम धार्मिक ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते तब हमें उसको महत्ता का विशेष अनुभव होता है। धर्मियों के शासन के साथ भारत में धन-संचय प्रारंभ हुआ। प्रथम एक गांधी शासक और बगपारी दोनों ने। धन उनकी नीति के कारण समाज में धार्मिक विरमता का अन्त स्वाभाविक था। एक और धर्मियों शासन के द्वाराप्राप्त और सत्तर व्यापार में सहायक व्यापारियों की धार्मिक समता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुयी गयी और दूसरे और सामाज्य जनता की धार्मिक स्थिति भयावह होती गयी। इन स्थिति में धन पर धार्मिक धर्म-संचय को अन्त दिया। इन स्थिति का यथार्थ चित्रण लेकर साहित्य में यथायथवाद का प्रवेश हुआ।

यूरोप में धन को समस्या पर आधारित व्यवस्था बहान पत्रिके में अन्त रहा था। वहाँ की व्यापारिक धर्मिता इसी संचय की लेकर हुई थी। धार्मिक व्यापारो-व्यय निषेध-व्यय

के शोषण में समुरक्त था। परिष्कार-स्वरूप उनका सामाजिक जीवन प्रत्यक्ष-व्यस्त होजा
 बा रहा था। उस काल के पंडित साहित्य में हम निर्जन जन के इसी जीवन का
 पचापचायी चित्रण मिलता है। अंग्रेजों साहित्य में यह पार्थिव यथार्थवाद हमें ही रूपों
 में मिलता है। इसका एक रूप धरम्यत कथन और दूसरा व्यंग्य-गुण्य है। कथन रूप
 में हमें यथावकाश ही स्पष्टता परिमलित होती है, उसके व्याय रूप में यथार्थ के साथ
 हास्य की भावना भी खूबी है। हार्नी का 'मेजर फाफ कैंटर ब्रिज' यथावकाशी चित्रण का
 का कथन रूप है और ईलियस टिचो का 'मुसीबतें टूट्टेन' यथावकाशी चित्रण का
 व्यंग्यारमक रूप उपस्थित करता है। ऐसा जान पड़ता है कि पंडितों ज्ञान के उत्तर
 काल में भारत में सामाजिक यथावकाशी साहित्य की रचना हो पाकरमक भी पर हमारे
 इस साहित्य का पूनपाठ परिचय के यथावकाशी साहित्य के प्रभाव की लेखर ही हुआ
 था। टिचो के यथार्थवादी साहित्य पर भी मास्सबरी या यैक्रे मोको धारि का स्पष्ट
 प्रभाव दिखाई देता है।

बैदिक काल से आज तक जो यथावकाशी साहित्य उपलब्ध है वह ही प्रचुर का
 है। एक साहित्य वह है जिसमें कुछ काल की सामाजिक स्थिति का यथावत् बखान
 यथावकाशी चित्रण है। दूसरे प्रकार का यह साहित्य है जिसमें किसी काल कितने के व्यक्ति
 उनके कार्य और उन नामों का परिचय मिलता है। बैदिक साहित्य में बैदिक काल के
 और रामचरित मानव में वैश्वामिनी गुलशोबाच के काल का यथावकाशी साहित्य है। हमें
 है। यह समाज-विवरण से मूल साहित्य प्रथम प्रकार का यथावकाशी साहित्य है। हमें
 'महाभारत' में युधिष्ठिर युधिष्ठिर का परिचय मिलता है। रामचरित-मानव में भी राजा द्वारा श्ले
 का विवरण तथा उसके परिचय मिलता है। रामचरित-मानव में भी राजा द्वारा श्ले
 नये परमापी-दूरव और उनके परिचय मिलता है। रामचरित-मानव में भी राजा द्वारा श्ले
 मिलता है। सभी भाषाओं के साहित्य में यथावकाशी यथावकाशी साहित्य का साथ उनके नामों
 के में राजा का उल्लेख है। हमें स्पष्ट है कि 'यथावकाशी' और सामाजिक यथाव
 काय भाव नये शब्द असे हो वर इन नामों पर आधारित साहित्य बोल नहीं है।
 इन साहित्य की रचना शोषण से ही होती है। मन्व ने जो कुछ देता उतका वह
 यथावत् बखान करता थाया है और का कुछ समुच्चय किया कथनों भी यह पाईक से ही
 समिप्यन करता था रहा है।

यथावकाशी का एक दूसरा रूप समाज के पृथिव समुच्चय हीन और समुच्चय
 को ही यथावकाशी साहित्य के अन्तर्गत स्थान देना पाकरमक मानना है। यह उनके
 दूसरे उच्च और नम स्वरूप की बखाना की समुच्चय मानना है। प्रपिचारी युव के
 धारम में हमी धारणा के परिष्कार-स्वरूप यथावकाशी बड़े जाने जाने कथनों और
 सेमको के द्वारा टिचो में धरमीन और पृथिव साहित्य का निर्माण हुआ। इन यथार्थ

कावियों का यह भी मत है कि "संसार में सबैक भगवत् की ही विजय होती रही है और जो भगवत् का बही विजय होने पर सव् श्रीर महान् माना जाता रहा । इस तरह शक्ति-बाल श्रीर विजयी पुण्यदाता तथा शक्तिहीन श्रीर विजित पापी माना जाता रहा ।" यथायथाकावियों को यह धारणा भ्रमात्मक है, यथायथा के अन्ततः वस्तु, व्यक्ति और समाज का धक्का और बुल बुलों का यथायत् विजय धावरयक है । सव् को सव् यसव् को यसव् सुन्दर को सुन्दर और यसुन्दर को यसुन्दर कहना ही यथायथा है, वस्तु के केवल हीन पक्ष का विजय ही यथायथा साहित्यकार का लक्ष्य न होना चाहिए । यदि वह ऐसा करता है तो उसका दृष्टिकोण एवांगी और असत्य साहित्य धर्म-यथायथा ही समझ आया ।

हिन्दी का सामाजिक यथायथा साहित्य

बैसा कि पूर कहा जा चुका है यथायथा को तरह सामाजिक-यथायथा साहित्य का मूलन भी हिन्दो में प्रादिकाल से ही हाता जा रहा है । हिन्दो-उन्मुक्त यथायथा के कवियों की रचनाओं में भी हमें सामाजिक यथायथा का रूप मिल सकता है । आरख-काव्य बीरयाथाओं से पूछ है पर उसमें भी सामाजिक यथायथा साहित्य का सवथा यथाय नहीं है । इसके परचात् कबीर और जायसी के काव्य में तो हमें स्थान-स्थान पर सामाजिक यथायथा के स्पष्ट चिह्न मिल जाते हैं । जायसी ने जिस वास्तविक धार को लेकर बिरह-अयजता की है उसमें तथा उनके उपासना-गन्धको दृष्टिकोण में भी हमें धनेक स्थानों पर सामाजिक यथायथा दृष्टिकोण होता है । सामाजिक यथायथा का सवथे धनिक निखर रूप हमें नबार के काव्य में मिलता है । उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम धर्म को साम्प्रदायिकता एवं कड़िबादिता की जो बड़ी धालोचना की है उसमें उनको दृष्टि स्पष्ट सामाजिक यथायथा ही है ।

विधापति यह स्वीकार करते हैं कि प्रेम की और उन्मुक्त उद्दाम स्थिति प्रेमी और प्रेमिका का विवेकहीन बना बती है । इस स्थिति का धन्य विनाश और परचाताप में ही होना है । कवि का यह यथायथा भावना निम्नादि पस्थियों में देखी जा सकती है—

कुल-कामिनी छली, कुलटा भय गेली तिनकर यवन छोमाह ।
 अपने कर हम मूढ मुझापल फानु स प्रम यदाई ॥
 और रमनि जनि मन मन रोझई अन्दर बदन दिगाह ।
 दीपक लो जनि घापल से फल मुझइत पाह

नरपति नाहू का स्थान प्रादिकाल के आरख कवियों में महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने बीमलदेव रामो में यथायथा की सामाजिकी का यथायथा विजय किया है । उन्होंने

उस काल के गारी-जीवन का जो चित्रण किया है, वह वास्तव ही भयावह है। उस काल की गारी अपने स्वामी की पत्नी तभी पर की जाती है। स्वामी के सकेतों पर कल्प करने में भी उसके जीवन की सापेक्षता है। महापुरुष बीछलदेव को अपनी प्रथमपुत्र उक्ति का उत्तर देने मात्र से उनकी पत्नी को बरहू बच के लिए वियोग की प्याला में जलने को बिखर होना पड़ता है। पत्नी राजमति के मुख से कहुलायी यमी कवि की निम्नांकित पौकियाँ उस काल के शोचनीय गारी-जीवन का यथाथ चित्र उपस्थित करती हैं—

प्रिय जनम कोई दिया ही मइस ।
अवर जनम मारि घस्या हो नरस ॥

यद्यपि मध्यकालीन भक्त कवि आदर्शवाद के पौक्य से, तथापि उनके काव्य में यथ-तथ यथाय के दर्शन हो ही जाते हैं। इस दृष्टि से गुरदास का काव्य विशेष रूप से उल्लेख है। काल-मुलम बेहापो का जितना यथाय संकेत इन ग्रंथे महाकवि ने किया है, वह हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त घण्ट है। काल-जीवन के यथाय चित्रण के साथ ही ग्राम्य जीवन की भी अनेक सुन्दर चर्चनीय गुरदास काव्य की है, जिनमें ग्राम्य जीवन की यथायता खूब-खूबर उमर पड़ता है। गुरदास का भ्रमरगीत प्रसंग भी यथायकारी मानना से शोचनीय है और एक सीमा तक उल्लेख और यौगिक का उत्तर-प्रत्युत्तर आदर्शवाद और यथायवाद का संघर्ष माना जा सकता है। गाणियों के जीवन की यथायता के सम्मुख उल्लेख की आदर्शवादिता खूब-खूब हो जाती है। 'सरिकाई जो प्रथम बनि कहा हैये छूटै, ऊनी मत नाही दस शोच। एक हुतो सो यमो स्वाम संय को पापौ दैस पाणि पीठिया म जीवन की शारदय यथायता की मानिक आश्चर्यचिन्त पायी जा सकती है।

मध्यकालीन काव्य-साहित्य के इतिहास में सामाजिक यथायवाद की दृष्टि से पोरबामी गुप्तगीहासजी का स्थापन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने रामचरित मानस में अपने काल के समाज का यथायकारी चित्र बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। उत्तरकाण्ड का अष्टमोऽध्याय इस प्रकार के चित्रों में पूर्य है। एक जगह—

सुत मानहिं मात पिता तत्रलो ।
अबलानन दास नही जयलो ॥

समुरारि पिचारि लग्य जप लें ।
रिउ-रूप कुटुम्ब भय लय लें ॥

मृग राय-नरायन धम मही ।
करि बह बिटय प्रजा निगही ॥

इसी प्रकार ब्रह्मचरि एवं विरारी बग्न निर्दिष्ट क्षेत्रमात निर्दिष्ट

उत्तर मध्यकालीन कवियों की रचना में भी हमें सामाजिक यथायवाद के अनेक मध्य चित्र मिलते हैं। स्थानाभाव से इन सबकी रचनाओं के उदाहरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। कवि बैताल का एक पद्यही देखिए—

मरै बेल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू ।
मरै ककंसा नार, मरै वह खसम निखट्टू ॥
घान्हन सो मरि जाय, हाथ छै मदिरा प्यायै ।
पुत्र वहां मरि जाय, जा कुल में दाग लगायै ॥
बैताल कहै विक्रम सुनो, इनके मर न राइय ।
सब पते मरि जायै, पायै पसार साइय ॥

इस काल के शृङ्गारी कवियों में बिहारी की दृष्टि अधिक यथायवादी परिलक्षित होती है। उन्होंने छद्म शृङ्गारिकता को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य कहा है और प्रिय के सामिप्य के सामने स्वयं को भी तुच्छ और मुक्ति का भी हेतु समझा है—

अमक दमक हौंसी ससक,
पसक, म्पट, लपटानि ।
य मिहि रति सो रति मुकुति,
आर मुकुति अति हानि ॥

यह पर्याय से उस समय के समाज की एक प्रवृत्ति की ही चित्रण है। बिहारी ने तत्कालीन समाज के धर्म देवर भाभी के धार्मिक सम्बन्ध पड़ोसियों के व्यवहार, कथा-वाचकों के और व्योक्तिपियों धारि की दुबलताओं का यथाय चित्रण किया है और यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनकी सततई तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति का यथाय दर्शन करनेवाली वृत्ति है।

भास्केनुःहरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य के प्रागुक्त काल के एक नामे जाते हैं। उनकी तथा उनके समकालीन बाबू बालमुकुन्द दुष्ट की सामाजिक यथायवादी रचना के एक-एक उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। इसी प्रकार उस काल के दूसरे कवि कर्णधारदण्ड यथायवाय 'प्रेमपत्र एवं प्रतापनायक' मिथ न भी तत्कालीन समाज तथा मानव-जीवन की लक्ष्य कर अनेक सुन्दर सामाजिक यथायवादी चित्र अंकित किये हैं। इस काल के कवि लेखकों ने भी तत्कालीन भारत की दुःशा सामाजिक आदिष और शासकीय दुष्चरण धारि की अन्तर्गत शैली में यथाय अतिव्यक्ति की है।

त्रिबरी-काल में यद्यपि धारवादी की प्रचलता रही तथापि इस काल में भी सामाजिक यथायवादी साहित्य का अभाव नहीं रहा। स्वयं परिचित महावीरप्रसाद की कुछ काव्य-रचनाओं में हमें साहित्य का यह रूप नित मिलता है। वे अपनी 'दुभिष

नई कविता

'नयी कविता' से तात्पर्य प्रायः 'प्रयोगवादी' कविता से समझा जाता है, किन्तु केवल प्रयोगवादी कविता ही नयी कविता नहीं है। 'नयी कविता' के संतुलन वह सभी काव्य भाषा जाना चाहिए जिसका प्रारंभ त्रिबेरो-काल से होता है और जिसे हम विशुद्ध आङ्ग्लोली की कविता कह सकते हैं। इस प्रकार "पुरानी कविता" से तात्पर्य वह भाषा की कविता और 'नयी कविता' से तात्पर्य दाढ़ी बोली की कविता समझना उचित होगा। यह नवयुग की कविता है।

नवयुग हिन्दी के काव्य-साहित्य का महान् क्रांतिकारी युग रहा है। इस युग में काव्य की न जाने कितनी प्राचीन परम्परागत मान्यताएँ अस्तित्व-बिहीन हुईं और उनके स्थान पर नवीन मान्यताएँ प्रस्थापित हुईं। विषय भाषा धर्म, विचारधारा सभी में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ और न जाने कितने नये विषय नये छन्दों और नई विचार धाराओं को लेकर भाषा के नये रूप में सामने आये और अपने युग की नई वाली प्रदान की। त्रिबेरी युग तक हिन्दी का काव्य-साहित्य क्रमशः विकसित होता हुआ प्रगति की ओर अग्रसर हुआ किन्तु काव्य की परम्परागत मान्यताएँ पशुबद्ध रहीं। नये विषय भी आये पर उनकी वाली प्राचीन ही थी। नये गीत बगल पर उनके स्वर अङ्कित करनेवाले वाद्ययंत्र प्राचीन ही थे। कवियों ने युग की माँगनाएँ भी ध्यान करने का प्रयत्न किया पर उनके स्वरों में धारोह की तीव्रता न थी। प्रकृमात्र मैथिलीशरण मुत्त अर्थात् युग की माँगनाओं और आकाङ्क्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। 'एक भारतीय धारमा' का कवि मारन की धारमा का दशन करने और कउन को उत्सुक था, पर धमी उसका पूछ विचार न हो पाया था और नवयुग नवधेनना नवजागृति और नवअभेद का शतनाह करता था गया। इस युग का प्राङ्गुर्भाव सबप्रथम काव्य-साहित्य में परिलक्षित हुआ। हिन्दी-काव्य में धाराधार रहस्यवाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के नाम से सम्पादित होतवाने बाद एक-दूसरे के परचात् आये और काव्य-जगत् इन बाहों को लेकर नव काव्य से समुत्पन्न हो उठा।

शैली को बृष्टि से बतमान काव्य तीन प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है— त्रिबेरी परम्प शैली धाराधारो काव्य-शैली और नवीन शैली। त्रिबेरीकालीन काव्य शैली धारमिन्द्र प्रयोगात्मक शैली नहीं था तकनी है। उस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य-स्वरूप के धर्मयन नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार की पद्यमय रचना मात्र थी। उसमें काव्य मानना या बहनु-बिचय से पुनक उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। उनमें धाराधारक इतिवृत्त और काव्य की बाह्य मानना का वैशिष्ट्य स्थान-स्थान पर मिलता है।

पद्य धीरे पद्य की भाषा की सम्भावनी में भी कोई अन्तर न था। उस नाम के अष्ट कवियों की रचना शैली पर भी विद्यार्थ काश्च-पद्यति की अपेक्षा मायच-पद्यति का ही प्राणाय है। उग्रहान या तो उच्छ्रुत के धर्मों का प्रयोग किया है या द्वितीय के पुराने धर्मों का। अर्थकार-योजना भी परम्परागत ही है। उदाहरणार्थ प्रयोग्यासिंह उपाध्याय में "प्रिय प्रवाल" में मयभुज के अनुकरण पर "पवनभुज की योजना भी है और मैमितीशरण गुप्त न साकेत के नये समय में अशुभ-वचन को स्नात किया है। इस काम के काम्य पर स्वामी दयानन्द-शास्त्र प्रवर्तित पाप-समाज की शोचिता की धार भी स्पष्ट देखी जाती है।

इस प्रकार इस काम में शैक्षिक चारखाया धीरे उग्रहान की प्रमाणता के कारण शैक्षिक अनुभूतियों का माय अन्तर ही रहा था। इस अन्तरीय की प्रतिक्रिया के रूप में धार्यावादी कविता भी जन्म हुआ। भाषा में नई सापेक्षिता का धार्मिकता हुआ धीरे एक धार्य कल्पना-प्रवणता वैयक्तिक बनना तथा शोच्य-पुष्टि की प्रमाणता मिली। प्रकृति धीरे मानव-जीवन का सम्बन्ध तथा प्रेम-व्यवस्था धार्यात्मिक भूमि पर पहुँचा दी गई। उदात्त धार्मिक धीरे धार्यात्मिक अनुभूति की प्रमाणता ही गई। इसका परिणाम यह हुआ कि काश्च में स्वच्छन्द-व्यवस्था का धीरे धीरे भाषा धार्मिकता परिलुप्त होकर बन भाषा से दूर हो गई। संघोठात्मकता का भी उद्यम प्रवेश हो गया। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों देखिए—

कौन-कौन तुम परिहृत बसना
 स्नानमना भूपतिवा-सी।
 जानहवा बिच्छिन्न छाता-सी,
 रतिमान्ता प्रज्वलित-सी ॥

तुम धार्यावादी कवियों ने सरल भाषा का भी प्रयोग किया पर जलमें भी एक अन्तर की असाधारणता रही। यथा -

जागा फिर एक पार।
 प्यार जगाते हुए द्वार सब तारे तुम्हें,
 अन्ध-बिम्ब तटस्थ किरण खड़ी खाल रहा द्वार ॥

इन पंक्तियों की भाषा अन्ध-प्राण की योजना से असाधारण बन गई है। प्रकृति धीरे मानव-जीवन का धार्यात्मिक रूप तथा शोच्य की शक्ति धार्यावादी षण की कविता की बिरबटा है। उस समय में शारी-भावना का विकास भी उद्यमति से हुआ और शारी के अन्ध-प्राण रूप में अन्ध परिवर्तन हो गया। कवियों में जलमें प्रति हृदय की अन्तर एहानुभूति (धर की ओर शारीय को पुनर्पत्त से भी अन्ध अन्ध प्रदान किया। इसके

साथ ही इस युग के काव्य पर उत्कृष्टतम राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जाता है। प्राचीन और नई व्यक्ति तथा रहस्यात्मक दार्शनिकता इसी स्वातंत्र्य और सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है।

प्रगीत रीती का विकास भी छायावादी युग की एक प्रमुख विशेषता है। पारमार्थिक व्यक्तित्व का माध्यम प्रगीत काव्य ही होता है। छायावादो कवियों ने युग की सांस्कृतिक भाव-व्यक्तता इसी माध्यम से की है। कवियों ने सामूहिक चेतना के प्रभाव में व्यक्तिगत साधना का आधार सिद्धा और यही साधना प्रगीतारम्भक काव्य के रूप में व्यक्त है।

छायावादी काव्य की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिनसे वह अन्य काव्य-धाराओं से स्पष्ट रूप से पृथक् दिखाई देता है। प्रकृति प्रतीक अज्ञात और अज्ञेय सत्ता के प्रति निष्ठा एवं धारम-समर्पण की भावना नारी के प्रति एक सच्चा नवीन दृष्टिकोण प्रादि जतनी एसी ही विशेषताएँ हैं। इस काव्य के अनेक स्वरों में हमें प्रकृति परोक्ष सत्ता और नारी के विश्व एवं आचरण में अत्यधिक समानता दिखाई देती है। सम्भवतः यही देखकर छायावादी युग के धारम में कुछ लोग इस काव्य को विनास-प्रधान मानते रहे जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत थी। इतना धरम है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का प्राब नारी-रूप में प्रदर्शन किया और उसके सौम्य आचरण प्रेम में घटने को उन्मत्त एवं निमग्न किया। इस प्रकार उन्होंने इस काव्य में अज्ञात जीवन-ब्रह्म को सौंदर्य सृष्टि और प्रेम से पूर्ण व्यक्त किया।

इसके प्रतिरिक्त नारी के नवीन स्वरूप की अवधारणा अज्ञात सत्ता के प्रति धारम-समर्पण की भावना एवं नवीन रीती का प्रयोग इस काव्य-धारा की अन्य विशेषताएँ हैं। इनमें से वैयक्तिकता और नारी के नवीन रूप से संबंधित अवाहरम पहले दिव्य या बुद्धि हैं। अज्ञात सत्ता के प्रति समर्पण की भावना प्रसाव ५५ एवं महादेवी बर्मा की अनेक रचनाओं में देली जा सकती है। अवाहरण्य महादेवी बर्मा को निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

धीन भी हैं मैं सुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नीद भी मेरी अचल निस्पन्द कस्य-कस्य में,
प्रथम सागृति यी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मरा पता पद-पिह खीचन में,
शाप हूँ जो बन गया अरदान अम्भन में,
कूल भी हूँ, कूलदान प्रवाहिनी भी हूँ।

छायावादी काव्य में निहित आध्यात्मिकता धर्म पर नारी अर्थात् मानवों और अज्ञेय सत्ता पर स्थित है। छायावाद का अन्ततम धर्म मूलक नारी पर अज्ञेय-मूलक

है। इस श्लोक के प्रकाश में समुप्राप्त होकर ही सहीम प्रम प्रथम होकर समुच्च बनन धीर जड समत् एक व्याप्य ही जाता है। यही प्रकृति का प्रकाश-व्यापार है, जिसे हम छायावादी काव्य में स्वान-स्वान पर देखते हैं।

उसके पश्चात् एक नवीन काव्य-शैली मानने पायो जो छायावादी शैली से निम्न है। इन दोनों प्रकार की शैलियों से पूरा बचितायों का प्रस्तर जानन के लिए पद्य धीर बचन की काव्य भाषा देना का सच हो है। पद्य को भी भाषा में जो प्रसाधारणता धीर साहित्यिकता है उसका बचन को भाषा में प्रभाव है। काव्यगतक पदावली का बचन करने में पद्य की लोक-प्रकृतित भाषा से बहुत दूर जाने लगे हैं जब कि बचन की भाषा पर लोक-व्यवहार का पूरा प्रभाव है। यदि हम यही कहें कि हिन्दी के काव्य-रचना में बचन की रू प्रवेश में एक नवीन काव्य शैली का सूत्रपात हुआ तो हमारा यह चमत्काम न होगा। लोक-प्रकृतित, सुसम धीर व्यावहारिक भाषा का प्रयोग इस शैली को एक विशेषता थी। कुछ समय पूरा निरासारी में भी इनो प्रकार की भाषा का प्रयोग प्रथमी कुछ रचनाओं में किया था जैसा कि हम इनकी निम्नलिखित वाक्यों में देखते हैं—

रोक टोक से कभी नहीं ठकती है—
 बौवन-मद की पाइ नदी की
 किस हल मुकती है ?
 मुना उससे रोकन कमी कुञ्जर आया था,
 फल क्या पाया या ?
 तिनका जैसा मारा-मारा
 फिरा तरंगों में चकारा
 गर्भ गँवाया, द्वारा—
 यदि भ्रमपरा आओगे,
 दुर्वरा कराओगे
 वह साओगे।

निरासारी की यह भाषा इनको बहुत कम रचनाओं में देती जाती है जब कि बचन जो को परिचित रचनाओं में हमें भाषा का यही रू मिलता है। यह रंगते हुए इन बचन की को निरासारी का विशेष नवीन काव्य रसी के अधिक निरुद्ध बहु सचते हैं। जब हम बचन शैली को कुछ से बचन की हास प्रकृति इन नवीन काव्य-भाषा को देखते हैं तो हमें इन काव्य-भाषा में विचरक धीर बलुमता की प्रकृति भी छायावादी काव्य की विशेष साहित्यिक दिशा देती है। यह काव्य है इन नवीन काव्य-भाषा की एक प्रकृति है जिस हल एक सीमा तक चकारवादी प्रकृति बहु सचते हैं।

छायावादी काव्य का द्वितीय पक्ष बहु है जिसमें हम मानवता का उच्च मंदिर पाते हैं। प्रणव जी 'कामायनी' और निरामा जी के 'मुलसोदाम' में यह मंदिर हाट स्वर्गों में मुलावी देता है। छायावादी काव्य के घटक स्पष्ट ऐसे हैं जहाँ हम मानव-गमातता विरह बंधुत्व धर्माग्रगणिकता कनक राश्ट्रीय आधुनिक धारि को भावनाएँ प्रकृति के माध्यम से देखते हैं। इसका कारण छायावादी काव्य पर विरहकवि रजोमू का प्रभाव है। ऐसा जान पड़ता है कि प्राये जलकर छायावाद का इन्ही भावनाशा का विकास राष्ट्रीय धार्मिकता के परिणाम-स्वरूप प्रगतिवाद की दिशा में हुआ और वन जी की 'मुपवादी' के साथ अचिंतित छायावादी कवि जन काव्य की रचना में प्रवृत्त निरानी दिव्ये।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है छायावादी काव्य में वैयक्तिकता अज्ञान के प्रति साक्ष्य एवं अतीतरी मोक्षयनिष्ठा की प्रधानता रही है। वैयक्तिकता के अन्वेषित विकास की स्थिति में छायावादी कवि धार्मिक अनुभूति का धार प्रवृत्त हुए। उनका इसा प्रकृति न हिन्दी के रहस्यवादी काव्य का जन्म दिया। धारकम न ऐसा जान पड़ता लगा कि राति-कालीन शृंगार ही छायावाद का नाम पर नय क-परिधान में पुन अन्वेषित हा रहा है पर इसमें यह नहीं कि छायावादी युग में साक्षात्क वैयक्तिक मुद्रम पर वैयक्तिक भावनिष्ठा का विकास तथा भावा की वाग्विदग्धता का जा विकास हुआ और काव्य-भावा का जो परिष्कार हुआ वह वास्तव ही प्रगतिशील था। इस युग में प्रेम के लौकिक और धार्मिक दोनों रूपों का विचार अन्वेषण हुआ। छायावाद प्रेम के धार्मिक स्वरूप की अन्वेषण में रहस्यवाद की सीमा के अन्तर्गत ही बना रहा पर उसके लौकिक पक्ष में भावना का रूप प्रकृत किया। छायावादी काव्य में धर्मनिष्ठा प्रेम में धार्मिक स्वरूप का विकास धार जलकर रहस्यवाद में हुआ और उसके लौकिक भावनामय निष्कर्ष न 'मानसवाद' को जन्म दिया। कथन जी के हान-ध्याना और मधुरता के पक्ष में 'मानसवाद' को धार प्रवृत्त हान निराली दिव्य कर इनके परबन्धु हो उन्होंने धार्मिक स्वरूप प्रकृत किया और कवि कथन का 'हानावाद' "रहस्यवाद का ही एक हीय रूप मया। एक भाव अन्वेषण" जी धर्मनिष्ठा के अन्त में रह गया पर उनकी रूपों की रूप-परिष्कार धार्मिक दिनों तक अन्वेषित प्रकृत न कर सकी और—इन्हें या रहस्यवाद का शरण लने की विवत्त होता पड़ा।

— ८

बाबू जयशंकर प्रसाद मूलकाल विदाही निरामा 'मुनिवादी' वन और महादेवी वर्मा ने इन दोनों काव्यधाराओं का विवेक रूप से प्रतिनिधि किया।

हिन्दी में यह रहस्यवादी काव्यधारा चार रूपों में अन्वेषित है—१ जिज्ञाना मूलक २ शीघ्रमूलक, ३ विरहानुभूति-मूलक और ४ आदात्म्यमूलक।

शौर्य की घोर धार्मिक भुक्तान प्रायाणाद युग के काम्य की एक विशेषता रही है। प्रमुत्तर मयातक घोर निस्मयकारक चिन्तन नये युग के काम्य की विशेषता है। इसे भी हम यथार्थवादी कल्पन ही कह सकते हैं। जीवन के दैनिक घोर पोषण पहलू को लेकर नई कविता विकास कर रही है। जिसे प्रयोगवादी काम्य कहा जाता है। उसमें हल्की ध्वंगालम्बिता उपहास की प्रकृति उत्पन्न घोर सामिक नस्तुचिन्तन तथा ध्वंग-रहित घोर लयबद्धि महात्मक प्राया-योजना की विशेषताएँ हैं। 'ठार छप्पक' प्रयोगवादी कविओं की रचनाओं का प्रथम संकलन है। इसमें ये एक विशेषताएँ बतमात हैं। स्वभावतः इन प्रयोगों में ज्ञान-योजना के स्थापन पर शैली सम्बन्धी विमर्शनात्मक धार्मिक विचारों देती हैं। यद्यपि इन नवीन काम्य शैली का कोई प्रथम धनी का प्रतिनिधि कवि प्रथम तक सामने नहीं आया तथापि हिन्दी-कविता में एक नवीन सामाजिक घोर नस्तुमुन्नी चेतना का प्रवेश ध्वंगरय हो गया है।

नई कविता का प्रयोगवादी रूप

सन् १९१९ में हिन्दी-काम्य-साहित्य का प्रायाणादी युग समाप्त हुआ घोर उस समय की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति ने प्रयतिवादी-युग का सूत्रपात किया। यह ऐसा काम का जिनमें एक घोर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राण करने के लिए दैत-ध्यायी संघर्ष चल रहा था घोर दूसरी घोर शैली तथा प्रयाणाद से सब-नामाय्य जनता में धर्मशौर्य उत्पन्न रहा था। परिणाम-स्वरूप पूर्वोपनिषदों घोर मजबूतों में संघर्ष विकसित हुआ जा रहा था। प्रयतिवादी कविओं ने शीघ्रता से पथ पहलू किया घोर जनकी रचनाओं में शीघ्रता से कविताएँ एवं ध्वंग नामाय्य जनता की कान्ठी मुद्रित होने लगे। इनमें बीबासी बिलिग हो उठे। ध्वंग बाह के 'नेत' पर प्रयतिवादी साहित्य पर ध्वंग का जेप लगाये गये किन्तु इनमें प्रयतिवादी साहित्य की प्रयति न रही। प्रयतिवादी साहित्य में धर्मियों में जो चेतना या नई की उसका ध्वंग न हो सका। इसी जन्म हुआ किन्तु इनमें से कोई भी बाह ध्वंगे उद्देश्य में लक्ष्य न ही मका। इसी समय किन्हीं के कविताएँ का प्रयतिवाद की घोर में ध्वंग इटाने के लिए एक नवी काम्य धारा गानने आई। यही काम्यवाद द्वितीय-काम्य-साहित्य में "प्रयोगवादी काम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह काम्य-नदति एक यूरोपीय काम्य-नदति का अनुकरण मात्र है। यूरोप में इन काम्यवाद का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के परभावों से ही नहीं था। यहाँ से पूर्वोपनिषद की मत्ता नमान ही रही थी घोर कम की कारणादी की समाप्ति हो रही थी घोर कम की कारणादी की समाप्ति के परभावों से ही नहीं था।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के परभावों जन्म युद्ध की शासन-व्यवस्था किन्तु इन ही नहीं थी। यहाँ से पूर्वोपनिषद की मत्ता नमान ही रही थी घोर कम की कारणादी की समाप्ति हो रही थी घोर कम की कारणादी की समाप्ति के परभावों से ही नहीं था।

वहाँ का सबहाय बर्ष जो इति कर रहा था उसका प्रभाव सबभ्यापक बन रहा था । ईबसेठ फ्रांस जर्मनी आदि देशों पर इस इति के परिणाम-स्वरूप साम्यवाद का प्रभाव बढ़ता था रहा था यत वहाँ के पूँजीवादियों ने कुछ साहित्यकारों को लीटरलर लक द्वारा एक ऐसी काव्यशास्त्र का आविर्भाव करवा जो प्रगतिवादी यथवा साम्य-वादी विचारधारा की विशेषता थी । इस काव्यशास्त्र का जन्म नये प्रयोग और नये टेक्निक को लेकर हुआ था । इसमें मानव-जीवन की समस्याओं का कोई स्थान न था । टी० एस० इमिस्ट इसी काव्य-शास्त्र के जन्म से । प्रसिद्ध फ्रांस आलोचक प्राई० ए० रिबल न ने इस काव्यशास्त्र के विरुद्ध में पर्याप्त सहमता की । उन्होंने काव्य के भावी स्वरूप की भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि भविष्य में काव्य का स्वरूप क्रमशः अधिक उपलिप्त होता जायेगा और बहुत कम लोग उससे सामान्य हो सकेंगे । यह बहुत कम था जब हिन्दी काव्य-साहित्य में साम्यवाद का विकास हो रहा था । द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत को सामाजिक और राजनीतिक स्थिति भी यूरोप को प्रथम विश्व-युद्धांतर कास-सी ही गई थी । यहाँ के पूँजीपतियों ने जो यूरोपीय पूँजीपतियों के द्वारा गृहीत साधन अपनाये और पूँजीवाद को रक्षा का प्रयत्न प्रयत्न किया । प्रयोगवादी काव्य धारा एक बहुत बड़ी सीमा तक इसी प्रयत्न का परिणाम है ।

नई कविता का अंतिम विकास हमारे सामने प्रयोगवाद के रूप में आया । ऐसा कि पूरा कहा जा सकता है 'तार लपक इन विकासधारा को प्रथम और प्रमुख कृति है । इसी भूमिका कविता में श्री अज्ञेयजी ने कहा है—'उसके दो एकर होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं किसी मंडल पर पढ़ने हुए नहीं हैं सभी राही हैं—राही नहीं राहों के अन्वेषी । काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टि-कोण उन्हें समानता के मूल में बाँटा है । वे प्रयोगवादी कवियों की प्रकृति का परिचय देते हुए कहते हैं—'उनमें मूर्खता नहीं है सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी राय चलन-चलन है—जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य-वस्तु और शैली के लक्ष्य और लक्ष्य के कवि के आविर्भावों के—प्रत्येक विषय में उनका ध्यान में मगभेद है । यहाँ तक कि हमारे जगत के एक सर्वमान्य और सर्वप्रसिद्ध मौखिक सरवा को भी वे स्वीकार नहीं करते जैसे लोकसभ की आवश्यकता उद्योगों का समाजीकरण वार्षिक युद्ध की उपयोगिता जनस्वयं की लोचनी यथवा कानन बासा और सहस्रम क मार्गों की उत्कृष्टता इत्यादि । वे सब एक-दूसरे की रचियों-कृतियों और धाराओं-विशवासा पर एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और दुष्टों पर भी हँसते हैं ।

अज्ञेयजी के उपलब्ध रस्यों से यह स्पष्ट है कि अपने को प्रयोगवादी कहनवाने कवि प्रत्येक दृष्टि से स्वतंत्र हैं । वे काव्यशास्त्र यथवा किसी प्रकार का सामाजिक ध्येय या

उत्तरदायि न स्वीकार नहीं करते। उन्हें अपने पक्ष का ज्ञान भी नहीं है वे माग-सम्बन्धी मान हैं। उनकी विचारधारा अन्त-म्यस्त और संवेदना उलझते हुई है। उनकी इस स्थिति से उन्हें काव्य की वास्तविक भूमि पर कभी पहुँचने नहीं दिया उनका अपना बुद्धिकोष है और सबका धर्म्य धर्म्य बुद्धिकोष है। यह देखते हुए प्रयोगवादी काव्य की परिभाषा इस प्रकार होगी—'उलझते हुई संवेदना की अस्पष्टता के लिए सबका धर्म्य धर्म्य में जाने की स्वाभाविक प्रयासना सीधी-तिरछी लकीरों सीधे-उलझे धर्म्य धर्म्य का उपयोग करते हुए कमा किमी विषय पर सहमत न होनेवाले धर्म्य धर्म्य की रचना प्रयोगवादी कहता है।

कमी-कमी प्रयोगवादी प्रकृत काव्य के विषय और बर्णनों में भी लक्ष्मीता का संसार करती देखी जाती है। उदाहरणार्थ प्रायः के कवि और संस्कृत मनीषिज्ञान जीव-विज्ञान समाज विज्ञान तथा धर्म्य विषय की पुस्तकें पढ़कर उद्यमे पाये जानेवाले लक्ष्मीता का उपयोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में करते हैं। इसके अतिरिक्त-विषय धर्म्य म बुद्ध स्पष्टता मने ही धर्म्य धर्म्य पर विभी भी धर्म्य म बहु प्रयोगों का शान्ति काव्य विदुः साहित्य-सूत्रन का रचना प्रहस नहीं कर सकना। काव्य म अत्र प्रयोगों के अत्र म पुस्तक है। कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी होता है और उसे काव्य-परम्परा एवं वाक्यात्मक अतिरिक्त के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है। इस प्रयोगवादी कवियों का धर्म्य सामाजिक सहयोग क कर्म एक सर्वधिक उपाय बुद्धि का प्रयत्न समाज के लिए कविता है। परिभाषा है।

धर्म्य म ठार-अन्तक की भूमिका में प्रयोगवादी काव्य और कविता के सम्बन्ध में पूर्ण स्पष्टिकरण दिया है उनमें हम निम्न निम्न धर्म्य धर्म्य पर पहुँचते हैं —

१ प्रयोगवादी रचनाएँ पुरी तरह काव्य की सीमा में नहीं आती। वे अतिरिक्त बुद्धिकार से रहती हैं।

२ प्रयोगवादी रचनाएँ वैदिक-धर्म्य हैं।

३ प्रयोगवादी रचनाएँ वैदिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायि न की कुरा नहीं करती।

इन निष्कर्षों के अनुसार प्रयोगवादी काव्य का कोई निश्चय सत्य प्रथम सामाजिक उपयोगिता नहीं जान करे। कबल इनका ही कुरा जा सकता है कि युग और समाज की स्थिति एवं प्रकृति म इन काव्य-धर्म्य धर्म्य की जान दिया है।

इस प्रयोगवादी कवियों की जो कविताएँ देखते या रहे हैं उनमें यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों का काव्य वैदिक नहीं उनमें प्रयोगवादी धर्म्य धर्म्य की अतिरिक्त लौकिक धर्म्य धर्म्य का धर्म्य काव्य म प्रभाव रचना ही है। अर्थात् इनमें माओ का

समुचित व्यक्तिपरक भल हो न हा सके । इनके इस प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि उनका काव्य का भावपूर्ण निबन्ध दिखाने में कोई क्लम नहीं होता और उनको सबचना प्रत्यक्ष एक उलझी हुई परिलक्षित हाती है । सम्भवतः यही कारण थाभाव सम्बन्धित बाजपेयो न सिद्धा है— प्रयोगवादी साहित्यिक साधारणतः उच्च शक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्लम बचाना या कोई सुविधित व्यक्तिपरक न हा । थाभाव बाजपेयो ने प्रयोगवादी काव्य की उपलक्षित पर प्रकाश डालते हुए पागे कहा है— किसी भी प्रवस्था में यह प्रयोगों का तात्त्विक साहित्य-मूल्य का स्वागत नहा से सकता । प्रयोग और काव्यमूल्य के मेलन या मूल्य में जो मौलिक धर्मन है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । विचारकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की बुनियाद से बहुत दूर है । यदि सबसे पहल धरणी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है । वह उनके सामं जिनका नही कर सकता । उनका दूरता उच्च काव्यिक काव्य-परम्परा और काव्यमूल्य प्रतिव्यक्ति के पनि है । वह किसी भी प्रवस्था में ऐसे प्रयोगों का पला नहीं पकड़ सकता जिसका उच्च काव्य के भावगत और भावमूल्य संस्कारों न तथा उन दोषों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नही है ।

प्रयोगवादी कवियों के मध्यक डॉक्टर रामबिनाम शर्मा ने भी दूरने शब्दों में इस काव्यमूल्य की से निबन्धित स्वीकार की है । उन्होंने लिखा है— 'प्रयोगवादी व्यवस्था में किञ्चित् किवा कुञ्चित् नहि में और जनसाधारण में भारी धन्तर होता है । यदि धरणी अनुभूतित प्रतिज्ञात नग में और अनुभूति होगा हुआ स्वयंता के नय धरणी तक सीमित प्रतीक इह साता है । वह समझता है कि उसका अनुभव और स्वयंता उच्च कोटि की है । डॉक्टर शर्मा के इस धरणी से प्रभव जो न इम काव्य के 'जनहितार्थ' ने का दावा निम्न हा जाता है ।

डॉक्टर नमेश ने प्रयोगवादी नई कविता के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी सर्वमग उपयुक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं । उन्होंने इस काव्य के निम्नलिखित दाव बलवाये हैं—

१. भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बोध साधारण के बजाय बुद्धिगत प्रभव ।
२. साधारण्यारण्य का रण्य ।
३. उपलक्षण मन के अनुभव धरणी के प्रभावत् विरल्य का धारण्य ।
४. काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकाग्र वैदिकिक और धरणीय प्रयोग ।

५. नूतनता का सबबाल्य धोह जो सदा परिचित को धोह अपरिचित की रोज में पहा है ।

उत्तरदायि क स्वीकार नहीं करते । उन्हें अपने पत्र का ज्ञान भी नहीं है वे पाण-सम्बन्धी मान हैं । उनकी विचारधारा अत्यन्त घोर संवेदना उत्पन्न हुई है । उनकी इस स्थिति से उन्हें काव्य की वास्तविक भूमि पर कभी पहुँचने नहीं दिया उनका अपना दृष्टिकोण है घोर संवेदना असंग-असत्य दृष्टिकोण है । यह हैलते हुए प्रयोगवादी के लिए अथवा अथेय शर्मा में इस प्रकार होगी—'उनको हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अथेय शर्मा में जाने की स्वाभाविक प्रत्यावृत्ति सीधी-तिरछी सचीनों सीधे-उल्टे पक्षों प्राप्ति का उपयोग करते हुए कमा कितनी विषय पर सहमत न होनेवास सम्बन्धियों की रचना प्रयोगवादी कविता है ।

कमी-नयो प्रयोगवादी प्रकृति काव्य के विषयों घोर कर्तव्यों में भी नवीनता का संसार करने देना चाहती है । उदाहरणार्थ धार के कवि घोर लक्षक यतोविज्ञान जीव-विज्ञान समाज विज्ञान तथा अन्य विषयों की पुस्तकें पढ़कर उद्यम में नये ज्ञानवासी गवाण त्यों का उपयोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में करते हैं । इसके अतिरिक्त-विषय प्रादि में कुछ स्पष्टता मने ही या जाने पर हिमी भी, अवरका से यह प्रयोगों का बहुमूल्य वास्तविक साहित्य-सूत्रन का स्वागत प्रश्न नहीं कर सकता । काव्य का जब प्रयोगों के क्षेत्र में पृथक है । कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी होता है और उसे काव्य-परम्परा एवं वाच्यार्थक अभिव्यक्ति के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है । इन प्रयोगवादी कविता का सत्य सामाजिक सहयोग क बनने एक सचिक उपेक्षा कृति का प्रवर्तन समाज के लिए कनिष्ठ का ही परिचायक है ।

अन्वय में तार-जलक की भूमिका में प्रयोगवादी काव्य घोर कविता के लक्षण में पूरा स्पष्टीकरण दिया है उसमें हम निम्न निम्न दो पर पहुँचते हैं —

१ प्रयोगवादी रचनाएँ बुरी तरह काव्य की सीमा में नहीं जाती । वे अनिश्चित बुद्धिवाद में प्रत्य हैं ।

२ प्रयोगवादी रचनाएँ वैज्ञानिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामा-

३ प्रयोगवादी रचनाएँ वैज्ञानिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामा-

जिक उद्योगवादी का बुरा नहीं करती ।
 इन निम्न दो के अन्तर्गत प्रयोगवादी काव्य का कौन निश्चित लक्षण अथवा सामाजिक उपयोगिता नहीं जान सकती । केवल इनका ही जग जा सकता है कि कुछ घोर गवाण की निश्चिन्ता एवं प्रकृतिवा न इन काव्य-धारा का भी जग दिया है ।
 इन प्रयोगवादी कविता की जा कविताएँ हैलते जा रहे हैं उनमें घट लपट है कि प्रयोगवादी कविता का लक्ष्य केवल नयी उपनाओं बनने प्रतीका प्रादि की लोच घोर नैक माना के शब्दा का अर्थ जान न प्रभाव करना ही है । यदि इनका माको का

समुचित व्यक्तित्व रख भ्रम ही न हो सके । इनके इस प्रयत्न का परिष्कार यह होता है कि उनका काव्य का भावपद निबल दियाई बना व्यक्तीकरण में कोई क्रम नहीं होता और उनको संबन्धना व्यवस्था एक उत्तमो दुर्ग परिमणित होनी है । सम्भवत यही शैलिकर व्याख्यान मन्त्रमुनि काव्येयी न लिखा है— प्रयोगवादी साहित्यिक से भाषात्मक उन व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्रम-ब्रह्म या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हा ।” व्याख्यान काव्येयी न प्रयोगवादी काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालन हुए पाये कहा है— “जिमी भी व्यवस्था में यह प्रयोगों का प्राकृतिक वास्तविक साहित्य-नृजन का स्वान नहीं ले सक्ता । प्रयोग और वास्तविक अभिव्यक्ति या लक्षण म जो मौलिक धर्म है उनकी उपेक्षा नहीं हो जा सक्ती । विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की बुनियाँ से बहुत दूर है । कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है । वह उनके साम निमन्त्रण नहीं कर सक्ता । उनका ध्यान उक्त वास्तविक वास्तव-परम्परा और वास्तविक परिमणित के प्रति है । वह जिमी भी व्यवस्था में ऐसे प्रयोगों का पन्ना नहीं पकड़ सक्ता जिसका उस काव्य के भावपद और भाषात्मक संरक्षकों में तथा उन भाषा के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबन्ध नहीं है ।”

प्रयोगवादी कवियों के समकक्ष डाक्टर रामविलास शर्मा न भी दूर शक्तों में इस वास्तविकता की ये निबलताई स्वीकार ही है । उन्होंने लिखा है— “पूर्वोक्त व्यवस्था में सिद्धि किवा बुद्धिगत कवि में और जनसाधारण में भारी अन्तर होता है । कवि अपने समुचित परिमणित बग में और समुचित होता हुआ व्यञ्जना के गये अपने तक सीमित प्रतीक रूप लाता है । वह समझता है कि उनका अनुभव और व्यञ्जना उच्च शक्ति की है । डाक्टर शर्मा के इस कथन से धर्म्य जो का इस काव्य के ‘अनभिज्ञान’ होने का दावा निपुण हो जाता है ।

डाक्टर लक्ष्मी ने प्रयोगवादी नई कविता के संबन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे भी अत्यन्त उपयुक्त निष्कर्षों की ही पुष्टि करते हैं । उन्होंने इस काव्य के निर्माणादि दोष बतलाये हैं—

- १ भाव-तत्त्व और वास्तविकता के बीच वास्तविक के ब्रह्म बुद्धिगत-अव्यक्त ।
- २ भाषात्मक-व्यकरण का शक्त ।
- ३ उपलब्ध मन के अनुभव शक्तों के पक्षानु-विषय का दाव ।
- ४ काव्य के उद्देश्यों एवं भाषा का एकाग्र वैयक्तिक और अनन्त प्रयोग ।
- ५ नृजन का लक्षणा शक्ति जो अत्यन्त परिमणित को छोड़ अपरिचित की शक्ति में रहता है ।

उपयुक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ प्रयोगवादी तथ्य कवि नये-नये को लेकर काव्य-रचना में दखतीया हुए धीर अपने साहित्यों की तरह राह खोजते रहे राह न पा सके । वे धारों भी राह खोज रहे हैं किन्तु उनके राह खोजने का इरादा भिन्न है । जब तक वे उन्हें भिन्नता खोजकर जनमानस पर नतना न सीझने तक एक जनता एक निश्चित माय पर पहुँचना सम्भव नहीं है । डा रागेमराभव । शान्ती केदार गोरेठ अग्रभूषण धारि ऐसे कवि हैं जो प्रयोगवाद में सफल दीकते हैं किन्तु सत्यको म उनका कोई स्वाग नहीं है । तारसप्तकों के कवियों में घयना वृत्तिकोष स्पष्ट करते हुए जो बातें नहीं हैं उनमें घयनी-मयनी ढकनी धीर भयना-घयना राग है । इस तरह दोनों तार सत्यक मानुमटी का कुनबा बन गये हैं ।

नई कविता—प्रयोगवादिनों की दृष्टि में

कुछ विद्वान् 'दूसरा तार सप्तक' के शब्द को कविताओं को ही नई कविता मानते हैं किन्तु प्रयोगवादी कविता के रूप में नई कविता की विकास मानने पर हम इसके विकास का धारम्भ (सन् १९५१) के छात्र मानना चाहिए । नई कविता का स्वरूप पहली बार डा अयवीठ गुप्त धीर रामस्वरूप अतुर्वरी के सम्पादकत्व में सन् १९५४ में प्रकाशित 'नई कविता' नामक संग्रहण में स्पष्ट वृत्तित होता है । इस संग्रहण में पहली बार यह वृत्तित होता है कि इस चारा बिरोंप के बरि घयने पूर्वकों कविनों में बिषयबस्तु धीर शान्ती की वृत्ति से समलता रखते हुए भी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर इनसे भिन्न है । दूसरे स्थानों में यह भी कहा जा सकता है कि नई कविता प्रयोगवाद के घास की कविता है धीर इन्हीं घय में दोनों की नाम-बदला भी पर्याप्त पावकम रखती है धीर घयना भिन्न धीर नवीन बिषयबस्तु की मूनि बर इन्हीं पार्थव्य की प्रठिठा करते हुए के उद्देश्य में इलाहाबाद की संस्था साहित्य सङ्घोव' ने 'नई कविता' का प्रकाशन सन् १९५४ में किया । घासोचना के कुछ घंकों में तथा प्रकाशित रचनाओं में इस स्थापना का प्राण बिदा गया कि वैयक्तिक धीर सामाजिक दोनों घयकों को र्बीकार करते हुए उन घं माना को भी र्बीकृति ही बाय जो वर्तमान मानना संवर उत्पन्न हो गई है । वह नय के दबाव धीर नाम 'वह हा न' बायना एक घन घय को संकर बन रही है । बहु नय के दबाव धीर नाम को संकरनटोतता का सुगर समन्वय एक न' घाव मूनि पर उपलिन कर रही है । इस तरह जो कविता घाव न' इग अज्ञे मानव की लघुना को घनि घंस्ति है जो बरमान के घमाच रिषयता धीर बिपाकठा का नाम पाव बरके भी जीवित है धीर र्मीनिए बहु घाव व्यक्तिघ्य को सुर्धित रहे हुए है ।

हम नई कविता में दूसर चार बातें देखते हैं । एक ही नई कविता का बिस्वाय धारभिनता में है । दुसरे बट इस धावुनिवता में बिस्वाय रतान के घाम ही अज्ञे की बदलाया धीर कृण्टामों को नहीं घनिनु खोजन की दयापता की हमी है । तीसरे

बहु जीवन के इस यथार्थ के परिवर्तन के लिए विवेक को अधिक व्यापकित मानती है। बोधे बहु समसामयिकता के दायित्व को भी स्वीकार करती है। धातुनिष्ठा की इस स्वीकृति के कारण उसकी बुद्धि मानवीय है और बहु धनुमुक्तियों को प्रति देती है संजीवन देती है। यही कारण है कि उसमें ध्यावावादी पसायनवादिता और प्रागतिवादी साम्प्रदायिकता दोनों का निताम्य प्रभाव है। ध्यावावादी कविता की प्रति पसायनवादी न होने के कारण बहु इस युग की और धातु के मानव की भावनाओं को प्रभाव रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है और प्रकृतिवादी साम्प्रदायिकता से हीन होने के कारण ही बहु यथार्थ की यथार्थता को पहचान पाई है। बहु धातु के मानव में ध्यावा रक्षता है और इसलिए बहु धनुमुक्ति की विविधता और अभिव्यक्ति धनवानेक माध्यमों के प्रति अत्यधिक संशयता को धारण नहीं लमझती बहु जीवन की यथार्थता और अन्त-अन्त के मुक्त जीवन के दायित्व के प्रति ध्यातु लेकर चलती है।

प्रकृतियों के प्रचार पर धातु की नई कविता को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला वह उन कवियों का है जिनमें यथार्थवादी धातुवादी की प्रकृति बोल पाती है। इस वर्ग के कवियों में प्रजेय मुक्तिजीव सर्वरवरव्याप्त सत्केता धारि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कवियों का यह रूप यथार्थ को स्वीकार ही करता है किन्तु धरने अस्तित्व को उसी यथार्थ का ही एक धर्मिक रूप मानकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। दूसरे वर्ग के कवि धामानुभूति को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति करते हैं। इस वर्ग के कवियों में माचवे विशेष उल्लेखनीय हैं। कवियों का तीसरा वर्ग अपने अर्थव्यक्तक बुद्धिजीव के कारण विहाय महत्व रखता है, बहु जीवन की विविधताओं के प्रति अर्थव्यक्तक बुद्धिजीव रखता है और उनकी अर्थव्यक्तक अभिव्यक्ति रखता है। इस कवियों में भवानीप्रसाद मिश्र निजयदेवनारायण साहू और लक्ष्मीकांत वर्मा उल्लेखनीय हैं। चौथा वर्ग उन कवियों का है जो उस और रोमांच से सम्बन्धित धातुनिष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ग के कवियों में डा० बमबीर भारती और निरंजनपुर माधुर के नाम लिए जा सकते हैं। पाँचवें के कवि विचमयता और अर्थव्यक्ति रचना पर विरत व्यक्त देते हैं और यथार्थ की विम्बों के माध्यम से स्वीकार करते हैं। ऐसे कवियों में डा० बमबीर भारती और लक्ष्मीकांत साहू और लक्ष्मीकांत साहू उल्लेखनीय हैं।

नई कविता का रचयिता उन सोन्दर के प्रति भी उदासीन है, जो अर्थव्यक्ति और जो मानव-बुद्धि को युगों से कुम्भित और धर्म बनाए हुए है। इस बुद्धिजीव कविता का सोन्दर-बोध बुद्धिवादी से धारणात्मक प्रभावित है। बुद्धिवादी के अर्थव्यक्ति ही बहु सोन्दर के धोमयत्व में विरहान करता है और उसके अर्थव्यक्ति

धर्मीकार करने पर और देता है। नई कविता की इन्हीं नवीनताओं से कुछ पाठोपकारों को बौकानेवासी मपटी है, तो कुछ को रससूय ।

नई कविता के विरोधियों का प्राचप है कि यह वैयक्तिक और एकपि है, परम्परागत साहित्यिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने में ही नवीनता और केवल ब्याक्ति को ही मायवा देती है किन्तु विभोदिन विकसित होती और नये भाव-बोधों में मुक्तित होती हुई नई कविता सिद्ध कर रही है कि ये प्राचप यथाय से कितनी गुर है । नई कविता की विकास-रेखा से मठ स्पष्ट है कि यह निद्रूपताओं कटुताओं विपमताओं और कुय को विपाठकता से प्रस्त और बजर मानव की सचुत से पुटी तरह परिचित है और इसीसिए उलकी वास्तविकता को धर्मब्यक्ति देने में सञ्च है, प्रम्यवा धनेकानक कटु धालीचनार्थों को मिटाती हुई यह इतना इत विकार नहीं कर पाती ।

